न्यायदर्शन में अनुमान

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

न्यायदर्शन में अनुमान

डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र
रीडर
दर्शन एवं धर्म विभाग।
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
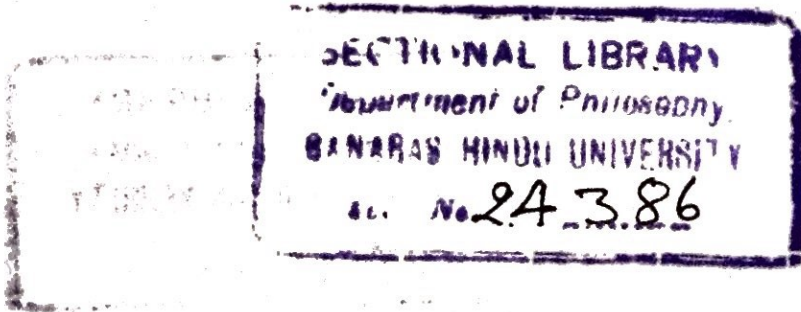
भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी
(भारत)
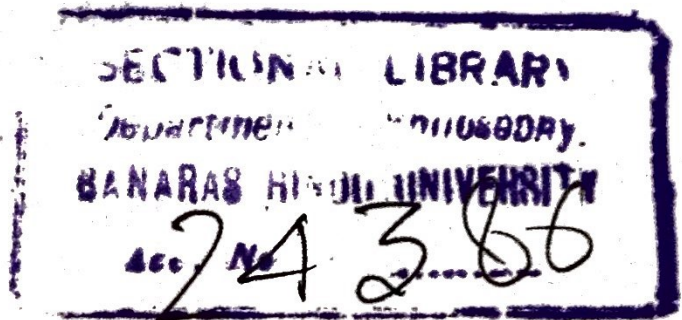
श्रद्धेय गुरुवर

प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठी जी को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

दर्शनसम्प्रदाय में अनुमान का महत्त्व सर्वविदित है । भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर कोई भी दर्शन अनुमान के प्रामाण्य का निराकरण करने में अपने को सक्षम नहीं पाता है । चार्वाक भी कुछ अंशों में अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार ही करते हैं । जयन्त भट्ट ने चार्वाकों के एक सम्प्रदाय की सुशिक्षिततर नाम से चर्चा करते हुए कहा है कि वे ऐसे अनुमानों का प्रामाण्य निराकृत नहीं करते हैं जो कि प्रत्यक्षोत्पन्नप्रतीतिक हों । ऐसे अनुमानों का प्रामाण्य ही निराकृत करते हैं जो कि प्रत्यक्षोत्पन्नप्रतीतिक नहीं हैं। तो भारतीय दर्शनों में अनुमान का महत्त्व प्रश्नों से परे है । परन्तु न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय ने अनुमान को जो स्थान दिया है , कोई और दर्शन अनुमान को वह स्थान नहीं दे पाया है । व्यवहार में हम कहते हैं कि *प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्* प्रत्यक्ष में किस प्रमाण की आवश्यकता है ? परन्तु नैयायिक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी अनुमान पर निर्भर मानता है। गङ्गेशोपाध्याय ने अनुमान का प्रामाण्य व्यवस्थापित करने के क्रम में कहा है कि *अनुमानाप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याप्यप्रामाण्यात्* अनुमान का प्रामाण्य न होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी सम्भव नहीं हो पायेगा । यह बात अजीब सी लग सकती है , परन्तु नैयायिक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य को अनुमान पर निर्भर मानते हैं । परन्तु अनुमान का प्रामाण्य उस तरह से प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं है । यद्यपि यह वक्तव्य अनेक सारे सवालों को जन्म देता है । सबसे अहम सवाल यह है कि इस तरह से तो प्रत्यक्ष स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं हो सकेगा । आख़िर जब वह अपने प्रामाण्य के लिए अनुमान पर निर्भर है तो वह स्वतन्त्र प्रमाण किस तरह से हो सकेगा ? नैयायिक का इस पर समाधान यही होगा कि चूँकि प्रत्यक्ष अपने विषय का ज्ञान कराने के लिए किसी अन्य प्रमाण पर आश्रित नहीं है इस कारण उसकी स्वतन्त्र प्रमाणता खण्डित नहीं होती है । यद्यपि अपने प्रामाण्य के सत्यापन के लिए उसको अनुमान के साहाय्य की अपेक्षा होती ही है । अनुमान भी व्याप्तिग्रहणादि के लिए आख़िर प्रत्यक्ष पर आश्रित होता ही है । यही कारण है कि इस अनुमानप्रधान न्यायदर्शन को अन्वीक्षा नाम से कहा गया है ।

अनुमानप्रधान न्यायदर्शनाभिमत अनुमान का समुचित और प्रामाणिक विवेचन करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है । यद्यपि न्यायवैशेषिक परम्परा के प्रारम्भिक ग्रन्थों में

भी अनुमान का विवेचन किया गया है और उस विवेचन से अध्येता लाभान्वित भी होते हैं । परन्तु पहली बात तो यह है कि **तर्कसङ्ग्रह** आदि प्रारम्भिक ग्रन्थों में अनुमान का विवेचन अत्यन्त सङ्क्षिप्त है और **जागदीशी, गादाधरी** आदि ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है । तो **तर्कसङ्ग्रह** आदि प्रारम्भिक ग्रन्थों से जो जानकारी मिलती है । वह अनेक विषयों में सङ्क्षिप्त होती है । इसका कारण यह है कि उक्त ग्रन्थों के लेखकों का मन्तव्य यह था कि इन ग्रन्थों को पढ़नेवाला आगे चलकर उक्त **तत्त्वचिन्तामणि ,जागदीशी , गादाधरी** आदि ग्रन्थों को भी पढ़ेगा । परन्तु आज इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन उतना प्रचलित और सरल नहीं रह गया है । इन ग्रन्थों का सम्पूर्ण अध्ययन तो न्यायपरम्परा के सुप्रसिद्ध विद्वान भी नही करते हैं क्योंकि अपनी विस्तृत व्याख्याओं और विवरणों के कारण ये एक ग्रन्थ नहीं रह गये हैं अपितु इन्होंने अनेक ग्रन्थों का स्वरूप धारण कर लिया है ।

न्यायसम्प्रदाय का विकास जिस तरह से हुआ है , उसमें नये-नये विचारों का उदय समय-समय पर होता रहा है । इतिहास गवाह है कि नव्यन्याय का इतिहास ही वैचारिक विकास का इतिहास रहा है । उदयन के बाद से नव्यन्याय के विकास की जो धारा प्रारम्भ हुई , उसमें पुराने और अपरिष्कृत निष्कर्षो के लिए कोई स्थान नहीं था । परन्तु हम आज भी उन्हीं प्राचीन निष्कर्षों और सिद्धान्तों का पठन-पाठन करते रहे हैं । उदाहरण के रूप में हम देखें तो केशव मिश्र की **तर्कभाषा** अनेक विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में निर्धारित है और पढ़ायी जाती है । परन्तु केशव मिश्र का काल बारहवीं शताब्दी रहा है। उसके बाद से बहुत सारे सिद्धान्त नवीन रूप में हमारे सामने आ चुके हैं । केशव मिश्र के अनेक सिद्धान्तों को गङ्गेशोपाध्याय ने ही खण्डित कर दिया है और गङ्गेश के भी अनेक सिद्धान्तों को परवर्ती नैयायिकों रघुनाथ शिरोमणि और जगदीश या गदाधर ने खण्डित कर दिया है। हम अभी भी उन अनेक सिद्धान्तों को ही न्यायपरम्परा का सर्वमान्य सिद्धान्त माने बैठे हैं । अभी भी हम वही पढ़-पढ़ा रहे हैं जो ख़ारिज कर दिया गया है । अन्नम्भट्ट और विश्वनाथपञ्चानन के बाद से भी बहुत सा पानी बह चुका है । बहुत सारे सिद्धान्त परिष्कृत किया जा चुके हैं । मैं इन विद्वानों की आलोचना नहीं कर रहा हूँ । हमारी कोशिश सिर्फ़ यह है कि हम न्यायपरम्परा के अनुसार आज तक के निष्कर्षों के अध्ययन से परिष्कृत सिद्धान्तों को सामने ला सकें। मैं यह नहीं कहता हूँ कि मैंने इसमें अनुमानसम्बन्धी सारे ही सिद्धान्तों को सुपरिष्कृत तरीके से सामने ला पाया हूँ। परन्तु यह अवश्य कहता हूँ कि मैंने यह कोशिश अवश्य की है । अनुमानसम्बन्धी सारे

ही सिद्धान्तों को सुपरिष्कृत तरीके से सामने ला पाने के लिए यह पुस्तक बहुत छोटी है । जैसे समुद्र का समग्र जल एक छोटे से दोने में नहीं आ सकता है । उसी तरह से अनुमानप्रधान नव्यन्याय के समस्त विषयों के निष्कृष्ट रूप इस छोटी सी पुस्तक में समाहित करना असम्भव ही है । हाँ , अगर मैं विद्वानों का ध्यान इधर आकृष्ट कर सका तो अपने श्रम को सफल समझूँगा । इस ग्रन्थ को हिन्दी में लिखने का उद्देश्य यह भी है कि शायद इससे हिन्दी समझनेवालों को न्यायसम्प्रदाय की अनुमानविषयक अवधारणा को समझने में ज़्यादा मदद मिलेगी । आज हिन्दी विश्व में बोलनेवालों की सङ्ख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है । तो हिन्दी में लिखने से सम्भवतः ज्यादा लोगों से साक्षात् संवाद हो सकेगा।

प्रथमतः अपने आराध्य साम्बसदाशिव , पूज्य पिता श्री रमाकान्त मिश्र, माता श्रीमती अनारा देवी , पितामह पं.श्रीकुञ्जविहारी मिश्र और पितृकल्प पितृव्य डॉ.अम्बरीष मिश्र को चरणस्पर्शपूर्वक नमन कर रहा हूँ । प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में अपनी सक्षमता के मूल गुरुवर प्रो०वशिष्ठ त्रिपाठी जी का विशेष रूप से आभारी हूँ जिनका अहेतुक स्नेह, सहयोग और आशीर्वाद मुझे छात्रजीवन से ही मिलता रहा है । आदरणीय गुरुकल्प डॉ०किशोरनाथ झा जी का मैं विशेष आभारी हूँ जिनका प्रोत्साहन व दिशानिर्देश हमेशा ही हमें मिलता रहा है । प्रो०एस.आर.भट्टजी (दिल्ली विश्वविद्यालय) को भी आभार व्यक्त करना अत्यन्त आवश्यक है, जिनके अनेक सुझावों की वजह से अनेक विषयों पर कुछ नये तरीके से सोचने की दृष्टि मुझे प्राप्त हुई तथा उस दृष्टि ने अनेक स्थलों पर नये निष्कर्षों पर पहुँचने में मेरी मदद की ।

श्रद्धेय प्रो. विद्यानिवास मिश्र जी (सांसद,राज्यसभा)आदरणीय प्रो.वे.कुटुम्ब शास्त्री जी (कुलपति,राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान)प्रो.राधावल्लभ त्रिपाठी जी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डॉ. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर) प्रो.वी.एन.झाजी(संस्कृत प्रगत अध्ययनकेन्द्र,पुणे विश्वविद्यालय,पुणे) प्रो. उमेशचन्द्र दुबेजी (अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्विद्यालय, वाराणसी) डॉ. रामकिशोर शुक्लजी (भूतपूर्व प्राचार्य राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर) को धन्यवाद विज्ञापित करना कर्तव्य समझता हूँ , जो सर्वदा शास्त्रीय गतिविधियों के लिए उत्साहित करते रहते हैं । अपने स्नेही मित्रों डॉ.हरेराम त्रिपाठी (लालबहादुर राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,दिल्ली) डॉ.अम्बिकादत्त शर्मा (डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,सागर)डॉ.ललितकुमार त्रिपाठी(राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान दिल्ली) डॉ.अच्युतानन्द दाश (डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय,सागर) डॉ.उदयनाथ

झा, डॉ.के.वी.सोमयाजुलु, श्री एस.वी.रमणमूर्ति को भी आभार व्यक्त कर रहा हूँ । प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक श्री किशोर चंद जैन व श्री राकेश जैन को भी मैं आभार व्यक्त कर रहा हूँ , जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में रुचि दिखायी तथा इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न किया । अन्त में अपनी पत्नी सुनन्दा को धन्यवाद देना अनिवार्य और अपना कर्तव्य समझता हूँ जिसकी सहायता और उत्साहवर्द्धन के विना मैं निश्चय ही इस कार्य को पूरा करने में सक्षम नहीं हो पाता।

वाराणसी

सच्चिदानन्द मिश्र

विषयसूची

***

१

अनुमान की अवधारणा

न्यायसम्प्रदाय में अनुमान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राप्त है । अगर यह कहा जाये कि समस्त प्रमाणों की अपेक्षा न्यायपरम्परा में अनुमान को सर्वातिशायो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है,तो यह अनुचित नहीं माना जायेगा । इसका उद्घोष सबसे पहले भाष्यकार वात्स्यायन ने किया । जब वे कहते हैं कि--"प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित अनुमान ही अन्वीक्षा है, प्रत्यक्ष और आगम से ईक्षित का पुनः ईक्षण ही अन्वीक्षा है,"[1] तो वे प्रकारान्तर से अनुमान का ही सर्वातिशायी महत्त्व बतला रहे होते हैं । नव्यन्याय के प्रवर्त्तक आचार्य के रूप नें विख्यात गङ्गेशोपाध्याय प्रमाणमीमांसा पर आधारित अपने महान् ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि में अनुमान के विवेचन में जितनी मेधा का उपयोग किया है और उस पर रघुनाथ शिरोमणि ,मथुरानाथ भट्टाचार्य , जगदीश तर्कालङ्कार, गदाधर भट्टाचार्य जैसे अद्भुत नैयायिकों ने जैसी सूक्ष्म विवेचना की है,वह अन्यत्र दुर्लभ है । महासागर जैसे अगाध और महाटवी की तरह विस्तीर्ण व दुर्धर्ष इन ग्रन्थों में विस्तार से उपवर्णित न्यायशास्त्रीय अनुमान के सिद्धान्तों को इस छोटे से ग्रन्थ में समेट पाना मुश्किल ही नहीं वरन् असम्भव भी है । तथापि सङ्क्षेप में सारसङ्ग्रह कर रहा हूँ । वैशेषिकपरम्परा में भी न्यायपरम्परा की तरह ही अनुमान का सिद्धान्त स्वीकारा गया है । कहीं-कहीं पर कुछेक मतभेद दिखलायी देते हैं , अगर उन मतभेदों को छोड़ दिया जाये तो न्यायवैशेषिक परम्परा की अनुमानविषयक अवधारणा को समझा जा सकता है । यह ध्यातव्य है कि न्याय और वैशेषिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को एकीकृत करके अनेक प्रकरणग्रन्थों की भी रचना की गयी है । इस कारण न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की अनुमानविषयक अवधारणा को एकीकृत करके ही समझना चाहिए ऐसी मेरी धारणा है ।

अनुमान का स्वरूप और लक्षण

सामान्यतया लक्षण और स्वरूप को एक ही मान लिया जाता है किन्तु स्वरूप अन्य होता है और लक्षण अन्य । पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह नैयायिक भी स्वरूप और लक्षण में भेद होना अनिवार्य मानते हैं । इसके लिए नैयायिक सर्वत्र सावधान रहते हैं । इसका कारण यह है कि स्वरूप का प्रयोजन अन्य होता है और लक्षण का

प्रयोजन अन्य "लक्षण इतरभेद का अनुमापक होता है और स्वरूप लक्षणग्रह कराने में उपयेगी होता है" [२]। उदाहरण के रूप में यदि पृथिवी का लक्षण करना हो तो जब तक स्वरूप का ग्रहण नहीं होगा तब तक पृथिवी का लक्षण कर पाना कथमपि सम्भव नहीं हो सकता है । इसी कारण से नैयायिकों का यह मानना है कि प्रथमतः स्वरूप का ज्ञान कराया जाये तदनन्तर उसका लक्षण किया जाये । इसे इस रूप में समझा जा सकता है-पृथिवी का लक्षण गन्धवत्त्व किया जाता है "*गन्धवत्त्वं पृथिव्याः लक्षणम्* "। तो गन्धवत्त्व पृथिवी के इतरभेद का अनुमापक हुआ करता है, गन्धवत्त्व को हेतु बनाकर पृथिवी के इतरभेद का अनुमान करते हैं । अनुमान का आकार इस प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है-*पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्* " पृथिवी स्वभिन्न से भिन्न है गन्धवाली होने के कारण । यह व्यतिरेकी अनुमान है । यहाँ पर स्वरूप होता है पृथिवीत्व और लक्षण होता है गन्धवत्त्व । पृथिवी लक्ष्य है क्योंकि पृथिवी का लक्षण किया जा रहा है, लक्ष्यता पृथिवी में और लक्ष्यता का अवच्छेदक पृथिवीत्व होता है । जब तक पृथिवीत्वेन रूपेण पृथिवी का ज्ञान नहीं होगा, तब तक पृथिवी का लक्षण गृहीत नहीं हो सकता है । इसलिए पृथिवी के लक्षण का ग्रहण होने के लिए प्रथमतः पृथिवी के स्वरूप का परिज्ञान अनिवार्य हो जाता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी के लक्षण का परिज्ञान होने के लिए उसका स्वरूप प्रथमतः जान लेना उपयोगी होता है[3] । इस विषय पर शास्त्रों मे लम्बा शास्त्रार्थ किया गया है कि लक्षण और स्वरूप को एक माना जाना उचित होगा या नहीं । अद्वैतवेदान्ती इस विषय पर नैयायिकों से अपनी स्पष्ट असहमति व्यक्त करते हैं । उनका मानना है कि स्वरूप और लक्षण को भिन्न-भिन्न होना न तो आवश्यक है और न ही लक्षण के स्वरूप से अभिन्न होने से कोई समस्या ही उपस्थित होती है । उनकी दृष्टि में यह एक दुराग्रह मात्र है । वस्तुतः अद्वैतियों के लिए इस शर्त को स्वीकार करना बहुत ही मुश्किल है क्योंकि स्वरूप और लक्षण में अनिवार्यतया भेद स्वीकार कर लेने पर उनके दर्शन की नींव ही हिल जायेगी। इसी कारण अद्वैती लक्षणों के दो भेद मानने के पक्षपाती हैं । उनके मत में दो तरह के लक्षण होते हैं , एक है स्वरूप लक्षण और दूसरा तटस्थ लक्षण । इस प्रकार से अद्वैतवेदान्ती लक्षण और स्वरूप के अभिन्न होने की सम्भावना से इनकार नहीं करते, यह स्वीकृति उनकी मजबूरी है । अद्वैतियों के लिए मुश्किल यह है कि उनके मत में सिर्फ़ ब्रह्म की एकमात्र सत्ता है । ऐसी परिस्थिति में यदि अद्वैती ख़ुद स्वरूप और लक्षण में भेद स्वीकार करें तो अद्वैत का सिद्धान्त ही खतरे में पड़ जायेग । इसका कारण यह है कि

यदि स्वरूप और लक्षण में भेद को स्वीकार कर लिया जाये तो कम से कम एक जगह पर द्वैत को स्वीकार कर लेना अनिवार्य हो जायेगा । यह स्वीकृति उनके अद्वैत के सिद्धान्त को ही अस्वीकृत कर देती है । इसीलिए अद्वैती स्वरूप के भी लक्षण हो सकने की हिमायत करते हैं । न्यायपरम्परा में भी इस विषय पर लम्बी चर्चा हुई है और कुछ नैयायिकों ने स्वरूप और लक्षण के एक होने की सम्भावना से अपनी स्वीकृति भी व्यक्त की है। किन्तु हमारा मानना है कि स्वरूप और लक्षण को भिन्न मानना ही न्यायपरम्परा के अनुकूल है , इस विषय में मेरी जो अवधारणा है हम उससे गङ्गेशोपाध्याय को सहमत पाते हैं । ex - ज्ञान का लक्षण & ज्ञान का स्वरूप in Nayaya.

यदि लक्षण और स्वरूप को अलग-अलग माना जाये तो लक्षण का कथन करने के लिए स्वरूप का कथन प्रथमतः अनिवार्य होगा । यदि अनुमान का लक्षण करना है तो प्रथमतः अनुमान का स्वरूप बतलाना अनिवार्य हो जाता है । नहीं तो अनुमान का लक्षण गृहीत हो पाना सम्भव नहीं हो सकेगा । इस कारण यदि अनुमान का लक्षण कर भी दिया जाये तो तुरन्त ही जिज्ञासा उत्पन्न होगी कि अनुमान का स्वरूप क्या है? इसीलिए गङ्गेशोपाध्याय अपने महान् ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि में प्रथमतः अनुमान का लक्षण और तदुपरान्त अनुमान का स्वरूप बतलाते हैं । वैसे यह पाश्चात्त्य विद्वानों को अटपटा लग सकता है क्योंकि प्रथमतः स्वरूप कहने के उपरान्त ही लक्षण का कथन करना चाहिए था ,तथापि लक्षण कथन के उपरान्त स्वरूप कथन में कोई असौविध्य नहीं है क्योंकि निरूपण की प्रक्रिया है कि सङ्गति के साथ ही निरूपण करना करना चाहिए और यदि पहले लक्षण का निरूपण कर दिया जाये तो स्वयं ही स्वरूप के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार लक्षण का प्रथमतः निरूपण करने से सङ्गति बन जाती है । इस कारण स्वरूप का निरूपण करना मात्र आवश्यक है । यह अनिवार्यता नहीं है कि पहले लक्षण का निरूपण किया जाये या स्वरूप का । किन्तु यह अवश्य है कि स्वरूप को जाने विना लक्षण को जानना कथमपि सम्भव नहीं है। सवाल यह है कि अनुमान का स्वरूप क्या है और उसका लक्षण क्या है? किन्तु इन सवालों का जवाब ढूँढने के पूर्व हमें यह देख लेना आवश्यक लगता है अनुमान पद का अर्थ क्या है? अनु उपसर्ग से युक्त मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से अनुमान शब्द की सिद्धि होती है । ल्युट्प्रत्यय का विधान तीन अर्थों में उपलब्ध होता है भाव , करण और अधिकरण। इस प्रकार अनुमान पद के तीन अर्थ हो सकते हैं अनुमिति , अनुमिति का करण और अनुमिति का अधिकरण । अनुमिति तो है ज्ञानविशेष और उस अनुमिति का

करण होता है परामर्श या व्याप्ति का ज्ञान । चूँकि अनुमिति एक ज्ञान है और हर एक ज्ञान आत्मा में ही रह सकता है , इस कारण अनुमिति का अधिकरण आत्मा ही होगा । किन्तु अधिकरणार्थक अनुमान शब्द भाषिक प्रयोग में नहीं आता है सो अनुमान शब्द का जिन अर्थों में प्रयोग भाषा में प्रचलित है , वे दो ही हैं एक अनुमिति और दूसरा अनुमिति का करण । अनुमिति है प्रमा और अनुमान है उसका करण । करण का लक्षण क्रिया को जाने विना नहीं किया जा सकता है क्योंकि करण का भेद क्रिया के भेद से ही होता है । इसलिए अनुमिति का लक्षण किए विना अनुमान का लक्षण कर पाना सम्भव नहीं है । फलतः पहले अनुमिति का लक्षण किया जाता है, उसके बाद अनुमान का लक्षण किया जाता है[४] । अनुमिति का लक्षण है व्याप्तिविशिष्ठपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्व अर्थात् व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहा जाता है । उस अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं । वह अनुमान है लिङ्गपरामर्श । इसलिए अनुमान का स्वरूप हुआ लिङ्गपरामर्शत्व और उसका लक्षण होता है व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानकरणत्व [५]।

यहाँ पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस प्रकार अनुमिति का लक्षण बताया गया और अनुमान का लक्षण व स्वरूप दोनों ही बताया गया , तो अनुमिति का स्वरूप भी बताया जाना चाहिए था । क्यों अनुमिति का स्वरूप नहीं बतलाया गया ? इस विषय में न्यायग्रन्थों में कहीं पर अनुमिति का स्वरूप बतलाया गया हो ऐसा मुझे उपलब्ध नहीं हुआ । ऐसा प्रतीत होता है कि अनुमितित्व ही अनुमिति का स्वरूप है । अनुमितित्व है जाति , उस अनुमितित्वजाति की सत्ता में और अनुमितिरूप ज्ञान की सत्ता में प्रमाण होता है अनुव्यवसाय । जैसा कि रघुनाथशिरोमणि ने परामर्श प्रकरण में बतलाया है[६] ।

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्व का अभिप्राय क्या है ?

अनुमितिलक्षणपूर्वक अनुमान का लक्षण किया गया,जिसमें कि अनुमिति का लक्षण व्याप्तिविशिष्ठपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानत्व किया गया । किन्तु यह पूरा का पूरा लक्षण समस्त पदों से भरा हुआ है । समस्या यह है कि इस लक्षण के घटक समस्त पदों में कौन सा समास है, समासों की विभिन्नता से लक्षण का समग्र अर्थ बदल जायेगा। तो हम मान सकते हैं कि इस लक्षण के घटक पदों का समास ही इस लक्षण के स्वरूप को बतलानेवाली कुञ्जी है ।

इस प्रश्न पर सबसे पहले विचार करनेवालों में रहे हैं यज्ञपत्युपाध्याय । उनके

पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी इस सवाल पर विचार किया था, यह यज्ञपत्युपाध्याय की **तत्त्वचिन्तामणिप्रभा** के अवलोकन से स्पष्ट होता है । किन्तु यज्ञपत्युपाध्याय से पूर्ववर्ती किसी व्याख्याकार की व्याख्या स्वयं इस विषय पर जानकारी देने के लिए हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है । इसलिए प्रत्यक्ष रूप में प्रथमतः इस सवाल का जवाब ढूँढने की कोशिश करते हुए हम यज्ञपत्युपाध्याय को ही पाते हैं ।

यज्ञपत्युपाध्याय का कथन है कि व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन करनेवाला ज्ञान ही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान कहा जाता है ,उस ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमान कहा जाता है । यज्ञपत्युपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कर्मधारय समास का सहारा लेते हैं । उनका कथन है कि इस लक्षण के घटक व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता पद में कर्मधारय समास करने के उपरान्त तल्प्रत्यय का विधान किया गया है -"*व्याप्तिविशिष्टश्चासौ पक्षधर्मश्च*" इस प्रकार कर्मधारय से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म पद की सिद्धि होती है । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म इस समस्त पद से भाववाचक तल् प्रत्यय किया जाता है । कर्मधारयसमासोत्तर तल् प्रत्यय का स्वभाव है कि वह पदार्थतावच्छेदकों के सामानाधिकरण्य को बोधित करता है[७] । इस प्रकार से यज्ञपत्युपाध्याय के आशय को हम समझ सकते हैं – "*व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता-ज्ञानम्*" यहाँ पर व्याप्तिविशिष्ट और पक्षधर्म पदों का कर्मधारयसमास होता है ,कर्मधारय समास करने पर समस्त पदों का अभेद बोधित हुआ करता है । जैसे "*नीलोत्पलम्*" यहाँ पर "*नीलञ्च तदुत्पलम्* "ऐसा कर्मधारय समास करने पर नील और उत्पल का अभेद बोधित होता है । उसी प्रकार यहाँपर भी व्याप्तिविशिष्ट और पक्षधर्म पदों का समास करने पर व्याप्तिविशिष्ट और पक्षधर्म का अभेद बोधित होगा। किन्तु यदि कर्मधारय समास के उपरान्त भाव प्रत्यय हो तो किसका बोध होगा ,जैसे नीलोत्पल इस समस्त पद को लें- इसमें भावप्रत्यय त्व को जोड़ दिया जाये तो नीलोत्पलत्व की सिद्धि होती है, इससे किसका बोध होगा, नीलोत्पल का भाव है नीलोत्पलत्व । वह नीलोत्पल का भाव क्या है, वह जाति तो नहीं हो सकता है । अपितु नीलत्व और उत्पलत्व का सामानाधिकरण्य ही नीलोत्पल का भाव है । उसीको नीलोत्पलत्व कहा जाता है । ठीक इसी प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म पद से भाव प्रत्यय तल् करने पर व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता पद की सिद्धि होती है, इसका अर्थ होगा व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व का सामानाधिकरण्य ही व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का अर्थ होगा । उसको विषय करनेवाले ज्ञान से जन्य जो ज्ञान उसे ही अनुमान कहा जायेगा । उदाहरण के रूप में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* ""पर्वत वह्निमान् है धूमवान्

होने के कारण "इस स्थल में"*पर्वतः वह्निमान्*" ऐसी अनुमिति होती है । इस अनुमिति का कारण बनता है "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*"ऐसा परामर्श ,यह परामर्श व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य को विषय करता है । इस ज्ञान में धूम में पर्वतवृत्तित्व और व्याप्ति का वैशिष्ट्य दोनों ही बोधित हुआ करते हैं । इस तरह व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन यहाँ पर धूम में किया जा रहा है । व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व को विषय करनेवाले इस परामर्शात्मक ज्ञान से जन्य "*पर्वतो वह्निमान्* "ऐसा ज्ञान अनुमिति कहलाता है । इस तरह से यज्ञपत्युपाध्याय गङ्गेशोपाध्याय के अनुमितिलक्षण की व्याख्या करते हैं ।

किन्तु यज्ञपत्युपाध्याय के मत में समस्या यह है कि इस मत में संसर्ग बनकर भासित होनेवाले पदार्थ के संसर्ग का भी भान स्वीकार करना पड़ता है । यह ध्येय है कि नव्यनैयायिकों ने संसर्ग के संसर्ग का भान अस्वीकृत कर दिया है । इस कारण यज्ञपत्युपाध्याय के मत को स्वीकृति दे पाना सम्भव नहीं हो पाता है । यहाँपर यज्ञपत्युपाध्याय का नव्यनैयायिकों से जो मतभेद है उसे इस तरह से समझा जा सकता है-"*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्* "इस परामर्श में पर्वत में धूम ,धूम में व्याप्ति का भान होता है । इस स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि व्याप्ति का सम्बन्ध धूम में और धूम का सम्बन्ध पर्वत में भासता है , अथवा कहें व्याप्ति धूम में और धूम पर्वत में प्रकार बन कर भासता है । इस स्थिति को इस चित्र के माध्यम से शायद ज़्यादा अच्छी तरह से समझा जा सकता है –

वह्निव्याप्ति धूम में विशेषण है और धूम पर्वत में विशेषण बनता है । इसका मतलब यह है कि वह्निव्याप्ति की अपेक्षा से धूम विशेष्य बनता है और धूम की अपेक्षा से पर्वत विशेष्य बनता है। पर्वत सिर्फ़ विशेष्य है प्रकार नहीं , और यदि स्थूल दृष्टि से देखें तो वह्नि व्याप्ति सिर्फ़ प्रकार । किन्तु धूम प्रकार भी है तथा विशेष्य भी है ।

यह "*पर्वतो वह्निमान्*" इस ज्ञान का आकार है ।

यज्ञपत्युपाध्याय के अनुसार परामर्श व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य को नियमतः विषय करता है । व्याप्तिवैशिष्ट्य व्याप्तिसम्बन्ध ही है

और पक्षधर्मत्व हेतुसम्बन्ध है । इन दोनों का सम्बन्ध ही सामानाधिकरण्य कहा जा सकता है । सामानाधिकरण्य का अर्थ तदधिकरणवृत्तित्व है तत् पद से ग्राह्य होता है व्याप्तिविशिष्टत्व । ऐसी परिस्थिति में परामर्श तभी व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन कर सकता है, अगर जिस धर्मी में व्याप्तिविशिष्टत्व का अधिकरणत्व बोधित हो रहा हो, उसी धर्मी में पक्षधर्मत्व का भी अवगाहन हो । उपर्युक्त परामर्श धूम में व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन करता है, क्योंकि धूम धर्मी में व्याप्तिविशिष्टत्व भी भासित हो रहा है और पक्षधर्मत्व भी । इस कारण उक्त परामर्श अनुमिति के प्रति कारण बनता है ।ऐसा यज्ञपत्युपाध्याय का कथन है । परवर्ती नवीन नैयायिक यज्ञपत्युपाध्याय के मत से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं । उनका कहना है कि यज्ञपत्युपाध्याय का कथन तभी सत्य हो सकता है यदि परामर्श नियमतःव्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन करे, किन्तु परामर्श उक्त उभय के सामानाधिकरण्य का अवगाहन करता है, इसमें ही कोई प्रमाण नहीं है । यज्ञपत्युपाध्याय के अनुसार प्रदर्शित परामर्श के विषय इस तरह होंगे –
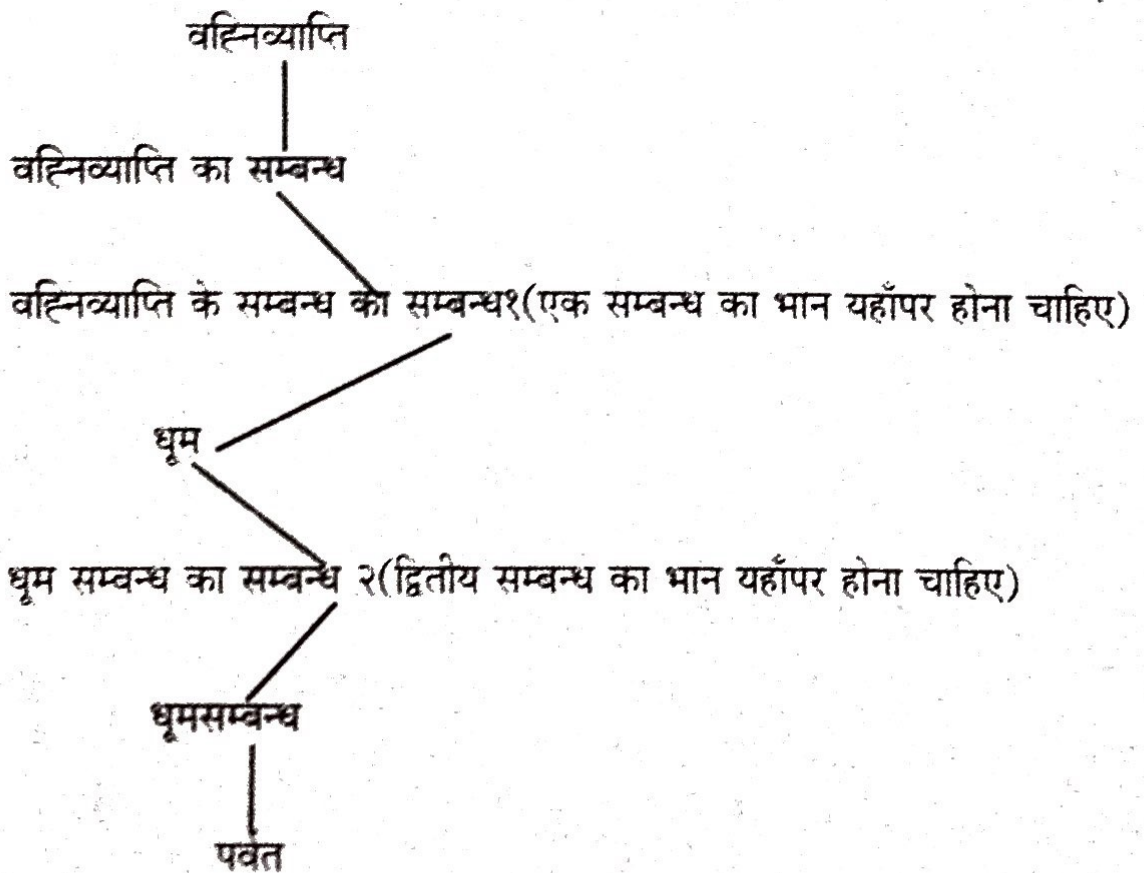
यहाँ पर दो सम्बन्धों का भान अधिक स्वीकार करना आवश्यक होगा । एक सम्बन्ध व्याप्तिवैशिष्ट्य और धूम के बीच में भासित हो क्योंकि व्याप्तिवैशिष्ट्य अर्थात्

व्याप्तिसम्बन्ध का अधिकरण धूम किसी सम्बन्ध से ही हो सकता है। दूसरा धूम और धूमपर्वतसम्बन्ध के मध्य भासित होना चाहिए क्योंकि धूमपर्वतसम्बन्ध ही पक्षधर्मत्व है और उसमें व्याप्तिविशिष्टत्व का सामानाधिकरण्य भासित होना चाहिए। थोड़ा और स्पष्ट करके कहा जाये तो व्याप्तिसम्बन्धाधिकरणधूमनिरूपितवृत्तित्वधूमसम्बन्ध में भासित होना चाहिए । इस प्रकार हम देखतेहैं कि यज्ञपत्युपाध्याय का कथन सही होने के लिए ये आवश्यक है कि सम्बन्ध के सम्बन्ध का भी भान हो । किन्तु सम्बन्ध का सम्बन्ध भासित होने में कोई भी प्रमाण नहीं है ।इस विषय पर लम्बी चर्चा न्यायशास्त्रों में उपलब्ध होती है । हम यहां पर उस लम्बी चर्चा में नहीं पड़ रहे हैं। किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी लगता है कि अगर संसर्ग के संसर्ग का भी भान स्वीकार किया जाये तो सांसर्गिक विषयता को भी सावच्छिन्ना मानना ज़रूरी हो जायेगा ,जिसमें कि कोई भी प्रमाण नहीं है । इसी कारण रघुनाथ शिरोमणि यह कह कर यज्ञपत्युपाध्याय के मत का खण्डन कर देते हैं कि परामर्श के द्वारा कहीं पर तो व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन किया जा सकता है, किन्तु सर्वत्र परामर्श के द्वारा नियमतः व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व के सामानाधिकरण्य का अवगाहन करने में कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है । दूसरी बात यह है कि यदि सम्बन्ध के सम्बन्ध का भान भी स्वीकार कर लिया जाये तो इसमें गौरव भी होगा । रघुनाथ शिरोमणि ने इस मत के खण्डन के लिए और आपत्तियाँ भी उठायी हैं , उनको *अनुमितिप्रकरण* में देखा जा सकता है ।

पक्षधर मिश्र , जिनको सामान्यतया मिश्र कहकर भी उल्लिखित किया जाता है ने व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान यहाँ पर "*व्याप्तिविशिष्टश्च पक्षधर्मश्च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मौ तयोः भावः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता तस्याः ज्ञानम्* "इस प्रकार से द्वन्द्व समास के उपरान्त भावप्रत्यय से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है । द्वन्द्व समास के उपरान्त श्रूयमाण भावप्रत्यय समासघटक सभी पदों के अर्थों के साथ अन्वित होता है । इस तरह व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय करनेवाले ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहा जायेगा । इस पक्ष में प्रश्न यह होता है कि पदार्थों का भेद होने पर ही द्वन्द्व समास की साधुता होती है ,जैसे "*रामलक्ष्मणौ*" यहाँपर राम और लक्ष्मण के भिन्न - भिन्न होने के कारण राम और लक्ष्मण पदों का समास सङ्गत हो पाता है । यहाँपर तो जो धूम आदि धर्मी व्याप्तिविशिष्ट होते हैं वही पक्षधर्म भी होते हैं । व्याप्तिविशिष्ट और पक्षधर्म में भेद नहीं होने के कारण यहाँपर द्वन्द्व समास कैसे सम्भव हो सकेगा ? इसका

उत्तर पक्षधर मिश्र यह देते हैं कि पदार्थों का अभेद होने पर भी पदार्थतावच्छेदकों में भेद होने पर भी द्वन्द्व समास साधु होता है ।

इस पक्षधर मिश्र के मत में सवाल यह उठता है कि "*आलोको वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वतः*" से भी अनुमिति उत्पन्न होनी चाहिए क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा भी व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय किया जा रहा है । आलोक में वह्निव्याप्ति का और धूम में पक्षधर्मत्व का भान यहाँपर भी हो रहा है और अनुमिति के लिए व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय करनेवाले ज्ञान की ही आवश्यकता है । इसका समाधान पक्षधर मिश्र यह देते हैं कि एक ही धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय किया जा रहा हो जिस ज्ञान के द्वारा उसीसे जायमान ज्ञान को अनुमिति कहा जायेगा । "*आलोको वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वतः*" इस ज्ञान के द्वारा एक धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय नहीं किया जा रहा है । आलोक में व्याप्तिवैशिष्ट्य का और धूम में पक्षधर्मत्व का अवगाहन किया जा रहा है । इस कारण इस ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न होने की आपत्ति नहीं आती है[९]।

किन्तु इस मत में समस्या यह है कि "*धूमो वह्निव्याप्यो द्रव्यं पर्वतवृत्ति*" इस समूहालम्बन ज्ञान से जन्य ज्ञान में अनुमिति लक्षण की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि यहाँ पर एक ही धूमात्मक द्रव्य में वह्निव्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व का अवगाहन किया जा रहा है[१०]। पक्षधर मिश्र के अनुसार एक ही धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय किया जा रहा हो जिस ज्ञान के द्वारा उसीसे जायमान ज्ञान को अनुमिति कहा जाता है और यह समूहालम्बन ज्ञान भी उस शर्त को पूरा करता है । इस अतिव्याप्ति का निवारण यह कह कर करना उचित नहीं है कि एक ही धर्मी में पक्षधर्मत्व और उसीमें व्याप्ति के वैशिष्ट्य का अवगाहन होना मात्र ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण नहीं बना देता है , अपितु अनुमिति के लिए कारण बनने हेतु यह भी आवश्यक है कि एक रूप से एक धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय किया जा रहा हो। उसी ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहा जाता है। "*धूमो वह्निव्याप्यो द्रव्यं पर्वतवृत्ति*" इस ज्ञान के द्वारा यद्यपि एक धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय किया जा रहा है तथापि एक रूप से एक धर्मी में व्याप्तिवैशिष्ट्य और पक्षधर्मत्व को विषय नहीं किया जा रहा है । पर्वतवृत्तित्व का अवगाहन धूम में द्रव्यत्वेन रूपेण किया जा रहा है और वह्निव्याप्ति का अवगाहन धूम में धूमत्वेन रूपेण किया जा रहा है । इस कारण उक्त दोष वारित हो जायेगा । किन्तु यह कह कर अतिव्याप्ति का वारण करने पर

मीमांसकमत में प्रवेश होने लगेगा । जिस तरह मीमांसक "*वह्निव्याप्यवान् पर्वतः*"इस ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं स्वीकार करते हैं क्योंकि इस ज्ञान में व्याप्यतावच्छेदक विषय नहीं हो रहा है, व्याप्यतावच्छेदक विषय नहीं होने के कारण किस रूप से विशिष्ट में व्याप्ति का वैशिष्ट्य बोधित हो रहा है यह ज्ञात नहीं हो पाता है । इस कारण इस ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं स्वीकारी जा सकेगी । हालाँकि यह ज्ञान परामर्शात्मक है और इसी कारण नैयायिक इस ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । इसी प्रकार "*वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः*" इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नैयायिकों को स्वीकृत नहीं है , जबकि मीमांसकों को इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति स्वीकृत है । जिस तरह से उपर्युक्त आपत्ति को वारित करने का प्रयास किया जा रहा है, उस तरह तो मीमांसकों की तरह नैयायिकों को भी "*वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः* " इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी । मीमांसक "*वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः* " इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति इस कारण स्वीकार करते हैं क्योंकि यहाँ पर धूमत्वेन रूपेण धूम में व्याप्तिविशिष्टत्व और पक्षधर्मत्व दोनों का अवगाहन हो रहा है । "*वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः* "इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नैयायिकों को स्वीकृत नहीं है क्योंकि उनका कथन है कि यह ज्ञान परामर्शात्मक नहीं होता है , इस कारण इस ज्ञान के उपरान्त परामर्शात्मक दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है , उसी द्वितीय ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति होती है । उपर्युक्त रीति से अनुमिति के प्रति कारणीभूत व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान का अर्थ करने पर मीमांसकों का अनुसरण करते हुए नैयायिकों को भी "*वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः* "इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी और "*वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः* " इस ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं स्वीकार करनी पड़ेगी । यह स्पष्टतः अपसिद्धान्त होगा[११]। इस कारण यह व्याख्या भी खण्डित हो जाती है ।

अन्ततः रघुनाथ शिरोमणि रुचिदत्त मिश्र आदि के द्वारा उक्त ज्ञानान्त कर्मधारय समास का आश्रयण करके समाधान देते हैं कि –"*व्याप्तिविशिष्टं यत् पक्षधर्मताज्ञानमिति तु स्यात्*" व्याप्तिविशिष्ट जो पक्षधर्मताज्ञान ऐसा कर्मधारय समास तो हो सकता है । उससे जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं[१२]। प्रश्न हो सकता है कि व्याप्तिविशिष्ट तो हेतु होता है अर्थात् पक्षधर्म व्याप्तिविशिष्ट होता है , पक्षधर्मताज्ञान व्याप्तिविशिष्ट कैसे हो

सकता है ? इसका समाधान यह दिया जाता है कि यहाँ पर व्याप्तिविशिष्ट पद का अर्थ व्याप्तिप्रकारक है । इस कारण व्याप्तिप्रकारक जो पक्षधर्मताज्ञान उसी ज्ञान को व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान कहा जा रहा है । जिस ज्ञान में व्याप्ति प्रकार बन रही होगी उसी ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहा जायेगा। पक्षधर्मताज्ञान यहाँपर "*पक्षधर्मतायाः ज्ञानम्*" इस प्रकार से षष्ठीतत्पुरुष समास नहीं है , किन्तु "*पक्षे धर्मतया ज्ञानम्*" ऐसा तृतीयासमासगर्भ सप्तमीतत्पुरुष समास है । इस समास से यह अर्थ लब्ध होता है कि "*हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से पक्ष में वृत्तितया जो ज्ञान*" । इस तरह से "पक्षविशेष्यकत्व से अवच्छिन्न हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकत्व से विशिष्ट ज्ञानरूपी पक्षधर्मताज्ञान" लब्ध होता है । व्याप्तिप्रकारक को थोड़ा परिष्कृत करके व्याप्तिप्रकारताक कहा जा सकता है और ऐसा कहा भी जाता है । अनुमितिकारणीभूत परामर्शात्मक ज्ञान का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं । वहाँ पर यह बताया जा चुका है । वहाँ पर यह बताया गया था कि व्याप्ति धूम में और धूम पर्वत में प्रकार बनता है । प्रकार को विशेषण भी कहा जाता है । प्रकार में प्रकारता और विशेष्य में विशेष्यता रहती है । इस स्थिति में स्पष्ट है कि व्याप्ति में प्रकारता रहेगी और धूम में प्रकारता और विशेष्यता दोनों ही रहेगी क्योंकि धूम व्याप्ति की अपेक्षा विशेष्य बनता है और पर्वत की अपेक्षा प्रकार बनता है । पर्वत में विशेष्यता रहेगी क्योंकि पर्वत किसी की अपेक्षा प्रकार नहीं बनता है ,वह केवल विशेष्य ही बनता है । प्रकारता और विशेष्यता दोनों में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है अर्थात् प्रकारता से निरूपित विशेष्यता और विशेष्यता से निरूपित प्रकारता होती है । इसका उलटा यह भी होता है कि प्रकारता की निरूपक विशेष्यता होती है और विशेष्यता की निरूपक प्रकारता होती है । जो कहीं पर भी विशेषण बनता है वह किसी न किसी सम्बन्ध से विशेषण बनता है । जिस सम्बन्ध से कोई विशेषण बनता है उस सम्बन्ध को विशेषणतावच्छेदक या प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं । दूसरी तरह से कहें तो जिस सम्बन्ध से कोई विशेषण बनता है उस सम्बन्ध से प्रकारता अवच्छिन्न होती है । परम्परागत रूप से यह माना जाता है कि विशेष्यता सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं होती है । इसमें वस्तुतः युक्ति यह है कि अगर केवल प्रकारता को सावच्छिन्ना मानने से काम चल जाये तो विशेष्यता को सावच्छिन्ना मानने की क्या आवश्यकता है ? विशेष्यता को भी सावच्छिन्ना मानना चाहिए ऐसा कुछ लोगों का कहना है लेकिन उनको परम्परा की स्वीकृति नहीं मिल सकी है । उनकी युक्ति यह है कि यदि प्रकारता सावच्छिन्ना होती है तो विशेष्यता को भी सावच्छिन्ना होना चाहिए

क्योंकि प्रकारता और विशेष्यता दोनों समानयोगक्षेम हैं । किन्तु मेरा मानना है कि ये दोनों समानयोगक्षेम नहीं हैं विशेषण किस सम्बन्ध से बन रहा है यह प्रश्न ही मौलिक है , इस कारण प्रकारता को ही सावच्छिन्ना होना चाहिए विशेष्यता को सावच्छिन्ना होने की बात निरर्थक है । व्याप्ति धूम में प्रकार बन रही है तो प्रकारता व्याप्ति में और विशेष्यता धूम में रहेगी । व्याप्तिनिष्ठप्रकारता की निरूपक होगी धूमनिष्ठविशेष्यता और इसका उलटा भी होगा अर्थात् धूमनिष्ठविशेष्यता की निरूपक होगी व्याप्तिनिष्ठप्रकारता। प्रकारतानिरूपक को सङ्क्षेप में प्रकारताक भी कह दिया जाता है । इसी तरह विशेष्यतानिरूपक को सङ्क्षेप में विशेष्यताक भी कह दिया जाता है । इस तरह हम देखते हैं कि क्रमशः प्रकारता को विशेष्यताक और विशेष्यता को प्रकारताक कहा जा सकता है । किन्तु एक दूसरी रीति से ज्ञान को भी विशेष्यताक और प्रकारताक कहा जा सकता है ! चूँकि कोई भी प्रकार या विशेष्य ज्ञान का विषय होने के कारण ही बनता है, इस कारण ज्ञान भी विशेष्यक और प्रकारक या विशेष्यताक और प्रकारताक कहा जाता है । इस तरह से जिस ज्ञान में व्याप्ति प्रकार बन रही होगी उस ज्ञान को व्याप्तिप्रकारक या व्याप्तिप्रकारताक कहा जायेगा । यहाँपर इस दूसरे तरीके से ही ज्ञान को व्याप्तिप्रकारक कहा जा रहा है । हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध है संयोग सम्बन्ध क्योंकि पर्वत में वह्नि को सिद्ध करने के धूम को संयोग सम्बन्ध से हेतु बनाया गया है । तो धूम संयोग सम्बन्ध से पर्वत में हेतु बनाया गया है । तो धूम पर्वत में संयोगसम्बन्ध से प्रकार है इसलिए धूमनिष्ठा प्रकारता हेतुतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से अवच्छिन्ना होती है । चूँकि धूम पर्वत में प्रकार है इसका मतलब यह है कि पर्वत विशेष्य है ,पर्वत में विशेष्यता है और उस विशेष्यता की निरूपिका है धूमनिष्ठा प्रकारता । इसे इस तरह से भी कहा जा सकता है कि धूमनिष्ठा प्रकारता पर्वतनिष्ठविशेष्यता की निरूपिका है या धूमनिष्ठा प्रकारता पर्वतविशेष्यताक है या पर्वतविशेष्यक है । इस तरह धूमनिष्ठप्रकारता में पर्वतविशेष्यक त्व विद्यमान है और धूमनिष्ठप्रकारता पर्वतविशेष्यकत्व से अवच्छिन्ना होती है । इस तरह पर्वतविशेष्यकत्वावच्छिन्ना जो धूमनिष्ठा हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता तादृशप्रकारताक और व्याप्तिप्रकारताक जो ज्ञान उस ज्ञान को व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान कहा जायेगा । इसमें एक शर्त और भी शामिल है कि पक्षविशेष्यकत्वावच्छिन्ना जो हेतुनिष्ठा हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता तादृशप्रकारताकत्व से अवच्छिन्नत्व व्याप्तिप्रकारताकत्व में भासित होता है क्योंकि व्याप्तिप्रकारताकत्व का अन्वय पक्षविशेष्यकत्वावच्छिन्ना जो हेतुनिष्ठा हेतुता-

वच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता तादृशप्रकारताशाली ज्ञान में किया जाता है । यह तभी सम्भव हो सकता है अगर व्याप्ति और हेतु में साक्षात् विशेष्यविशेषणभाव हो साक्षात् विशेष्यविशेषणभाव होने पर ही व्याप्तिविषयकत्व और हेतुविषयकत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव सम्भव हो पाता है । परामर्श में व्याप्ति हेतु में साक्षात् विशेषण बनती है । "*पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्*" इस प्रकार ज्ञान होने पर व्याप्ति धूम में प्रकार बनती है । इस कारण इस ज्ञान में व्याप्तिप्रकारकत्व है ,धूम संयोग सम्बन्ध से पर्वत में प्रकार हो रहा है । अतः संयोगसम्बन्धावच्छिन्नधूमनिष्ठप्रकारता पर्वतविशेष्यकत्व से अवच्छिन्ना होती है । तादृशधूमनिष्ठप्रकारताकत्व इस परामर्शात्मक ज्ञान में विद्यमान है । व्याप्ति और धूम में साक्षात् विशेष्यविशेषणभाव होने पर ही तादृशधूमनिष्ठप्रकारताकत्व और व्याप्तिनिष्ठप्रकारताकत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव सम्भव होगा । इसलिए सभी अनुमितियों में लक्षणसमन्वय हो जाता है [१३]। "*पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्* "इस तरह के परामर्शात्मक ज्ञानों में तादृशधूमनिष्ठप्रकारताकत्व भी है और व्याप्तिनिष्ठप्रकारताकत्व भी है । व्याप्ति धूम में प्रकार होती है इसलिए व्याप्तिनिष्ठप्रकारताकत्व तादृशधूमनिष्ठप्रकारताकत्व से अवच्छिन्न होता है । यह ज्ञान व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान होता है । इस ज्ञान से जन्य "*पर्वतो वह्निमान्* " इस ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । लक्षणसमन्वय होने में कोई असुविधा नहीं होती है ।

"*पर्वतो वह्निव्याप्यवान्*" इस तरह का परामर्श यदि होता है तो इस परामर्श में भी हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना व्याप्यनिष्ठा पक्षविशेष्यकत्वावच्छिन्ना जो प्रकारता तादृशप्रकारताकत्व और व्याप्तिनिष्ठप्रकारताकत्व है । व्याप्ति के व्याप्य में विशेषण बनने के कारण व्याप्तिप्रकारताकत्व तादृशप्रकारताकत्व से अवच्छिन्न है, इससे जन्य ज्ञान में ही लक्षणसमन्वय हो जाता है ।

"*धूमो वह्निव्याप्यो द्रव्यवान् पर्वतः*" इस ज्ञान की स्थिति अलग है क्योंकि यह एक समूहालम्बनात्मक ज्ञान है । समूहालम्बनात्मक ज्ञान में अनेक मुख्यविशेष्यताएँ होती हैं [१४]। मुख्यविशेष्यता से आशय उस विशेष्यता से है जो विशेष्यता प्रकारता-समानाधिकरण नहीं होती है । किसी भी प्रकार में नहीं रहती है , प्रकारता के अधिकरण में नहीं रहती है। "*पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्* "इस तरह का परामर्श यदि होता है तो इस परामर्शात्मक ज्ञान का विश्लेषण करें तो इस ज्ञान में पर्वत किसी में भी विशेषण नहीं हो रहा है सिर्फ़ विशेष्य हो रहा है । इस कारण यह एक सामान्य विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान है इस ज्ञान में केवल एक ही मुख्यविशेष्यता है । किन्तु "*धूमो वह्निव्याप्यो*

द्रव्यवान् पर्वतः" इस तरह के ज्ञान में केवल एक ही मुख्यविशेष्यता नहीं है किन्तु अनेक मुख्यविशेष्यताएँ हैं क्योंकि धूम में वह्निव्याप्ति प्रकार होती है और द्रव्य पर्वत में प्रकार है । धूम किसी में भी प्रकार नहीं हो रहा है और पर्वत किसी में भी प्रकार नहीं हो रहा है । इस कारण पर्वत और धूम दोनों में रहनेवाली विशेष्यताएँ प्रकारतासमानाधिकरण नहीं हैं । पर्वत और धूम दोनों में रहनेवाली विशेष्यताएँ प्रकारता के अधिकरण में नहीं रहती हैं इस कारण ये दोनों ही विशेष्यताएँ मुख्यविशेष्यताएँ हैं । इसकारण यह ज्ञान नानामुख्यविशेष्यताशाली है । धूम में व्याप्ति प्रकार है इसलिए यह ज्ञान व्याप्तिप्रकारताक होता है और पर्वत में द्रव्य हेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्ध से प्रकार है। इसलिए पर्वत-विशेष्यकत्व से अवच्छिन्ना हेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्ना द्रव्यनिष्ठा प्रकारता है तादृशद्रव्यनिष्ठप्रकारताकत्व भी इस ज्ञान में विद्यमान है, किन्तु तादृशद्रव्यनिष्ठप्रकारताकत्व से व्याप्तिप्रकारताकत्व अवच्छिन्न नहीं होता है । इसका कारण यह है कि व्याप्ति धूम में प्रकार हो रही है द्रव्य में प्रकार नहीं हो रही है । धूम तो यहाँ पर पक्ष पर्वत में प्रकार नहीं हो रहा है । इस कारण इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान को व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञान नहीं कहा जा सकता है और इसी कारण इस ज्ञान से जन्य ज्ञान में व्याप्तिप्रकारक-**पक्षधर्मताज्ञान**जन्यज्ञानत्व नहीं आता है । इस लिए अनुमिति लक्षण का समन्वय इस ज्ञान से जन्य ज्ञान में नहीं होता है ।

"धूमो वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वतः" इस तरह का ज्ञान होने पर भी **पर्वतविशेष्यकत्वा**वच्छिन्नहेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नहेतुनिष्ठप्रकारताकत्व से व्याप्तिप्रकारताकत्व अवच्छिन्न नहीं होता है क्योंकि यह ज्ञान भी समूहालम्बनात्मक है। **हालाँकि धूम ही** पर्वत में प्रकार हो रहा है और उसी धूम में व्याप्ति प्रकार हो रही है **तथापि हेतुनिष्ठप्र**कारताकत्व और व्याप्तिप्रकारताकत्व में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव **नहीं है । यह** अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव तभी सम्भव होता अगर व्याप्तिप्रकारता से **निरूपित विशेष्य**ता में और हेतुनिष्ठप्रकारता में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव होता ,और **यह तभी सम्भव** होता यदि व्याप्तिविशिष्टत्वेन धूम पर्वत में प्रकार हो रहा होता ,जैसा कि *"वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः"* ऐसे परामर्श में होता है । परन्तु ऐसा तो है नहीं, यहाँ **पर तो धूम पर्वत** में धूमत्वेन प्रकार हो रहा है और धूम में व्याप्ति स्वतन्त्र रूप से प्रकार **हो रही है । इस** कारण नैयायिक इस समूहाम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं **स्वीकार करते हैं** । यह सुनने में विचित्र लग सकता है किन्तु नैयायिकों का कथन है कि **ऐसे समूहालम्बन ज्ञान के** उपरान्त एक दूसरा परामर्शात्मक ज्ञान हुआ करता है उस ज्ञान

से ही अनुमिति की उत्पत्ति होती है । वस्तुतः नैयायिकों का कथन सामान्य युक्ति से सत्यापित किया जा सकता है । अगर किसी को धूम में व्याप्ति का ज्ञान हो चुका है और उसको उसी व्याप्तिविशिष्ट धूम का पक्ष में सद्भाव विदित हो रहा है तो उस व्यक्ति को *"वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः"* ऐसा ही ज्ञान होगा न कि *"वह्निव्याप्यो धूमः धूमवान् पर्वतः"* ऐसा समूहाम्बनात्मक ज्ञान । आइए देखें इस समूहालम्बनात्मक ज्ञानकी स्थिति क्या है –

इस समूहालम्बनात्मक ज्ञान की स्थिति *"वह्निव्याप्यो धूमः" "द्रव्यवान् पर्वतः"* इस ज्ञानद्वय से भिन्न नहीं है क्योंकि जैसे इस ज्ञानद्वय में व्याप्तिप्रकारतानिरूपितधूमविशेष्यता और पर्वतविशेष्यतानिरूपितधूमप्रकारता में कोई सम्बन्ध नहीं है । उसी प्रकार इस ज्ञान में भी व्याप्तिप्रकारतानिरूपितधूमविशेष्यता और पर्वतविशेष्यतानिरूपितधूमप्रकारता में कोई सम्बन्ध नहीं है । इसीलिए इस ज्ञान से जन्य ज्ञान में अनुमिति का लक्षण नहीं समन्वित होता है और न तो नैयायिक इस ज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में पक्षविशेष्यकत्वाच्छिन्नहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुनिष्ठप्रकारताकत्वावच्छिन्नव्याप्तिप्रकारताकत्ववत् ज्ञान से जन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं । उस अनुमिति का करण अनुमान होता है । इस तरह का अनुमान होता है लिङ्गपरामर्श, यह कहा जा चुका है ।

क्या सभी परामर्श पक्षविशेष्यक ही होते हैं ?

अभी जैसा कहा गया उसके अनुसार परामर्शनिष्ठव्याप्तिप्रकारताकत्व को पक्षविशेष्यकत्व से अवच्छिन्न होना चाहिए , साथ ही साथ परामर्शनिष्ठव्याप्तिप्रकारताकत्व को हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुनिष्ठप्रकारताकत्व से भी अवच्छिन्न होना चाहिए । किन्तु न्यायपरम्परा में तो पक्षप्रकारक भी परामर्श स्वीकृत है । तो इस सवाल पर भी

विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है[१५]।

यदि परामर्श व्याप्यविशेष्यक भी हो तो पक्षविशेष्यकत्व से अवच्छिन्न हेतुनिष्ठप्रकारता ही नहीं मिल पायेगी और वह व्याप्यविशेष्यकपरामर्श व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानरूप नहीं हो पायेगा । फलतः उस ज्ञान से जन्य ज्ञान में अनुमिति का लक्षण समन्वित नहीं हो पायेगा । तथा ऐसी स्थिति में अव्याप्तिदोष से लक्षण ग्रस्त हो जायेगा । इस अव्याप्ति का वारण करने के लिए लक्षण को व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानवृत्ति अनुभवत्वव्याप्यजातिमत्त्व अनुमिति का लक्षण है , इस तरह से परिष्कृत किया जा सकता है । लक्षण का इस रीति से परिष्कार करने पर इस अव्याप्ति का वारण आसानी से किया जा सकता है । दोनों तरह के परामर्शों को अनुमिति के प्रति कारण मानने पर एक दूसरी समस्या अवश्य सामने आती है । वह यह है कि दोनों तरह के परामर्शों का एक रूप से कारणत्व स्वीकार करना कठिन है । अतः यही मार्ग है जिसका आश्रयण करके समस्या को सुलझाया जा सकता है ।

वस्तुतः तो अनुभव के अनुरोध से पक्षविशेष्यक परामर्श को ही अनुमिति के प्रति कारण मानते हैं । इसी कारण पञ्चावयव में उपनयवाक्य को पक्षविशेष्यक ही सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है । यह ध्येय है कि परामर्श की स्वीकृति में उपनय वाक्य की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । परामर्श की स्वीकृति में उपनय की स्वीकृति एक महत्त्वपूर्ण तर्क बनकर उभरता है । इसलिए समस्त लिङ्गपरामर्श पक्षविशेष्यक ही होते हैं , यही सर्वसम्मति से सिद्धान्तित करना उचित जान पड़ता है[१६]।

यहाँपर यह विशेष है कि यदि द्विविध परामर्श स्वीकारे जाएँ तो एक मत से पक्षविशेष्यक परामर्श से पक्षविशेष्यक अनुमिति और पक्षप्रकारक व्याप्यविशेष्यक परामर्श से साध्यविशेष्यकपक्षप्रकारक अनुमिति का स्वीकार किया जाता है , अर्थात् "*पक्षे व्याप्यः* " इस तरह के परामर्श से "*पक्षे साध्यम्* " ऐसी अनुमिति होती है और "*पक्षः व्याप्यवान्* " इस तरह के परामर्श से "*पक्षःसाध्यवान्* " इस तरह की अनुमिति होती है । दूसरे मत से पक्षप्रकारक परामर्श हो या पक्षविशेष्यक परामर्श हो दोनों ही स्थितियों में पक्षविशेष्यक ही अनुमिति होती है[१७]। निष्कर्षतः तो पक्षविशेष्यक परामर्श ही अनुमिति के प्रति कारण बनता है व्याप्यविशेष्यक परामर्श तो अनुमिति के प्रति कारण ही नहीं बनता है ।

क्या लिङ्गपरामर्श अनुमिति का करण हो सकता है ?

गङ्गेशोपाध्याय ने अनुमान का स्वरूप बतलाते हुए लिङ्गपरामर्श को

अनुमान कहा है और अनुमिति का करण बतलाया है , किन्तु लिङ्गपरामर्श से जो अर्थ समझा जाता है उसको न तो अनुमिति का करण स्वीकारा जा सकता है और न तो अनुमान कहा जा सकता है क्योंकि करण वही हो सकता है जो व्यापारवत् असाधारण कारण हो [१८], किन्तु हम जानते हैं कि परामर्श अनुमिति के प्रति असाधारण कारण तो कथञ्चित् हो सकता है किन्तु वह अनुमिति के प्रति व्यापारवत् असाधारण कारण नहीं हो सकता है क्योंकि परामर्श के बाद अनुमिति की उत्पत्ति में कोई भी विलम्ब नहीं होता है । परामर्श के बाद अग्रिम क्षण में अनुमिति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । परामर्श को अनुमिति के उत्पादन के लिए किसी व्यापारान्तर की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। हम जानते हैं कि "*पर्वतो वह्निव्याप्यवान्*"इस तरह के परामर्श के बाद किसी व्यापारान्तर की कोई सम्भावना नहीं तो आख़िर परामर्श को अनुमिति के प्रति असाधारण कारण होने पर भी करण कैसे स्वीकारा जाये ?

इस प्रश्न का समाधान ढूँढने की कोशिश गङ्गेशोपाध्याय से पहले के नैयायिकों ने भी की है । उनमें प्रमुख रहे हैं **न्यायरत्न** के लेखक मणिकण्ठ मिश्र और **न्यायसिद्धान्तदीप** के लेखक आचार्य शशधर । मणिकण्ठ मिश्र के तो गङ्गेशोपाध्याय अनेक स्थलों पर ऋणी हैं । मेरा तो ऐसा मानना है कि लिङ्गपरामर्श को अनुमिति के प्रति करण न मानकर व्यापार माना जाना मणिकण्ठ मिश्र के प्रभाव से ही सम्भव हो सका है । वस्तुतः परामर्श को अनुमिति के प्रति करण मानना गङ्गेशोपाध्याय को अभीष्ट था किन्तु मणिकण्ठ मिश्र के प्रभाव से गङ्गेशोपाध्याय के टीकाकारों ने भी लिङ्गपरामर्श को अनुमिति के प्रति व्यापार मान लिया है । मणिकण्ठ मिश्र ने **न्यायरत्न** के तर्कवाद में "*तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य साक्षादनुमितिकारणत्वेनान्यथोपपत्तेः,एतत्कारणीभूतस्यैव व्याप्तिस्मरणादेरनेनैव व्यापारेणानुमितिकारणत्वात्* "(पृष्ठ ८)ऐसा कहते हुए परामर्श की अनुमितिकरणता की सम्भावना को एकदम से नकार दिया है । गङ्गेशोपाध्याय के टीकाकारों ने मणिकण्ठ मिश्र का अनुसरण करते हुए व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति के प्रति करण मानने की सम्मति दी है । **तत्वचिन्तामणि** की **प्रकाश** नामक टीका के लेखक रुचिदत्त मिश्र ने मणिकण्ठ मिश्र का अनुसरण करते हुए कहा है कि मणिकार के मत में अनुमिति में परामर्श करण नहीं होता है अपितु परामर्श अनुमिति में व्यापार बनकर उपयुक्त होता है । इस कारण उक्त मूल अनुपपन्न है, फिर भी यह मतान्तर से कहा गया है [१९]। मतान्तर का आशय क्या हो सकता है? हम यदि इसपर विचार करें तो प्रतीत होता है कि रुचिदत्त मिश्र का सङ्केत उद्योतकर प्रभृति प्राचीन नैयायिकों की को

ओर है । उद्योतकर ने लिङ्गपरामर्श को अनुमिति का करण माना है [२०]। किन्तु उद्योतकर ने परामर्श का व्यापार क्या होगा इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है । उनकी दृष्टि में करण बनने के लिए कोई व्यापार होना आवश्यक नहीं है । इसलिए उद्योतकर के लिए इस सवाल का कोई मानी नहीं है । **तात्पर्यटीका**कार वाचस्पति मिश्र ने और तात्पर्यपरिशुद्धि के लेखक उदयनाचार्य जी ने भी परामर्श को करण बनने के लिए व्यापार की आवश्यकता समझी हो ऐसा लगता नहीं । इस कारण मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि लिङ्गपरामर्श की अनुमितिकरणता स्वीकारनेवाले प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि में करण होने के लिए उसका व्यापारवान होना आवश्यक नहीं होता है, उनके अनुसार क्रिया से अयोगव्यवच्छेदेन समबन्धी ही करण होता है उसका व्यापारवान होना न होना कोई मायने नहीं रखता । कुछ ऐसा ही सुझाव **न्यायतत्त्वालोक** के लेखक वाचस्पति मिश्र द्वितीय भी देते हैं । इनका कथन है कि व्यापार का भी करण कोटि में अन्तर्भाव होता है [२१]। अर्थात् यद्यपि व्याप्तिज्ञान परामर्शात्मक व्यापार के द्वारा अनुमिति के प्रति करण होता है तथापि परामर्श के व्यापार होने के कारण उसे भी करण मान लिया जाता है या माना जा सकता है । शायद कुछ प्राचीन नैयायिक तर्क को परामर्श का व्यापार मानते थे , इसी कारण मणिकण्ठ मिश्र ने **न्यायरत्न** में तर्क के परामर्शव्यापारत्व का खण्डन तथा व्याप्तिज्ञान के अनुमितिकरणत्व का मण्डन किया है [२२]। उदयनाचार्यजी ने भी परामर्श के बाद विरोधी प्रमाण के सद्भाव और असद्भाव की आशङ्का से अनुमिति में मुहूर्त भर विलम्ब होने का उल्लेख किया है [२३]। तर्क को व्यापार मानकर उस विलम्ब की व्याख्या की जा सकती है । किन्तु परम्परागतरूप से यही मान्य है कि परामर्श का कोई व्यापार नहीं सम्भव है । इसलिए परामर्श को अनुमिति के प्रति करण मान पाना सम्भव नहीं लगता है । इसीलिए रुचिदत्त मिश्र लिङ्गपरामर्श पद का अर्थ व्याप्तिज्ञान करते हैं, व्याप्तिज्ञान होने की स्थिति ही लिङ्गत्वेन परामर्श है अतः उसे लिङ्गपरामर्श कहा जाता है [२४]। गङ्गेश ने ख़ुद भी परामर्शप्रकरण में व्याप्तिज्ञान का अनुमिति के प्रति करणत्व प्रतिपादित किया है [२५]। अतः रुचिदत्त मिश्र का कथन स्वीकारयोग्य हो सकता है । किन्तु मैं अपने आप को रुचिदत्त मिश्र के कथन से सहमत नहीं पा रहा हूँ क्योंकि विचारणीय यह है कि व्याप्तिज्ञान का अनुमितिकरणत्व गङ्गेश अपने मत से बता रहे हैं या किसी अन्य विद्वान के मत से ? इस प्रश्न के उठने का कारण यह है कि जिस पैराग्राफ में गङ्गेशोपाध्याय व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति करण बता रहे हैं उस पैराग्राफ़ को *यत्तु* इस प्रतीक से उन्होंने शुरु किया है। यह विद्वानों

को अविदित नहीं है कि अपने मत को यत्तु इस तरह के प्रतीक से प्रारम्भ करने की परम्परा नहीं है । ऐसी स्थिति में यदि गङ्गेशोपाध्याय कोई मत यत्तु इस प्रतीक से प्रारम्भ कर रहे हैं तो निश्चय ही सन्देह होता है कि कहीं यह मत किसी और का तो नहीं है जिसे गङ्गेशोपाध्याय उद्धृत कर रहे हों । इसकारण तमाम टीकाकारों के अनुसार गङ्गेशोपाध्याय के मत में व्याप्ति ज्ञान की करणता प्रतिपादित होने पर भी मुझे गङ्गेशोपाध्याय के मत में लिङ्गपरामर्श की ही अनुमिति के प्रति करणता का पक्ष समुचित जान पड़ता है । मुझे ऐसा लगता है कि *यत्तु* इस प्रतीक से गङ्गेशोपाध्याय **न्यायरत्न** के प्रणेता मणिकण्ठ मिश्र के मत का उल्लेख उपेक्षा के साथ कर रहे हैं । मेरा यह मन्तव्य इस कारण भी है क्योंकि **तत्त्वचिन्तामणि** की उपलब्ध टीकाओं में प्राचीनतम टीका **प्रभा** के लेखक यज्ञपत्युपाध्याय ने व्याप्तिज्ञान को अनुमिति का करण मानने की बात तो दूर व्याप्ति ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण भी नहीं माना है । यज्ञपत्युपाध्याय का मत है कि व्याप्तिज्ञान परामर्शरूपी व्यापार के द्वारा ही अनुमिति के प्रति करण हो सकता है किन्तु परामर्श के पूर्व में नियमतः व्याप्ति का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है । ऐसी भी स्थिति हो सकती है जहाँपर परामर्श तो रहे मगर व्याप्ति का ज्ञान न रहे । जैसे जहाँपर विशकलित रूप से (अर्थात् अलग-अलग)व्यभिचाराभाव और सहचार का स्मरण करते हुए पक्ष में हेतु का वैशिष्ट्य और हेतु में व्यभिचाराभाव और सहचार दोनों वैशिष्ट्य का एक काल में परामर्शात्मक मानस ज्ञान होता है ,वहाँ पर परामर्श तो है किन्तु व्याप्ति का ज्ञान परामर्श के पूर्व नहीं है । उक्त ज्ञान के परामर्शात्मक होने के कारण उस ज्ञान से अनुमिति का अपलाप नहीं किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना भी आख़िर किस तरह से सम्भव हो सकेगा ? यदि अनुमिति के पूर्व नियम से व्याप्तिज्ञान रहता तभी व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना सम्भव होता और तदुपरान्त ही व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति करण मानना भी सम्भव होता । किन्तु यहाँपर तो व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना भी सम्भव नहीं हो पा रहा है । इस कारण व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना भी सम्भव नहीं हो पा रहा है तो वह अनुमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है?[२६]यह ज्ञातव्य है कि व्यभिचाराभाव और सहचार मिलकर ही व्याप्ति होती है । दोनों का पृथक् -पृथक् ज्ञान होने की स्थिति में व्याप्ति का ज्ञान तो नहीं ही सम्पन्न हुआ । इसलिए व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना सम्भव नहीं है । किन्तु इस यज्ञपति उपाध्याय के मत को बहुत स्वीकृति और प्रसिद्धि

नहीं मिल सकी । परवर्ती टीकाकारों ने यज्ञपति उपाध्याय के मत का खण्डन बहुत ही जोश से किया । उनमें प्रमुख हैं पक्षधर मिश्र,रुचिदत्त मिश्र आदि । उनसे परवर्ती बहुत से विद्वानों ने व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति के प्रति करण माना । **कारिकावली** में विश्वनाथ पञ्चानन कहते हैं कि –"परामर्श तो अनुमिति में व्यापार बनता है और करण बनता है व्याप्तिज्ञान "।[२७] यज्ञपति उपाध्याय द्वारा उठायी गयी आपत्ति पर इन विद्वानों ने विचार न किया हो ऐसा होना तो नहीं चाहिए । ऐसा लगता है कि उक्त स्थल में प्रथमतः व्यभिचाराभाव और सहचारस्मरण से व्याप्ति का ज्ञान होता है और तदुपरान्त परामर्श स्वीकारा जाता है । ऐसा मानने पर अनुमिति में व्याप्तिज्ञान को करण मानना सम्भव हो सकता है । इस तरह न्यायपरम्परा में अन्ततः व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति के प्रति करण माना गया है । हालाँकि इसका मूल विवादास्पद है ।

ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण क्यों न मान लिया जाए ?

नैयायिकों में कुछ नैयायिक ऐसे भी हुए हैं जो ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण मानने के पक्षपाती हैं । गङ्गेशोपाध्याय ने इनके मत का खण्डन करते हुए अपने पक्ष को रखा है । गङ्गेशोपाध्याय की युक्ति यह है कि अतीत और अनागत हेतु के ज्ञान से भी अनुमिति का उत्पन्न होना दृष्टि में आता है । अतीत और अनागत धूम के ज्ञान से भी अग्नि की अनुमिति होती है । यदि ज्ञायमान लिङ्ग अनुमिति में करण होता तो ऐसी स्थिति में अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अनुमिति के प्रति करण होनेवाला ज्ञायमान लिङ्ग तो उस स्थल पर है ही नहीं । परन्तु ऐसी स्थिति में भी अनुमिति की उत्पत्ति देखी जाती है । इस कारण यही मानना उचित है कि अनुमिति के प्रति ज्ञायमान लिङ्ग करण नहीं हुआ करता है । चूँकि कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में करण का रहना अनिवार्य होता है , इस कारण यदि अनुमिति के प्रति ज्ञायमान लिङ्ग करण होगा तो अनुमिति की उत्पत्ति के पूर्वकाल में अतीत और अनागत हेतुओं की सत्ता के सर्वथा ही असम्भावित होने के कारण कभी भी अतीत और अनागत हेतुओं के द्वारा अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए । अतीत और अनागत धूम तो वर्तमानकालीन अनुमिति के पूर्वक्षण में किसी तरह से भी नहीं रह सकते हैं ।[२८] उदाहरण के रूप में देखें तो किसी ने विगत दिन कहीं पर धूम को देखा था और आज उसे उस धूम का स्मरण हो रहा है और उस स्मरण के वशीभूत उसको आज यह अनुमान होता है कि -*"कल उस स्थल पर वह्नि था क्योंकि वहाँ पर धूम था "* ऐसा अनुमान तभी सम्भव है अगर व्याप्तिज्ञान की या परामर्श की अनुमिति के प्रति कारणता स्वीकारी जाये ।

अगर ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति के प्रति करण माना जाये तो उक्त स्थल में अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि अनुमिति के प्रति कारणीभूत ज्ञायमान लिङ्ग तो आज की तारीख में है ही नहीं । अतीत धूमादि या तो विनष्ट हो चुके हैं या तो अभी अस्तित्व में ही नहीं आये हैं । अनुमिति के प्राक्क्षण में अतीत और अनागत हेतुओं की सत्ता के सर्वथा ही असम्भावित होने के कारण ज्ञायमान लिङ्ग को अनुमिति का करण नहीं स्वीकारा जा सकता है ।

मन को ही अनुमान क्यों न मान लिया जाये ?

नव्यन्यायपरम्परा के अप्रतिम चिन्तक रघुनाथ शिरोमणि ने व्याप्तिज्ञान के अनुमानत्व को खण्डित कर दिया है । रघुनाथ शिरोमणि का कथन है कि विशिष्टविषयकत्वेन यदि कारणत्व होता है तो केवल विशेषणादिविषयकत्वेन कारणत्व का स्वीकार नहीं किया जाता है क्योंकि तदवच्छिन्न कार्य के प्रति तदवच्छिन्नकार्यजनकतावच्छेदका न्तराव्यापकरूप से ही जनकत्व होता है । अर्थात् यदि एक कार्य के प्रति किन्हीं ऐसे दो व्यक्तियों की कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है जिसमें कि एक कारणता का अवच्छेदक रूप दूसरे कारणतावच्छेदकरूप का व्यापक हो । और यदि कहीं पर ऐसा होता है तो उनमें से एक निश्चय ही अन्यथासिद्ध होता है ।[२१] परामर्श की अनुमिति के प्रति कारणता स्वीकार करनी आवश्यक है क्योंकि परामर्श के बग़ैर व्याप्तिज्ञान अनुमिति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है । परामर्श की अनुमिति के प्रति कारणता का अवच्छेदक रूप होता है व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताविषयकत्व क्योंकि परामर्श इसी रूप से अनुमिति के प्रति कारण बनता है व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताविषयकत्वेन ही परामर्श की अनुमिति के प्रति कारणता होती है । यदि अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान की भी कारणता स्वीकारी जाये जो कि व्याप्तिज्ञान की अनुमिति के प्रति करणता स्वीकारने के लिए ज़रूरी होगा, तो अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान की कारणता व्याप्तिविषयकत्वेन ही स्वीकारनी होगी। अब अनुमिति के प्रति व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताविषयकत्व और व्याप्तिविषयकत्व इन दो रूपों से कारणता स्वीकार करनी पड़ेगी । व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताविषयकत्व का व्यापक होता है व्याप्तिविषयकत्व , इस कारण इन दोनों रूपों से कारणता स्वीकारना सम्भव नहीं है । इसमें व्यापकरूप से कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है । व्यापकरूपावच्छिन्न अनुमिति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान अन्यथासिद्ध होने के कारण कारण ही नहीं हो सकता है करण बनना तो बहुत दूर की बात है । तो ऐसी स्थिति में अनुमिति के प्रति क्या करण होगा ? तो

रघुनाथ शिरोमणि का उत्तर है कि अनुमिति के प्रति मन ही करण होता है । यदि दूसरा करण सम्भव नहीं होने से व्याप्तिज्ञान को ही अनुमिति के प्रति करण मानना चाहते हो तो समान तर्क से चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान के करणत्व की पारी आ जायेगी । चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यत्वज्ञान को कारण माना जाता है , किन्तु कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान को कोई भी चिकीर्षा के प्रति कारण नहीं मानता है । अपितु चिकीर्षा के प्रति मन को ही करण माना जाता है । यदि परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानने के साथ-साथ व्याप्तिज्ञान को भी अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहते हो तो समान युक्ति के आधार पर चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान को भी कारण और करण मानना आवश्यक हो जायेगा । जिस तरह व्याप्तिज्ञान का अनुमिति के साथ साक्षात् अन्वयव्यतिरेक नहीं है , परामर्श के माध्यम से ही अन्वयव्यतिरेक है उसी तरह कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान का भी चिकीर्षा के साथ साक्षात् अन्वयव्यतिरेक नहीं है । ऐसी परिस्थिति में दोनों स्थलों के लिए एक जैसा मानक होना चाहिए । यदि व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति करण मानते हो तो कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान को भी चिकीर्षा के प्रति करण मानना चाहिए । अगर कृतिसाध्यत्वज्ञानजनकज्ञान को चिकीर्षा के प्रति कारण नहीं मानते हो तो व्याप्तिज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मान पाना भी सम्भव नहीं है । इन दोनों ही स्थलों पर कार्यकारणभाव का स्वीकरण समानयोगक्षेम है। इस कारण अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान को करण न मानकर मन को ही करण मानना चाहिए ।[30]

इस रघुनाथ शिरोमणि के मत में यह सवाल होता है कि यदि मन अनुमिति के प्रति करण होता है तो मन तो प्रत्यक्ष प्रमा का करण होता है और ऐसी स्थिति में अनुमिति के भी प्रत्यक्ष प्रमा में अन्तर्भाव की पारी आ जायेगी और अनुमान का प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव होने लगेगा क्योंकि करण का भेद ही कार्यभेद का नियामक होता है । तो इस सवाल का उत्तर रघुनाथ शिरोमणि यह देते हैं कि यद्यपि अनुमान प्रमाण का इस तरह से प्रत्यक्षप्रमाण से भेद नहीं हो सकेगा । जो प्रत्यक्षप्रमाण होता है वही मन अनुमानप्रमाण भी हो रहा है तथापि प्रत्यक्ष प्रमा से अनुमिति प्रमा का अभेद होने की आपत्ति नहीं आती है क्योंकि अनुमितिप्रमा का प्रत्यक्षप्रमा से भेद प्रमाण से सिद्ध है । इसलिए अनुमिति के प्रत्यक्षप्रमा से विजातीय होने के कारण अनुमान प्रत्यक्ष से विजातीय है । परिगणन का उद्देश्य प्रमितिकरणों का विभाग करना नहीं है बल्कि प्रमितिकरणता का विभाग करना है । करणता का भेद ही प्रमाणपार्थक्य का प्रयोजक

होता है[३१]। इस कारण सुखादि की उत्पत्ति में करण होने के कारण मन को प्रत्यक्षप्रमाण भी कहा जाता है और अनुमितिप्रमा की उत्पत्ति में भी करण होने के कारण मन को अनुमान भी कहा जाता है ।

दूसरा सवाल यह है कि मन यदि अनुमिति का करण होता है तो अनुमितित्वावच्छिन्न की उत्पत्ति का नियामक क्या होगा ? तो इस सवाल का उत्तर यह है कि अनुमिति की सामग्री ही अनुमितित्वावच्छिन्न की उत्पत्ति की नियाम्भिक होगी । करण का वैलक्षण्य होना कार्यवैलक्षण्य के लिए ज़रूरी नहीं है । सामग्री के वैलक्षण्य होने से करणवैलक्षण्य न होने पर भी कार्यवैलक्षण्य सम्भव होता है ।[३२] प्रत्यक्षप्रमा का करण भी मन है और अनुमिति प्रमा का करण भी मन है , परन्तु सामग्री के भेद के कारण कार्यभेद उपपन्न होता है । जब प्रत्यक्ष की सामग्री होती है तो प्रत्यक्षप्रमा की उत्पत्ति होती है और जब अनुमिति की सामग्री होती है तो अनुमिति की उत्पत्ति होती है । इस तरह एक ही करण से सामग्री समवधान और असमवधान के आधार पर अलग-अलग कार्य की उत्पत्ति होने में कोई असौविध्य नहीं है ।

किन्तु यदि इस तरह से यदि मन को अनुमिति के प्रति करण माना जाये तब तो मन ही मानस प्रत्यक्ष और अनुमिति दोनों के प्रति करण होगा और ऐसी स्थिति में यदि कोई मनःकरणक ज्ञान उत्पन्न हुआ तो उस ज्ञान के मानसप्रत्यक्षत्व या अनुमितित्व का निर्धारक क्या होगा ? मन तो उस ज्ञान के मानसप्रत्यक्षत्व या अनुमितित्व का निर्धारक नहीं हो सकता है क्योंकि मन तो अनुमिति और मानस प्रत्यक्ष दोनों के प्रति ही समान रूप से करण होता है । इसलिए अन्ततः ज्ञानसामग्री को ही ज्ञान के मानसप्रत्यक्षत्व या अनुमितित्व की निर्धारक मानना आवश्यक होगा । ज्ञान के अनुमितित्व की निर्धारक सामग्री होगी लिङ्गपरामर्शरूप सामग्री । ऐसी स्थिति में इस पक्ष में लिङ्गपरामर्श को ही अनुमानप्रमाण मानना चाहिए ऐसा मुझे प्रतीत होता है क्योंकि लिङ्गपरामर्श ही ऐसी स्थिति में अनुमान का असाधारण कारण बनता दिखलायी देता है । जैसा कि मथुरानाथ ने कहा है कि --"*यदसाधारणं सहकार्यासाद्य मनो बहिर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वादिति भावः* "(पृ.१९० **तत्वचिन्तामणि, अनुमानखण्डरहस्य**)जिस असाधारण सहकारी को पाकर मन बाहरी वस्तुओं को विषय करने वाली प्रमा को उत्पन्न करता है उसे ही प्रमाणान्तर कहते हैं । मथुरानाथ का कथन महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मन एक ऐसा कारण है जो समस्त ज्ञानों के प्रति कारण बनता है । तो जो मन अन्य ज्ञानों के प्रति साधारण कारण होता है वही मन अनुमिति के प्रति असाधारण कारण

होता है । यह ध्येय है कि नैयायिकों के अनुसार साधारणतया साधारण कारण और असाधारण कारण को भिन्न होना चाहिए । इसका मतलब यह होता है कि अनुमिति के प्रति परामर्श को व्यापाररहित होने पर भी करण मानना पड़ेगा। यही आपत्ति पूर्व में भी उठायी गयी थी । मेरा मानना यह है कि इसे स्वीकार किया जा सकता है । यह स्वीकार करने में लाभ यह है कि गङ्गेशोपाध्याय के कथन को हम सीधे -सीधे व्याख्यायित कर सकते हैं । हमारा मानना है कि गङ्गेशोपाध्याय के कथन को हमें सीधे -सीधे ही व्याख्यायित करना चाहिए ।

सन्दर्भसूची

१.प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानमन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।

पृ.७ ,न्यायदर्शन (न्यायभाष्य)सुनन्दाव्याख्यासहित

२.लक्षणमितरभेदानुमापकरूपम् ,स्वरूपं लक्षणग्रहोपयोगि , अनुमितिकरणतावच्छेदकरूपं तच्च लिङ्गपरामर्शत्वम् । पृ.२४, अनुमितिगादाधरी

३.तत्र लक्षणस्वरूपप्रामाण्यादिभिरनुमाने निरूपणीये करणस्य क्रियाभेदभिन्नमूर्तिकतया क्रियालक्षणपूर्वकं तल्लक्षणमाह-*व्याप्तीत्यादिना* । तत्रैव

४.तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानमुमितिस्तत्करणमनुमानम् । तत्रैव

५.तच्च लिङ्गपरामर्शो नतु परामृश्यमानं लिङ्गमिति वक्ष्यते । तत्रैव

६.अस्ति तावदनुमिनोमीति प्रतीतिसाक्षिको ज्ञानविशेषो यत्र कारणमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्यपरामर्शः । पृ.१२५६ ,त.चि.दीधिति अनुमितिगादाधरी

७.उपाध्यायव्याख्यामुपन्यस्यति *अत्रे*त्यादिना आहुरन्तेन । पृ.२५ ,अनुमितिगादाधरी

अत्र व्याप्तिविशिष्टत्वपक्षधर्मत्वसामानाधिकरण्यवगाहिज्ञानजन्यत्वमर्थः । कर्मधारयोत्तर-भावप्रत्ययस्य पदार्थतावच्छेदकद्वयसामानाधिकरण्यवचनत्वात् । त.चि.दीधिति तत्रैव

८.सांसर्गिकविषयतायाः सम्बन्धान्तरावच्छिन्नत्वं निर्युक्तिकमित्याशयेन दूषयति *परामर्शेनेति*

पृ.३५ ,अनुमितिगादाधरी

तत्र , परामर्शेन नियमतो व्याप्तिवैशिष्ट्यादिसामानाधिकरण्यग्रहे मानाभावात् ,गौरवेण **तद्विषयत्वेनाहेतुत्वात्** । पृ. ३५ , त.चि. दी.अनुमितिगादाधरी

९.मिश्रोक्तद्वन्द्वपक्षं दूषयितुमुपन्यस्यति *व्याप्ती*ति । पृ.४३ ,अनुमितिगादाधरी

व्याप्तिविशिष्टश्च पक्षधर्मश्चेति द्वन्द्वाश्रयणाद् व्याप्तिविशिष्टत्वपक्षधर्मत्वावगाहिज्ञानजन्यत्वं **लभ्यते ,पदार्थयोरभेदेपि** पदार्थतावच्छेदकभेदेनैव प्रमाणप्रमेयादिसूत्रेऽन्यत्र च द्वन्द्वदर्शनात्।

.....न चैवमालोको वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वतः इति ज्ञानजन्येऽतिप्रसङ्गः , एकत्र तदुभयावगाहित्वस्योक्तत्वादिति केचित् । पृ.४३ ,त.चि. दी.अनुमितिगादाधरी

१०.तदप्यसत् , एवमपि धूमो वह्निव्याप्यो द्रव्यं पर्वतवृत्तीतिज्ञानजन्येऽतिप्रसङ्गात् ।

पृ. ४७ ,त.चि. दी.अनुमितिगादाधरी

११.एकरूपेण तदुभयावगाहित्वस्योक्तौ च मीमांसकमतानुप्रवेशात् ।

पृ.४७ ,त.चि. दी.अनुमितिगादाधरी

मीमांसकमतानुप्रवेशादिति । मीमांसकैर्यथा वह्निव्याप्यवानयमित्यादिव्याप्यतावच्छेदकरूपानवगाहपरामर्शादनुमितिरपलप्यते , धूमो वह्निव्याप्यो धूमवान् पर्वतः इत्यादिसमूहालम्बनाच्चानुमितिरभ्युपेयते ,तेषामेकरूपेण व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानस्यानुमितिहेतुत्वात् , तथोक्तरीत्या लक्षणं व्याचक्षाणेनापि तत्र तत्रानुमितिरपलपनीया स्वीकार्या च । अन्यथाव्याप्त्यतिव्याप्त्योः प्रसङ्गादित्यर्थः । पृ.४७ ,अनुमितिगादाधरी

१२.मिश्राद्युक्तं ज्ञानान्तकर्मधारयपक्षमवलम्ब्य समाधातुमुपक्रमते *व्याप्तिविशिष्ट*मिति ।

पृ. ५० , अनुमितिगादाधरी

व्याप्तिविशिष्टं व्याप्तिप्रकारकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं तज्जन्यमिति तु स्यात् ।

पृ.५० , त.चि. दी.अनुमितिगादाधरी

१३.पक्षे धर्मतया हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन ज्ञानमिति तृतीयासमासगर्भसप्तमीसमासादरात् पक्षविशेष्यकत्वावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकत्वविशिष्टज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानपदार्थः । पक्षधर्मतया इत्यत्र तृतीयाया एवावच्छिन्नप्रकारताकत्वार्थकत्वात् तत्र व्याप्तिप्रकारताकत्वान्वये च हेतुनिष्ठनिरुक्तप्रकारकत्वावच्छिन्नव्याप्तिप्रकारकत्ववज्ज्ञानलाभः। व्याप्तिहेत्वोः साक्षाद्विशेष्यविशेषणभावेन तद्विषयकत्वयोरनुमितिजनकपरामर्शेऽवच्छेद्यावच्छेद्यभावोऽक्षत एवेति सर्वत्रानुमितौ लक्षणसमन्वयः । पृ. ५१ , अनुमितिगादाधरी

१४.नानामुख्यविशेष्यताशालिज्ञानं समूहालम्बनम् । अनेकत्र उद्धृत

१५.तच्च पक्षे व्याप्य इति ज्ञानं पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानं वा ।

पृ. २८७-२८८ ,न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

१६.वस्तुतस्त्वनुभवानुरोधात् पक्षविशेष्यकपरामर्शस्यैव हेतुत्वमत एववह्निव्याप्यवानयमित्याकारकः पक्षविशेष्यक एवोपनयः सर्वसम्मतः इति ध्येयम् । पृ.२८९ , दिनकरी

१७.अनुमितिस्तु पक्षे व्याप्य इति ज्ञानात् पक्षे साध्यमित्याकारिका , पक्षो व्याप्यवानिति ज्ञानात् पक्षः साध्यवानित्याकारिका । द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्येवानुमितरित्यन्ये

पृ. २८८ ,न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

१८.व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम् । पृ.४० , तर्कसङ्ग्रह न्यायबोधिनी

१९.अत्र यद्यपि मणिकृन्मते व्याप्तिज्ञानस्यैव करणतया तच्च लिङ्गपरामर्श इति मूलानुपपत्तिः तथापि मतान्तरेणेदम् ।   पृ.३७ ,त.चि.प्रकाश अनुमानखण्ड

२०.....लिङ्गपरामर्शरूपमनुमानं भवति । कः पुनरनुमानार्थः?अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थः
पृ. २९२ न्यायवार्तिक

२१.व्यापारस्यापि करणकोटावन्तर्भावात् । पृ.७० , न्यायतत्त्वालोक

२२.तत्र लिङ्गपरामर्शः करणमनुमितौ । तच्च व्यापारवद्भवति । व्यापारस्य चान्यथानुपपत्त्या तर्क एव तद्व्यापार इत्यनुमितौ तर्कस्य साक्षात्कारणत्वमिति वदन्ति , तदसत्, तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य साक्षादनुमितिकारणत्वेनान्यथोपपत्तेः , एतत्कारणीभूतस्यैव व्याप्तिस्मरणादेरनेनैव व्यापारेणानुमितिकरणत्वात् । पृ. ८ , न्यायरत्न

२३.तदुक्तं गुणकिरणावल्यामाचार्यचरणैः *–विरोधिप्रमाणसदसद्भावशङ्कया मुहूर्तमनुमितौ विलम्बन्तेऽनुमातारः* इति । पृ.४२३ , त.चि.प्रकाशः अनुमानखण्ड

२४.यद्वा लिङ्गपरामर्शो लिङ्गत्वेन परामर्शो व्याप्तिज्ञानमिति यावत् ।
पृ.३७, त.चि.प्रकाशः अनुमानखण्ड

२५.यत्तु व्यापाराभावान्न परामर्शः करणमिति , तथैव ,किन्तु व्याप्तिज्ञानं करणं परामर्शो व्यापारः ।   पृ. १३१२ , तत्त्वचिन्तामणि (अनुमितिगादाधरी)

२६.अत्र ब्रूमः –व्याप्तिज्ञानं परामर्शरूपव्यापारद्वारा नानुमितिकरणं सम्भवति यत्र विशकलितं व्यभिचाराभावं सहचारं च स्मरतः पक्षे लिङ्गवैशिष्ट्यस्य लिङ्गे च तदुभयवैशिष्ट्यस्यैकदेव मानसादिज्ञानं परामर्शात्मकमनुमितौ जनकं जायते , तत्पूर्वं तदभावात् ।
पृ. १०५ ,तत्त्वचिन्तामणिप्रभा अनुमानखण्ड

२७.व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् । कारिकावली का.६६

२८.अत्रोच्यते अतीतानागतधूमादिज्ञानेऽप्यनुमितेर्दर्शनान्न लिङ्गं तद्धेतुः , व्यापारपूर्ववर्तितयोरभावात् । पृ.१३०१ , तत्त्वचिन्तामणि (अनुमितिगादाधरी)

२९.विशिष्टविषयकत्वेन कारणत्वे केवलविशेषणादिविषयकत्वेन न हेतुत्वं तदवच्छिन्नकार्यजनकवच्छेदकान्तराव्यापकरूपेणैव तदवच्छिन्नं प्रति जनकत्वात् । दर्शयिष्यते हि तथान्यथासिद्धत्वम् । पृ.१३१८ ,तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (अनुमितिगादाधरी)

३०.न चात्र करणान्तरानसम्भवादगत्या परामर्शजनकज्ञानस्य तथात्वं कल्प्यते । चिकीर्षां प्रत्यपि कृतिसाध्यताज्ञानजनकज्ञानस्य तथात्वापत्तेः । तत्र मन एव करणमिति चेत् ? इहापि तदेवास्तु । पृ.१३२२ ,तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (अनुमितिगादाधरी)

३१.कथं तर्हि प्रमाणविभाग इति चेत् ? करणे विशेषकक्रियावैजात्यविशेषादिति विभाव्यताम्
पृ.१३२३ ,तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (अनुमितिगादाधरी)

करणताभेदस्यैव प्रमाणपार्थक्यप्रयोजकत्वादिति भावः । पृ.१३२३ ,अनुमितिगादाधरी

३२.तदवच्छिन्नोत्पत्तिनियामकं चेत् ? तत्सामग्री । करणाभेदे कथं कार्यवैजात्यमिति चेत् ? सामग्रीवैलक्षण्यात् । पृ.१३२२ ,तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (अनुमितिगादाधरी)

३३. यदसाधारणं सहकार्यासाद्य मनो बहिर्गोचरां प्रमां जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वादिति भावः । पृ. १९० , तत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्डरहस्य

***

२

अनुमान का प्रामाण्य

अनुमान का प्रामाण्य न स्वीकार करने के लिए चार्वाकों ने कुछ मौलिक प्रश्न उठाये हैं । चार्वाकों का कहना है कि अनुमान का प्रामाण्य तभी सम्भव है यदि किसी भी तरह से व्याप्ति का निश्चय सम्भव हो । व्याप्तिनिश्चय न होने पर किसी भी तरह से अनुमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जा सकता है । समस्या यह है कि व्याप्ति का ग्रहण ही किसी भी तरह सम्भव नहीं है । साहचर्यरूपी सम्बन्ध में यदि कोई भरोसा करे तो यह सिर्फ़ मूर्खता ही होगी क्योंकि सैकड़ों बार जिनका सहचार देखा जा चुका है उनमें भी व्यभिचार सम्भव है और देखा जाता है। देश ,काल ,दशा के भेद से वस्तुओं का स्वभाव बदलता रहता है । इस कारण अविनाभावनियमरूपा व्याप्ति ही सम्भव नहीं है । अगर किन्हीं दो पदार्थों में अविनाभाव या व्याप्ति हो भी तो उसका परिच्छेदन किसी असर्वज्ञ के द्वारा शक्य नहीं है । इसका कारण यह है कि यदि किन्हीं दो पदार्थों में अविनाभाव होने पर भी उस अविनाभाव का परिच्छेदन विना तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को देखे सम्भव नहीं है क्योंकि जबतक समस्त धूमव्यक्तियों का और समस्त वह्निव्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता , तबतक यह आशङ्का होती ही रहेगी कि सम्भव है कोई धूम अग्नि के विना ही उत्पन्न हुआ हो । इस कारण समस्त धूमव्यक्तियों का और समस्त वह्निव्यक्तियों का प्रत्यक्ष किए विना कथमपि व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकता है । आप जैसे दिव्यचक्षु से सम्पन्न लोग जो सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा भूत,भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की चीजों को देख लिया करते हैं , उन लोगों को अनुमान प्रमाण की आवश्यकता ही क्यों कर होगी ? आप तो सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा ही वह्नि को जान सकते हैं । फिर आपको अनुमान की क्या आवश्यकता है ? चूँकि सामान्य कोई प्रमाणसिद्ध वस्तु नहीं है अतः सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा भी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है । भूयोदर्शन के द्वारा भी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है क्योंकि हजारों बार सहचार को देखने के बाद भी व्यभिचार का दर्शन अनुभव में आता है । एक ही वस्तु अनेक बार देखकर जैसी निर्धारित की जाती है देश काल और अवस्था के भेद से वही वस्तु पुनः दूसरे रूप में

दूसरे प्रकार से दिखलायी पड़ती है । भूयोदर्शन से आप यह तो जान सकते हैं कि धूम अग्नि का सहचारी है, किन्तु आप यह कैसे जानेंगे कि धूम अग्निरहित स्थलों में नहीं रहेगा ? आप इसको कथमपि भूयोदर्शन के द्वारा नहीं जान पाएँगे। केवल सहचारदर्शनमात्र से हेतु साध्य का साधक नहीं हो सकता है क्योंकि नियतसाहचर्य साध्य का गमक होता है साहचर्यमात्र नहीं । नियतत्व तो तदन्याभावपूर्वक ही होता है। इस कारण या तो व्याप्तिरूप नियम होता नहीं है और यदि होता है तो उसकी ज्ञप्ति किसी भी तरह से उपदर्शित कारणों से सम्भव नहीं है । इसलिए अनुमान के प्रमाणत्व की दुराशा को छोड़ दीजिए । इसी कारण अनुमानों की अप्रमाणता को देखते हुए मनीषी लोगों ने अनुमान की प्रमाणता को नकारते हुए अनुमान पर भरोसा न रखने की सलाह देते हुए कहा है कि- *"विषम पथ पर हस्तस्पर्श के सहारे से धावन करनेवाले का जैसे विनिपात होना निश्चित रहता है ,उसी प्रकार अनुमान को प्रधान मानकर उसकी सहायता से दौड़नेवाले का विनिपात भी दुर्लभ नहीं है ।"*[1]

उदयन ने कुछ सङ्क्षेप में इन आपत्तियों में से मूलभूत समस्या को उठाया है कि यदि हेतु में कोई विशेष नहीं है तो कोई व्यभिचरित होता है और कोई व्यभिचरित नहीं होता है, इसका निर्णय कैसे किया जायेगा ? यदि स्वभाववश ही कोई व्यभिचरित होता है और कोई व्यभिचरित नहीं होता है, तो इस प्रकार स्वभाव ही विशेष है। धूम का स्वभाव है कि वह व्यभिचारी नहीं होता है और जलादि का स्वभाव है कि वह व्यभिचारी होता है , तो किस चिह्न से हम इसे जान सकते हैं कि हेतु का स्वभाव व्यभिचारी होने का है या नहीं? इसे भली प्रकार से सोचना पड़ेगा । भूयोदर्शन के द्वारा हम यह नहीं जान सकते हैं कि हेतु का स्वभाव व्यभिचारी होने का है या नहीं क्योंकि शतशः प्रवृत्त भूयोदर्शन का भी भङ्ग देखा जाता है। यदि आप कहो कि जहाँ पर भूयोदर्शन का भङ्ग नहीं देखा जाता है वहीं पर हम जान लेंगे कि हेतु का स्वभाव अव्यभिचारी होने का है , तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अभी भूयोदर्शन का भङ्ग नहीं हो रहा है तो सभी जगहों पर किसी भी समय में उस भूयोदर्शन का भङ्ग नहीं होगा इसकी ज़िम्मेदारी कौन ले सकता है ? इस कारण आपको उपाधि और उपाधिविरह को व्यभिचार और अव्यभिचार का आधार मानना चाहिए । अगर उपाधि उपलब्ध हो रही है तो हेतु को व्यभिचारी और अगर उपाधि उपलब्ध नहीं हो रही है तो हेतु को अव्यभिचारी मानना चाहिए । किन्तु मुश्किल यह है कि उपाधि के विरह का निश्चय ही अशक्य है और ऐसी स्थिति में व्याप्ति का निश्चय कैसे किया जा सकता है[2] ?

गङ्गेशोपाध्याय भी चार्वाक द्वारा उठायी गयी आपत्तियों को उठाते हुए अपनी बात वहीं से शुरु करते हैं , जहाँ पर उदयन ने अपनी बात समाप्त की थी । उदयन ने आख़री आपत्ति उठायी थी कि उपाधि के विरह का निश्चय ही अशक्य है , गङ्गेशोपाध्याय भी अपनी बात वहीं से शुरु करते हुए कहते हैं कि –अनुमान प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षयोग्य उपाधियों के अभाव का निश्चय तो किसी तरह से योग्यानुपलब्धि के द्वारा हो भी सकता है किन्तु प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधियों के अभाव का निश्चय कैसे किया जायेगा ? किसी भी तरह से प्रत्यक्ष के अयोग्य उपाधियों के अभाव का निश्चय करना सम्भव नहीं है । प्रत्यक्षयोग्य घट आदि की अनुपलब्धि से प्रत्यक्षयोग्य घट आदि के अभाव का निश्चय किया जा सकता है और कर लिया जाता है, किन्तु प्रत्यक्षायोग्य पिशाचादि के अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष के आधार पर कथमपि नहीं किया जा सकता है । इसी रीति से जिन उपाधियों की प्रत्यक्षयोग्यता होती है उन उपाधियों के अभाव का निश्चय योग्यानुपलब्धि के साहाय्य से प्रत्यक्ष के द्वारा किसी तरह से किया जा सकता है किन्तु जिन उपाधियों की प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है उनके अभाव का प्रत्यक्ष किस तरह से किया जा सकेगा? उन उपाधियों के अभाव का निश्चय करने का कोई साधन न होने के कारण जहाँ कहीं पर भी अनुमान किया जा रहा है वह सारा अनुमान अप्रामाणिक ही होगा क्योंकि वहाँ पर हर जगह अयोग्य उपाधि की आशङ्का तो बरकरार ही रहेगी और अयोग्य उपाधि की आशङ्का रहने के कारण वहाँ पर व्यभिचार की आशङ्का होगी व्यभिचारसन्देह रहेगा । इस कारण से वह सारा अनुमान अप्रमाण की कोटि में ही अन्तर्भूत हो पाता है । इस कारण प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं है । चूँकि शतशः सहचरितों का भी व्यभिचार देखा जाता है इसलिए भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है ।

किन्तु अगर प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं है तो धूम को देखकर वह्नि के लिए लोगों की प्रवृत्ति क्योंकर सम्भव होती है धूम को देखकर वह्नि ? धूम को देखकर वह्नि का व्यवहार किस तरह से सम्भव होता है ? पर्वतादि में धूम को देखकर बुद्धिमान लोग पर्वत में वह्नि है ऐसा वाक्यप्रयोग करते देखे जाते हैं । कोई भी ज्ञान प्रमाण है या नहीं इसका निर्धारण करनेवाला हमारी प्रवृत्ति का साफल्य और असाफल्य ही होता है । धूम को देखकर वह्न्यर्थी की प्रवृत्ति के साफल्य को देखते हुए धूम को देखकर होने वाले वह्निज्ञान को प्रमाण ही मानना चाहिए । तो इस सवाल के उत्तर में चार्वाक का कथन यह है कि वस्तुतः तो अनुमान का प्रामाण्य नहीं ही होता है किन्तु प्रवृत्ति के साफल्य से अनुमान के प्रामाण्य का अभिमान मात्र होता है । अनुमान के प्रमाण न होने पर भी

धूमादिदर्शन से वह्नि आदि का व्यवहार सम्भावनामात्र से सम्भव होता है । चूँकि धूम को देखकर जो वह्नि की सम्भावना होती है , वह्नि की प्राप्ति के लिए जब हम पर्वत के पास जाते हैं तो वह्नि प्राप्त हो जाता है इसलिए अनुमान के प्रामाण्य का अभिमान होता है।[३]

न्यायमञ्जरी के लेखक जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य और गङ्गेशोपाध्याय द्वारा चार्वाक की दृष्टि से उठायी गयी आपत्तियों को हम इस तरह से व्यवस्थित रूप से रख सकते हैं -

१)किन्हीं दो वस्तुओं में या पदार्थों में व्याप्तिरूप कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिए हम किसी पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का अनुमान नहीं कर सकते हैं और अगर हम अनुमान करते हैं तो वह अनुमान अवैध है ।

२)अगर किन्हीं दो पदार्थों में कोई सम्बन्ध हो भी तो उस सम्बन्ध को हम तब तक नहीं जान सकते हैं जब तक कि संसार के समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष न कर लिया जाये क्योंकि बग़ैर उसके व्यभिचारशङ्का का निवारण नहीं हो सकता है ।

३)यदि उपाधि के अभाव से व्यभिचाराभाव का निश्चय करना चाहें और इस तरह से व्यभिचारशङ्का दूर हो जाती है ऐसा कहें तो यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि उपाधि के अभाव का निश्चय ही अशक्य होने के कारण इस तरह से भी व्याप्ति का निश्चय या व्यभिचाराभाव का निश्चय शक्य नहीं है ।

४)यदि धूमदर्शन के बाद वह्न्युद्देश्यक प्रवृत्ति होने के कारण अनुमान को प्रमाण मानना चाहें तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि वह प्रवृत्ति भी अनुमान के प्रमाण होने के कारण नहीं होती है अपितु साम्भावनामात्र से वह प्रवृत्ति सम्भव होती है ।

इस तरह हम देखते हैं कि अनुमान को प्रमाण माने विना भी धूम को देखकर वह्न्यर्थी की प्रवृत्ति को व्याख्यायित किया जा सकता है तो आख़िर अनुमान को प्रमाण किसलिए माना जाये ?

जयन्तभट्ट ने अनुमान के प्रामाण्य के ऊपर और भी आपत्तियाँ उपस्थापित की हैं । जैसे कि यदि अनुमान के द्वारा विशेष का साधन किया जा रहा है तो इसका अनुगम कैसे किया जा सकता है ? और अगर सामान्य का साधन किया जा रहा है तो व्याप्तिग्रहण के समय ही धूममात्र का वह्निमात्र के साथ व्याप्ति का ग्रहण हो चुका है , यहाँ पर भी धूममात्र वह्निमात्र से व्याप्त ही गृहीत हो रहा है । इस कारण इस पक्ष में **यहाँ पर** सिर्फ़ वह्नि की स्मृति ही हो रही है कुछ भी अपूर्व नहीं है ।[४]

एक और आपत्ति जयन्त भट्ट ने उठायी है कि हर जगह पर कोई न कोई विरोधी अनुमान विपरीतसाधनार्थ उठाया जा सकता है जो कि इष्टविघातक बनकर उभरेगा । अथवा प्रथमप्रमाण के समकक्ष होने के कारण संशय का आपादक होगा । जयन्त भट्ट का आशय है कि हर स्थल पर विरुद्धाव्यभिचारिता हो सकती है ।[५]

जयन्त भट्ट द्वारा उठायी गयी इन दोनों ही आपत्तियों में वस्तुतः किसी न किसी रूप में अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए प्रश्न उठाया गया है । इनमें प्रथम में व्याप्तिग्रह को स्वीकृति प्रदान करते हुए प्रश्न उठाया गया है और दूसरी में विरोधी अनुमान के सम्भव होने की बात कही गयी है । इस कारण हमने इन आपत्तियों को नहीं उठाया है –

१)जयन्त भट्ट ,उदयन और गङ्गेशोपाध्याय द्वारा चार्वाकपक्ष से उठायी गयी प्रमुख आपत्तियों में से प्रथम आपत्ति पर हम विचार करें तो हम पाते हैं कि चार्वाक का यह कथन भी अनुमान का रूप ले लेता है । चार्वाक जब कहता है कि अविनाभाव नियम नहीं है देश , काल और अवस्था के भेद से वस्तुओं की शक्ति भिन्न होने के कारण तो वह अनजाने में एक अनुमान ही प्रदर्शित कर रहा होता है क्योंकि इस कथन के द्वारा भी देश , काल और अवस्था के भेद से वस्तुभेद को हेतु बनाया गया है और उस हेतु के द्वारा अविनाभावनियम का अभाव सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है । वस्तुतः इस प्रश्न का ऐसा उत्तर नहीं दिया गया है । जयन्त भट्ट कहते हैं कि अनुमान को प्रमाण नमानने पर प्रत्यक्ष से भी लोकयात्रा का निर्वाह होना असम्भव हो जायेगा ।[६] दूसरी बात यह है कि संसार में एक पदार्थ को देखकर पदार्थान्तर की बुद्धि होती है पदार्थान्तर का आगामी प्रवृत्ति के द्वारा प्रमाणित होनेवाला ज्ञान होता है ।इस कारण यह मानना ही होगा कि अर्थों में कोई आपसी सम्बन्ध अवश्य है ।वह सम्बन्ध साहचर्य या व्याप्ति के सिवा दूसरा नहीं हो सकता है ।इस लिए यह कहना अयुक्त है कि दो पदार्थों में कोई सम्बन्ध नहीं है ।[७]

२)व्यभिचारशङ्का का निवारण सम्भव न होने के कारण अनुमान अप्रमाण है । चार्वाक की इस आपत्ति के उत्तर में उदयनाचार्यजी न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीय स्तबक में कहते हैं कि –यदि व्यभिचार की शङ्का है तो अनुमान है ही और अगर व्यभिचार की शङ्का नहीं है तब तो अनुमान है ही ,अनुमानप्रमाणसामान्य की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता है । उदयनाचार्यजी की यह विद्वानों के द्वारा बहुत ज्यादा उद्धृत की हुई पङ्क्ति है –"*शङ्का चेदनुमास्त्येव नचेच्छङ्का ततस्तराम्*"(न्यायकुसुमाञ्जलि

३स्तबक) उदयनाचार्यजी के कथन का आशय यह है कि जो भी व्यभिचारशङ्का होगी वह समस्त व्यभिचारशङ्का कुछ इस तरह की होगी कि कालान्तर में उक्त हेतु सम्भव है साध्य के विना ही रहे , शायद कालान्तर में उक्त हेतु साध्य से व्यभिचरित हो । किन्तु ऐसी आशङ्का कालान्तर भावी काल का आकलन करके ही हो सकती है । और भावी काल का आकलन करने के लिए हमारी सहायता करनेवाला सिर्फ़ अनुमान ही है ,अनुमान का तिरस्कार करके भावी काल का आकलन करना किसी तरह से भी असम्भव है । भावी काल का आकलन अनुमान के विना कोई भी नहीं कर पायेगा । इसलिए जब हम किसी हेतु के कालान्तर में व्यभिचरित होने की शङ्का उठाकर अनुमान का निषेध करना चाहते हैं थो वह ख़ुद ही अनुमान का रूप ले लेता है । वह शङ्का स्वयं भी अनुमान को आधार बनाकर ही जन्म लेती है । इसलिए कोई अनुमान प्रमाण नहीं है ऐसा कहना असङ्गत होता है । कम से कम शङ्का का आधारभूत अनुमान तो प्रमाण होगा ही । मुहूर्त, प्रहर , रात-दिन, पखवारा, मास, ऋतु, वर्ष आदि भी आशङ्काकाल में तो हैं नहीं अतः इनका भी पूर्व में अनुभव नहीं हुआ है .इनका आकलन किए विना व्यभिचार की आशङ्का नहीं की जा सकती है । इसी तरह देशान्तर में धूम वह्नि के विना हो सकता है ऐसी आशङ्का भी देशान्तर का आकलन किए विना सम्भव नहीं है । इसलिए इस आशङ्का का आधारभूत कोई अनुमान प्रमाण अवश्य होना चाहिए ।[८]

इस स्थल पर यह नहीं कहा जा सकता है कि देशान्तर और कालान्तर शब्द प्रमाण से सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि अगर अनुमान का प्रामाण्य नहीं है तो शब्द का भी प्रामाण्य नहीं सम्भव हो सकता है । ऐसा इस कारण होगा क्योंकि शब्द की शक्ति का ग्रहण अनुमान को आधार बनाकर ही होता है । इसलिए अगर अनुमान प्रमाण नहीं है तो अनुमान के आधार पर जिसका शक्तिग्रह होनेवाला है उस शब्द का भी प्रामाण्य कैसे हो सकेगा ? अतः यदि अनुमान अप्रमाण है तो निश्चय ही शब्द भी अप्रमाण होगा ।[९]

इसलिए अगर व्यभिचार की शङ्का है तो अनुमान की प्रमाणता का निषेध नहीं किया जा सकता है । अगर व्यभिचार की शङ्का नहीं है तब तो अनुमान की प्रमाणता का निषेध नहीं ही किया जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में तो प्रकृत अनुमान ही साध्य का साधन करने में समर्थ हो जायेगा । फिर तो अनुमान के अस्तित्व का निषेध करना असम्भव ही होगा ।

इस तरह अनुमान के प्रामाण्य का सर्वतोभावेन निषेध करना तो सम्भव नहीं है

किन्तु अगर कहीं पर व्यभिचार की आशङ्का होती है तो उस आशङ्का का निवारण करने का कोई उपाय तो अवश्य होना चाहिए । चार्वाक द्वारा उठायी गयी आपत्ति मूलोच्छेदिनी होने के कारण अस्वीकार्य होने पर भी उक्ताशङ्का का निवारणोपाय तो होना ही चाहिए । यदि व्यभिचार की आशङ्का है तो प्रकृत साध्य और प्रकृत हेतु के मध्य विद्यमान भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकेगा और ऐसी स्थिति में प्रकृत अनुमान की प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकेगी । तो व्यभिचारशङ्का के निवारण का उपाय है तर्क। इसीलिए उदयनाचार्य कहते हैं कि "*तर्कः शङ्कावधिर्मतः*" जबतक आशङ्का रहती है तब तक तर्क की प्रवृत्ति होती है । उस तर्क के विद्यमान रहने से उपाधिकोटि में और उपाधि से आयत्त व्यभिचारकोटि में तर्क के द्वारा अनिष्ट का आपादन करने के कारण विपक्षेच्छा निवृत्त हो जाती है । विपक्ष की इच्छा की निवृत्ति हो जाने पर प्रमाता भूयोदर्शन से जिसका साहचर्य उपलब्ध है ऐसे लिङ्ग को व्याप्य के रूप में और पक्षधर्म के रूप में अवधारित करता है । फलतः अनुमिति उत्पन्न होती है, इसमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।[*] उदाहरण के रूप में "यदि *पर्वत वह्निमान है धूमवान होने के कारण*" ऐसा अनुमान किया जा रहा है तो इसमें उपाधि व व्यभिचार-विषयिणी शङ्काएँ हो सकती हैं कि –क्या धूम का वह्निसम्बन्ध सोपाधिक है या निरुपाधिक है? क्या धूम वह्नि को व्यभिचरित होता है या नहीं ? इस तरह के सन्देहों से विपक्षजिज्ञासा होती है कि क्या वह्नि के विना भी धूम होता है ? ऐसी स्थिति में तर्क प्रवृत्त होता है कि यदि धूम वह्नि के विना भी होता तो धूम वह्नि से जन्य नहीं होता । ऐसा तर्क होने पर भी आशङ्का हो सकती है कि कहीं धूम वह्नि से अजन्य तो नहीं होता है ? ऐसी स्थिति में दूसरा तर्क प्रवृत्त होता है कि यदि धूम वह्नि से अजन्य होता तो धूमार्थियों की वह्न्युपादानार्थ नियत प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु धूमार्थियों की वह्न्युपादानार्थ नियत प्रवृत्ति होती है इस कारण इस अनिष्टप्रसङ्ग से आशङ्का निवृत्त हो जाती है । साथ ही व्यभिचार की आशङ्का भी निवृत्त हो जाती है । अब फिर आशङ्का नहीं हो सकती है धूमार्थियों की वह्न्युपादानार्थ नियत प्रवृत्ति न हो क्योंकि स्वक्रियाव्याघात हो जायेगा इसलिए व्यभिचारशङ्का को दूर करने का उपाय विद्यमान है । इस कारण व्याप्ति का ग्रह होने में कोई असौविध्य नहीं है ।

३)उपाधि के अभाव का निश्चय भी तर्क की सत्ता से ही हो सकता है। यदि अनुकूल तर्क नहीं है तो हेतु अप्रयोजक होता है । अप्रयोजक हेतु दो प्रकार का होता है शङ्कितोपाधि और निश्चितोपाधि । यदि अनुकूल तर्क है तो इन दोनों तरह की

उपाधियों का अभाव निश्चित होना आसान हो जाता है ।[११]

४)धूमादिदर्शन के उपरान्त होनेवाली वह्न्युद्देश्यक प्रवृत्ति को आधार बनाकर अनुमान के प्रामाण्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह प्रवृत्ति सम्भावना के आधार पर होती है , चार्वाक के इस कथन पर उदयनाचार्य का कहना है कि सम्भावना का अर्थ क्या है ? सम्भावना का अर्थ सन्देह ही हो सकता है । इसका मतलब यह है कि सम्भावना के आधार पर प्रवृत्ति होती है कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि अनुमान से जहाँ परभी प्रवृत्ति होती है वह समस्त प्रवृत्ति सन्देह के आधार पर होती है। किन्तु चार्वाक का कथन तभी सच हो सकता है अगर अनुमानाधीन प्रवृत्ति के सभी स्थलों में प्रवृत्ति के काल में सन्देह रहे । किन्तु मुश्किल यह है कि अनुमानाधीन प्रवृत्ति के समस्त स्थलों में प्रवृत्ति के काल में सन्देह रहता नहीं है । वस्तुतः तो चार्वाक के मत में प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण ही अस्वीकृत होने के कारण सन्देह कभी भी सम्भव नहीं हो पायेगा । इसका कारण यह कि अगर कोई दिखलायी पड़ रहा है तो उसके भाव का ही निश्चय है, उसकी सत्ता का ही निश्चय है और किसी की सत्ता का निश्चय रहने की दशा में तद्विषयक सन्देह किसी तरह से भी सम्भव नहीं हो सकता है । अगर किसी का अदर्शन है तब भी सन्देह नहीं हो सकेगा क्योंकि अदर्शन की दशा में उसके अभाव का ही निश्चय विद्यमान है । इस कारण यदि प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण की सत्ता नहीं है तो दोनों ही दशाओं में ही सन्देह सम्भव नहीं है । इस कारण यह सन्देह भी प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण की सत्ता का सूचक होता है ।[१२]

जयन्त भट्ट ने अनुभान के समर्थन के लिए यह प्रश्न उठाया है कि यह आक्षेप अनुमान के स्वरूप पर है या अनुमान के लक्षण पर ? अगर यह प्रश्न अनुमान के स्वरूप पर है तो ऐसा आक्षेप अनुमान के स्वरूप पर सम्भव नहीं है ,क्योंकि अनुमान का स्वरूप तो सर्वलोकप्रसिद्ध है ,इस कारण अनुमान के स्वरूप पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है । स्त्रियाँ, बच्चे, चरवाहे और हलवाहे भी विना सन्देह के नियत अर्थ को देखकर अर्थान्तर को जान लेते हैं । अनुमान का अपलाप करने पर तो प्रत्यक्ष से होनेवाली लोकयात्रा भी दुर्लभ हो जायेगी । इस कारण समस्त प्राणी चित्रलिखित की तरह निश्चल हो जायेंगे । प्रत्यक्ष से दिखनेवाले पदार्थ को पूर्वानुभूतजातीयत्व हेतु के द्वारा सुख का या दुख का साधन निश्चित कर लोग ग्रहण करते हैं अथवा परित्याग कर देते हैं।[१३] उदाहरण के रूप में स्वादिष्ट घृत आदि से सम्पृक्त भोजनविशेष , जो कि भोक्ता के लिए कभी सुख का साधन हुआ था , तत्सजातीय भोजनविशेष को देखकर भोक्ता

उस भोजनविशेष का उपादान करता है । इसी तरह जो भोजनविशेष कभी दुख का साधन हुआ था , तत्सजातीय भोजनविशेष को देखकर भोक्ता उसका परित्याग कर देता है, भोक्ता का यह व्यवहार अनुमान को आधार बनाकर ही सम्भव हो सकता है । इस कारण अनुमान नहीं है ऐसा कहना अशक्य है । अगर अनुमान नहीं है तो लोगों की ऐसी जो सर्वसाधारण प्रवृत्ति है उस प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं की जा सकेगी । इसलिए आवश्यक है कि अनुमान को प्रमाण माना जाये ।

गङ्गेशोपाध्याय अनुमान को प्रमाण सिद्ध करने के लिए आक्रामक युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं[१४] –

प्रथमतः चार्वाक का यह कथन स्वतोव्याघाती होता है कि अनुमान प्रमाण नहीं है शतशः सहचरितों का भी व्यभिचार उपलब्ध होने के कारण । इसी तरह चार्वाक का यह कथन भी स्वतोव्याघाती होता है कि अनुमान प्रमाण नहीं है योग्योपलब्धियों के अभाव का निश्चय योग्यानुपलब्धि के द्वारा सम्भव होने पर भी अयोग्य उपाधियों के अभाव का निश्चय असम्भव होने से अयोग्य उपाधियों की आशङ्का से व्यभिचारसंशय होने के कारण । इसका कारण यह है कि यह भी एक अनुमान है क्योंकि यहाँ पर प्रमाणताप्रयोजकरूपशून्यत्व के द्वारा अप्रमाणसाधर्म्य के द्वारा अनुमान के अप्रामाण्य का साधन किया जा रहा है । इस कारण कम से कम एक अनुमान को तो प्रमाण मानना ही पड़ेगा । शतशः सहचरितों की भी व्यभिचारोपलब्धि अप्रमाणसाधर्म्य है उसको हेतु बनाकर यहाँ पर अनुमान के अप्रामाण्य का साधन किया जा रहा है । इस कारण चार्वाक स्वयं ही अनुमान का प्रयोग कर रहा है और अनुमान प्रमाण नहीं होता है ऐसा भी कह रहा है तो चार्वाक उन्मत्त की कोटि में आ जाता है ।

द्वितीयतः यदि चार्वाक कहे कि हम कोई अनुमान प्रयोग नहीं कर रहे हैं अपितु वाक्य के द्वारा शब्द से अनुमान का अप्रामाण्य बोधित कर रहे हैं तो चार्वाक का यह कथन भी नितान्त अनुचित है क्योंकि इस वाक्य का प्रयोग किसको बोधित करने के उद्देश्य से किया जा रहा है ? सन्दिग्ध या विपर्यस्त को बोधित करने के उद्देश्य से किया जा रहा है , अन्यथा ऐसे वाक्य का प्रयोग निरर्थक होगा । किसी अन्य को बोधित कराने का कोई प्रयोजन नहीं है । सन्देह और विपर्यास (विपरीत ज्ञान)दोनों ही परकीय हैं इस कारण इनका प्रत्यक्ष करना असम्भव है । तो परकीय सन्देह और विपर्यास (विपरीत ज्ञान) दोनों को ही आप केवल अनुमान के साहाय्य से जान सकते हैं । समस्या यह है कि आप तो अनुमान को प्रमाण मानते नहीं तो आपके लिए इस तरह के वाक्य का

प्रयोग कर पाना भी असम्भव होगा ।

तृतीयतः अनुमान अप्रमाण है ऐसा वाक्य प्रमाण है या नहीं ? यदि इस वाक्य का प्रामाण्य है तो प्रत्यक्षातिरिक्त शब्द का प्रामाण्य सिद्ध हो गया । और यदि इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं है तो अनुमान का प्रामाण्य कौन निवारित कर पाने में सक्षम होगा ? इस तरह प्रत्यक्षातिरिक्त किसी न किसी का प्रामाण्य अवश्य आ जायेगा । शब्द का प्रामाण्य स्वीकारने पर शक्तिग्रह , तात्पर्यग्रह के अनुमानाधीन होने के कारण अनुमान का भी प्रामाण्य अन्ततः आ ही जायेगा ।

चतुर्थतः यदि अनुमान का अप्रामाण्य स्वीकारा जाये तो प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं होगा । इसका कारण यह है कि प्रामाण्य अनुमेय ही होता है । ज्ञान की उत्पत्ति के उपरान्त प्रवृत्ति होती है और अगर वह प्रवृत्ति सफल हुई तो प्रवृत्तिजनक ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान किया जाता है [१५] । इस आपत्ति का आशय यह भी है कि अनुमान को चार्वाक प्रमाण नहीं मानता है और यह कहता है कि जो धूमदर्शन से वह्न्युद्देश्यक प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति सम्भावना को आधार बनाकर होती है, प्रवृत्ति के सफल होने पर प्रामाण्य का झूठा अभिमान होता है। तो यही बात तो प्रत्यक्ष को ऊपर भी लागू होती है। यही बात तो प्रत्यक्ष के लिए भी कही जा सकती है कि प्रत्यक्ष से जो सामने विद्यमान जलादि के लिए प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति भी सम्भावना को आधार बना कर होती है प्रवृत्ति के सफल हो जाने पर प्रामाण्य का झूठा अभिमान हुआ करता है । इसका आशय यह भी है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः गृहीत नहीं होता है । अनुमान के द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अगर अनुमान का प्रमाण्य नहीं है तो प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य गृहीत नहीं हो सकेगा अतः अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है । जैसे असद्धेतु से उत्पन्न होने के कारण अनुमान का प्रामाण्य नहीं होता है ऐसा आप कह रहे हैं ,उसी तरह तो प्रत्यक्ष के लिए भी कहा जा सकता है क्योंकि असद्धेतु से उत्पन्न होने की स्थिति में अनुमान भ्रमात्मक हुआ करता है उसी तरह दोष से जन्य होने की स्थिति में प्रत्यक्ष भी भ्रमात्मक हुआ करता है । ऐसी स्थिति में या तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों का ही प्रामाण्य अथवा दोनों का ही अप्रामाण्य स्वीकार करना ही उचित होगा । अगर अनुमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते हो तो प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का स्वीकार नहीं कर सकोगे और यदि प्रत्यक्ष का प्रामाण्य स्वीकार करते हो तो अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करना अनिवार्य होगा ।

इस रीति से अनुमान के प्रामाण्य को व्यवस्थापित कर लेने के बाद गङ्गेशोपाध्याय

चार्वाक द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का सुरक्षात्मक उत्तर देते हैं कि व्याप्तिग्रह का उपाय हम बतलायेंगे[१६] । आशय यह है कि समस्त आपत्तियाँ व्याप्ति का ग्रह कैसे होगा? इसी आपत्ति से सम्बद्ध हैं, उन आपत्तियों का समाधान गङ्गेशोपाध्याय व्याप्तिग्रहोपाय शीर्षक के अन्तर्गत करते हैं । इसके बारे में हम भी व्याप्तिग्रहोपाय शीर्षक के अन्तर्गत चर्चा करेंगे ।

सन्दर्भसूची

१.साहचर्ये च सम्बन्धे विश्रम्भ इति मुग्धता ।
शतकृत्वोऽपि तद्दृष्टौ व्यभिचारस्य सम्भवात् ।।
देशकालदशाभेदविचित्रात्मसु वस्तुषु ।
अविनाभावनियमो न शक्यो वस्तुमाह च ।।
अवस्थादेशकालानां भेदादि्भन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरति दुर्लभा ।।
भवन्नप्यविनाभावः परिच्छेत्तुं न शक्यते ।
जगत्त्रयगताशेषपदार्थालोचनाद् विना ।।
न प्रत्यक्षीकृता यावद् धूमाग्निव्यक्तयोऽखिला ।
तावत्स्यादपि धूमोऽसौ योऽनग्नेरिति शङ्क्यते ।।
ये तु प्रत्यक्षतो विश्वं पश्यन्ति हि भवादृशा ।
किं दिव्यचक्षुषां तेषामनुमानप्रयोजनम् ।।
सामान्यद्वारकोऽप्यस्ति नाविनाभावनिश्चयः ।
वास्तवं हि न सामान्यं नाम किञ्चन विद्यते ।।
भूयोदर्शनगम्यापि न व्याप्तिरवकल्प्यते ।
सहस्रशोऽपि तद्दृष्टे व्यभिचारावधारणात् ।।
बहुकृत्वोऽपि वस्त्वात्मा तथेति परिनिश्चितः ।
देशकालादिभेदेन दृश्यते पुनरन्यथा ।।
भूयो दृष्ट्वा च धूमोऽग्निसहचारीति गम्यताम् ।
अनग्नौ तु स नास्तीति न भूयोदर्शनाद्गतिः ।।
न चापि दृष्टिमात्रेण गमकाः सहचारिणः ।
तत्रैव नियतत्वं हि तदन्याभावपूर्वकम् ।।
तदेवं नियमाभावात् सति वा ज्ञप्त्यसम्भवात् ।

अनुमानप्रमाणत्वदुराशा परिमुच्यताम् ॥
अत एवानुमानानामपश्यन्तोऽप्रमाणताम् ।
तद्विस्रम्भनिषेधार्थमिदमाहुर्मनीषिणः ॥
हस्तस्पर्शादिनान्धेन विषमे पथि धावता ।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥ न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड पृ.१७७-१७९

२.कथं हि विशेषाभावात् कश्चिद्व्यभिचरति , कश्चिच्च नेति शक्यमवगन्तुम् । अतो निर्णायकाभावे सति साहित्यदर्शनमेव शङ्काबीजमिति क्वासौ निर्बीजा ?...स्वभावादेव कश्चित् किञ्चिद् व्यभिचरति ,कश्चिच्च नेति स्वभाव एव विशेष इति चेत् ?केन चिह्नेन पुनरसौ निर्णेय इति निपुणं विभावनीयम् । भूयोदर्शनस्य शतशःप्रवृत्तस्यापि भङ्गदर्शनात् । यत्र भङ्गो न दृश्यते तत्र तत् तथेति चेत् ? आपाततो न दृश्यते इति सर्वत्र कालक्रमेणापि न द्रक्ष्यते इत्यत्र को नियन्तेति । तस्मादुपाधितद्विरहावेव व्यभिचाराव्यभिचारनिबन्धनम् , तदवधारणञ्चाशक्यम् ।

पृ. ३७८ , न्यायकुसुमाञ्जलि ३/६

३.अथानुमानं न प्रमाणं योग्योपाधीनां योग्यानुपलब्ध्याभावनिश्चयेऽपि अयोग्योपाधिशङ्कया व्यभिचारसंशयात् ,शतशः सहचरितयोरपि व्यभिचारोपलब्धेश्च लोके धूमादिदर्शनान्तरं वह्न्यादिव्यवहारश्च सम्भावनामात्रात् , संवादेन च प्रामाण्याभिमानादिति नाप्रत्यक्षं प्रमाणम्

पृ. १३३, तत्त्वचिन्तामणि (अनुमितिगादाधरी)

४.विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुतः ॥ पृ. १७७ ,न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड

सामान्ये सिद्धसाधनादिति । व्याप्तिग्रहणसमय एव धूममात्रस्याग्निमात्रेण व्याप्तिग्रहणादत्रापि धूममात्रमग्निमात्रेण व्याप्तं गृहीतमेव , इति स्मृतिमात्रमिदानीं न त्वपूर्वं किञ्चिदित्यर्थः।

पृ. १७७ ,चक्रधरकृतग्रन्थिभङ्गः न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड

५.अनुमानविरोधो वा यदि चेष्टविघातकृत् ।
विरुद्धाव्यभिचारो वा सर्वत्र सुलभोदयः ॥ पृ. १७९ , न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड

यत्र बलीयसा दुर्बलस्य विषयोऽपह्रियते तत्रानुमानविरोधव्यवहारः , यत्र तूभयोः प्रयोगः समकक्षतया संशयापादकस्तत्र विरुद्धाव्यभिचारिता । तत्रैव ग्रन्थिभङ्ग

६.अनुमानापलापे तु प्रत्यक्षादपि दुर्लभा ।
लोकयात्रेति लोका स्युर्लिखिता इव निश्चलाः ॥ पृ. १७७ ,न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड

७.दृश्यते ह्यविनाभूतादर्थादर्थान्तरे मतिः ।
अतो यद्दर्शनाद्यत्र प्रतीतिरुपजायते ॥

तयोरस्त्यर्थयोः कश्चित् सम्बन्ध इति मन्मते ।
साहचर्यं तु सम्बन्ध इति नौ हृदयङ्गमम् ।। पृ. १८० ,न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड
८.शङ्का चेदनुमास्त्येव नो चेच्छङ्का ततस्तराम् ।

न्यायकुसुमाञ्जलि ३/७

कालान्तरे कस्यचिद्व्यभिचरिष्यतीति कालं भाविनमाकलय्य शङ्क्येत । तदाकलनञ्च नानुमानमवधीर्य कस्यचित् । मुहूर्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्त्वयनसंवत्सरादयो हि भाविनो मुहूर्ताद्यनुमेया एव । अनवगतेषु स्मरणस्याप्यनाशङ्कनीयत्वात् । अनाकलने वा कमाश्रित्य व्यभिचारः शङ्क्येत ? तथा च सुतरामनुमानस्वीकारः । एवञ्च देशान्तरेऽपि वक्तव्यम्

पृ.३७९ ,तत्रैव

९. अनुमानाप्रामाण्ये च तन्मूलकसमयनिर्णयाद्यधीनप्रवृत्तिकयोः शब्दोपमानयोः सुतरामप्रामाण्यान्नाप्रत्यक्षं प्रमाणमित्याह *–इतीत्यादि* ।

पृ.१३४, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनुमितिगादाधरी)

१०.व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ।। न्यायकुसुमाञ्जलि ३/७
यावदाशङ्कं तर्कप्रवृत्तेः । तेन हि वर्तमानेनोपाधिकोटौ वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते । विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति , अधितिष्ठितात् करणात् क्रियानिष्पत्तिरिति किमनुपपन्नम् ? पृ.३७९ ,तत्रैव
११.तदयं सङ्क्षेपः यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः । स च द्विविधः शङ्कितोपाधिः निश्चितोपाधिश्च । पृ.३८९ ,तत्रैव
१२.दृष्ट्यदृष्ट्योः क्व सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ।। न्यायकुसुमाञ्जलि ३/६
सम्भावना हि सन्देह एव । तस्माच्च व्यवहारस्तस्मिन् सति स्यात् । स एव तु कुतः ? दर्शनदशायां भावनिश्चयात् ,अदर्शनदशायामभावावधारणात् । पृ.३७३ ,तत्रैव
१३. अत्राभिधीयते किमयमनुमानस्वरूपाक्षेप एव क्रियते , उत तत्तार्किकोपलक्षित-तल्लक्षणाक्षेप इति । तत्रानुमानस्वरूपञ्चाशक्यनिह्नवमेव सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् ।
अबलाबालगोपालहालिकप्रमुखा अपि ।
बुध्यन्ते नियतादर्थादर्थान्तरमसंशयम् ।।
अनुमानापलापे तु प्रत्यक्षादपि दुर्लभा ।
लोकयात्रेति लोका स्युर्लिखिता इव निश्चलाः ।।
प्रत्यक्षदृष्टमपि पदार्थजातं तज्जातीयत्वलिङ्गव्यापारेण सुखसाधनमिति कारणमिति वा निश्चित्यतदुपाददते जहति वा लौकिकाः। न्यायमञ्जरी प्रथमखण्ड पृ.१७९

१४.अप्रमाणसाधर्म्येणाप्रामाण्यसाधने दृष्टसाधर्म्यस्यानुमानत्वात् , एतद्वाक्यस्य सन्दिग्ध-विपर्यस्तान्यतरं प्रत्यर्थवत्त्वात् , तयोश्च परकीययोरप्रत्यक्षत्वात् , अनुमानमप्रमाणमिति वाक्यस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्याघाताच्च । पृ.१३३ , तत्त्वचिन्तामणि (अनुमितिगादाधरी)

१५.अपि चानुमानाप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्याप्यप्रमाणतापत्तेः, प्रामाण्यस्यानुमेयत्वात् , स्वतश्च प्रामाण्यग्रहे तत्संशयानुपपत्तेः । पृ.१३८, तत्रैव

१६. व्याप्तिग्रहोपायश्च वक्ष्यते । तत्रैव

***

३

अनुमान और अन्य प्रमाण

न्यायपरम्परा में प्रत्यक्ष ,अनुमान ,उपमान और शब्द ये चार प्रमाण स्वीकृत हैं । प्राचीन वैशेषिक परम्परा में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण ही स्वीकृत हैं । प्रशस्तपादभाष्य में शब्द आदि प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव करने की बात कही गयी है क्योंकि अनुमान के समानविधि से ये समस्त प्रमाण युक्त होते हैं । इसमें युक्ति यह दी गयी है कि जिसे समय का ज्ञान होता है उसे ही वाक्यश्रवण के उपरान्त शाब्दबोध हुआ करता है। अनुमिति की विधि भी यही है अनुमिति भी उसे ही होती है जिसको व्याप्ति का ग्रह होता है । समय भी व्याप्ति ही है । इसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अनुमान की प्रवृत्ति एक समान होती है । इस कारण शब्द को भी अनुमान में ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिए क्योंकि दोनों की विधि एक समान है[1] ।

नैयायिक यहाँ पर अपना पक्ष रखते हैं कि आपका यह कथन ही युक्तिसङ्गत नहीं है कि शब्द और अनुमान की प्रवृत्ति एक समान होती है क्योंकि दोनों की प्रतृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रीति से हुआ करती हैं । अनुमिति के लिए जैसी सामग्री की अपेक्षा होती है शाब्दबोध के लिए वैसी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती है अपितु उससे भिन्न सामग्री की अपेक्षा होती है । तो आखिर अनुमान में शब्द का अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है? इस प्रश्न पर नैयायिकों ने बहुत ही गम्भीरता से विचार किया है और कहा है कि अनुमिति में लिङ्गज्ञान ,व्याप्तिज्ञान ,पक्षता ,परामर्श आदि की अपेक्षा होती है किन्तु शाब्दबोध में इन में से किसी की भी जरूरत नहीं होती है । शाब्दबोध में पदज्ञान, आकाङ्क्षाज्ञान , योग्यताज्ञान आदि की अपेक्षा होती है । जो वैशेषिक अनुमान में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव करना चाहते हैं वे आकाङ्क्षाज्ञान ,योग्यताज्ञान आदि को शाब्दबोध में लिङ्गज्ञानविधया कारण मानना चाहते हैं । नैयायिकों ने इसका खण्डन कर दिया है **शब्दशक्तिप्रकाशिका** में जगदीश तर्कालङ्कार इस विषय पर लम्बा विचार करते हैं[2]। विशेष विवेचन वहीं पर देख लेना चाहिए । मैंने भी **व्युत्पत्तिवाद** की **सुनन्दा** नामक व्याख्या की विस्तृत भूमिका में इस विषय पर एक समालोचक की दृष्टि से विचार किया है । (द्रष्टव्य -व्युत्पत्तिवाद सुनन्दा टीका xviii--xix)

नैयायिकों का मुख्य कथ्य यह है कि-

१)योग्यता, आकाङ्क्षा आदि को एक -एक कर हेतु बनाया जा सके या मिलाकर हेतु बनाया जा सके तब तो शब्द के अनुमान में अन्तर्भाव की बात किसी तरह कही भी जा सकती है किन्तु ऐसा तो किया नहीं जा सकता है । न तो योग्यता,आकाङ्क्षा आदि को एक -एक कर हेतु बनाया जा सकता है और नतो इनको मिलाकर ही हेतु बनाया जा सकता है ।[३]

२)शाब्दबोध का अनुमितित्व यदि पहले सिद्ध हो तब तो उसमें साकाङ्क्षपदवत्त्व आदि के हेतुत्व की कल्पना की जा सकती है । किन्तु शाब्दबोध का अनुमितित्व ही तो अभी सिद्ध नहीं है क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। कोई ज्ञान अनुमिति है या शाब्दबोध इसका निर्णायक होता है उस ज्ञानविशेष के बाद होने वाला अनुव्यवसाय ही उस ज्ञानविशेष के अनुमितित्व या शाब्दबोधत्व का व्यवस्थापक होता है । किन्तु हम पाते हैं कि जैसा अनुव्यवसाय अनुमिति के स्थल पर होता है वैसा अनुव्यवसाय शाब्दबोधस्थल में नहीं होता है । अनुमितिस्थल में "धूमेन वह्निमनुमिनोमि" धूम से वह्नि का अनुमान कर रहा हूँ ऐसा अनुव्यवसाय होता है । शाब्दबोधस्थल में "अनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय न हो कर "शाब्दयामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है। तो ऐसी परिस्थिति में शाब्दबोध का अनुमितित्व तो असिद्ध ही है । तो किस तरह से साकाङ्क्षपदवत्त्व आदि के हेतुत्व की कल्पना की जा सकती है ।

३)शाब्दबोधस्थल में "अनुमिनोमि" ऐसा अनुव्यवसाय न हो कर "शाब्दयामि" ऐसा अनुव्यवसाय होता है । यह अनुव्यवसाय भी शाब्दबोध के अतिरिक्तप्रमितित्व का और शब्द के अतिरिक्तप्रमाणत्व का ही व्यवस्थापन करता है।[४] इसी कारण **तर्कसङ्ग्रह, कारिकावली** आदि प्रकरणग्रन्थों में ,जो कि वैशेषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थ हैं , शब्द को अतिरिक्त प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है । कारिकावली में तो वैशेषिक मत को उद्धृत करके खण्डन कर दिया गया है । वहाँ पर उपर्युक्त युक्तियों में से सिर्फ़ पहली युक्ति प्रस्तुत की गयी है कि विना व्याप्तिबोध के शाब्दबोध का होना अनुभवगम्य है, इस कारण अनुमान के द्वारा शाब्दबोध गतार्थ नहीं हो सकता है । इस कारण शाब्दबोध को और उपमिति को अलग प्रमा तथा शब्द और उपमान को अलग प्रमाण मानना ही उचित है[५] । जैसे शाब्दबोध विना व्याप्तिबोध के होता है उसी तरह उपमिति भी विना व्याप्तिबोध के हुआ करती है इसलिए इन दोनों को अलग प्रमा मानना आवश्यक है। वैशेषिकों का इन दोनों का अन्तर्भाव अनुमान में करने का प्रयास निरर्थक है।

वैशेषिकों में कुछ का यह मानना है कि उपमान का अन्तर्भाव अनुमान में न करते हुए उपमान का अन्तर्भाव शब्दप्रमाण में करना चाहिए, इसके प क्षपाती **प्रशस्तपादभाष्य** के लेखक प्रशस्तपाद भी हैं[६] । नैयायिक कहते हैं कि "*अयं गवयपदवाच्यः* "यह बुद्धि उपमानप्रमाण का फल है अर्थात् उपमिति है । यदि उपमिति शाब्दबोधरूप होती तो उपमान का अन्तर्भाव शाब्दबोध में करने का प्रयास उचित हो सकता था परन्तु ऐसा तो है नहीं । यदि यह शाब्दबोध है तो इसको वाक्यमात्र से उत्पन्न होना चाहिए और गवय व्यक्ति का प्रत्यक्ष जो नहीं कर रहा है उसको भी "*अयं गवयपदवाच्यः*" ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनी चाहिए क्योंकि अगर उपमिति शाब्दबोध है शब्द प्रमाण का फल है तो इसको उत्पन्न करने के लिए शाब्दबोध कारणों के सिवा किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए[७]। इससे यही ज्ञात होता है कि उपमिति शाब्दबोध से पृथक् है और उपमान शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत नहीं होता है । इस प्रकार अनुमान में उपमान और शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव असम्भव होने के कारण नैयायिक और परवर्ती वैशेषिक भी इन दोनों को अलग प्रमाण मानते हैं ।

अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन से तदुपपादकीभूत अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं । नैयायिक अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं । इस तरह प्रमाणों के चतुर्विधत्व की रक्षा करने में वे अपने आप को सक्षम पाते हैं । उदाहरण के रूप में "*पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते*""*देवदत्त मोटा तो वहुत है परन्तु दिन में नहीं खाता है*" तो अर्थात् ही ये सिद्ध हो जाता है कि देवदत्त रात में खाता होगा । इसका कारण यह है कि भोजन के विना मोटा होना अनुपपन्न है ,इसलिए अनुपपद्यमान अर्थ मोटेपन के दर्शन से देवदत्त के दिवाभोजन का बाध होने के कारण रात्रिभोजन का निश्चय किया जाता है । इसको मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति में अन्तर्भूत करते हैं अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजन की सिद्धि उनको अभिप्रेत है । परन्तु नैयायिक इसका अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं उनका कहना है कि अनुमान के द्वारा ही देवदत्त के रात्रिभोजन की सिद्धि की जा सकती है तो अनुमान से भिन्न अर्थापत्ति को प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ? **अर्थापत्ति अनुमान से अलग नहीं है , उक्त स्थल में मोटेपन की भोजन के साथ व्याप्ति है अतः पीनत्व हेतु से रात्रिभोजन की सिद्धि होती है। अतः उक्त सिद्धि अर्थापत्ति से न होकर अनुमान के द्वारा होती है ऐसा नैयायिकों का मानना है। इसे इस तरह से अनुमान के रूप में व्यवस्थापित किया जा सकता है । "*देवदत्तो रात्रिभोजनवान् दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्* ""देवदत्त रात्रि में भोजन करता है दिन**

में न खाते हुए भी मोटा होने के कारण "। भोजन के विना पीनत्व इस कारण अनुपपन्न है क्योंकि पीनत्व के साथ भोजन की व्याप्ति है । इस अनुमान को नैयायिक केवलव्यतिरेकी अनुमान बतलाते हैं क्योंकि इस अनुमान में साधर्म्य दृष्टान्त मिल पाना असम्भव होता है । यह नहीं दिखला पाना सम्भव होता है कि जो -जो दिन में न खाते हुए भी मोटा होता है वह -वह रात्रि में भोजन करता है यह दिखलाना सम्भव नहीं हो पाता है । इस कारण नैयायिक कहते हैं कि यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है । इस तरह से अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानना चाहिए नैयायिकों का यह कथन नहीं है परन्तु उनका आशय सिर्फ़ इतने से है कि अर्थापत्ति को अनुमान से अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिए क्योंकि अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तर्गत ही प्रमाण माना जा सकता है[८]। इस तरह हम पाते हैं कि नैयायिकों का पक्ष यहाँ पर यही आता है कि अर्थापत्ति को प्रमाण तो माना जाये परन्तु उसको अनुमान में ही अन्तर्भूत किया जाये । अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानना चाहिए ऐसा पक्ष नैयायिकों का नहीं है । तो यहाँ पर विचारणीय क्या है ? विचारणीय यही रहता है कि अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए या नहीं मानना चाहिए ? ज्यादातर नैयायिक इस विषय में एकमत हैं कि अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण नहीं मानना चाहिए क्योंकि अर्थापत्ति की प्रवृत्ति अनुमान की तरह ही होती है ।

कुछ नैयायिक इस विषय में मीमांसकों का समर्थन करते दिखलायी देते हैं । उनमें प्रमुख हैं **रघुनाथ शिरोमणि** । रघुनाथ शिरोमणि ने न्यायपरम्परा का परित्याग करते हुए कहा है कि अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए । रघुनाथ शिरोमणि द्वारा अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने के लिए प्रस्तुत की गयीं युक्तियाँ इस प्रकार हैं अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए । अर्थापत्ति अनुमान नहीं है क्योंकि-

१)जिसे आप केवलव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं उससे होनेवाले अनुभव के काल में ऐसा अनुव्यवसायात्मक अनुभव नहीं होता है कि वह ज्ञान अनुमान है । अन्वयव्याप्तिग्रह के अधीन होनेवाले ज्ञान के समय में अनुव्यवसायात्मक अनुभव होता **है कि "*अनुमिनोमि* ""*अनुमान कर रहा हूँ*"** अगर व्यतिरेकव्याप्तिग्रह के स्थल में भी **ऐसा ही अनुव्यवसायात्मक अनुभव होता हो तब तो हम** व्यतिरेकव्याप्तिग्रह के अधीन **होनेवाले ज्ञान को अनुमान मान लेते परन्तु ऐसा तो होता नहीं है ।** परन्तु व्यतिरेकव्याप्तिग्रह **के अधीन होनेवाले ज्ञान के काल में अनुभव होता है कि "*अर्थापयामि*"** "अर्थापत्ति के **द्वारा जान रहा हूँ "। इस अनुव्यवसाय के द्वारा ही यह ज्ञात होता है** कि अर्थापत्ति **अनुमान नहीं है**[९] ।

२)अनुमिति के लिए जिन कारणों की अपेक्षा होती है वे कारण अर्थापत्ति के स्थल में नहीं हैं । तो अर्थापत्ति को आप अनुमान कैसे मान सकते हैं । अनुमिति के लिए कारण होता है व्याप्ति का ज्ञान परन्तु अर्थापत्ति के स्थल में व्याप्ति का ज्ञान तो रहता है नहीं क्योंकि व्याप्ति है साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा , ऐसी व्याप्ति का ज्ञान तो अर्थापत्ति के स्थल में रहता नहीं है । इसका कारण यह है कि जबतक साध्य की प्रसिद्धि नहीं होगी तब तक साध्याभाव का ज्ञान किसी भी तरह से सम्भव नहीं हो पायेगा । जब तक साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान नहीं होगा तब तक अनुमिति का कारण ही नहीं है अगर अनुमिति का कारण नहीं है तो आख़िर आप अर्थापत्ति को किस तरह से अनुमिति कह पायेंगे ?अनुमिति के लिए साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान ही कारण होता है क्योंकि साध्याभाववदवृत्तित्वरूप व्याप्ति के ज्ञान को ही अनुमिति का कारण मानने में ही लाघव है । ऐसी स्थिति में हम पाते हैं कि अनुमिति के प्रति जैसी व्याप्ति का ज्ञान कारण बनता है वैसी व्याप्ति का ज्ञान अर्थापत्ति के स्थल में है ही नहीं तो जब अनुमिति का कारण ही नहीं है तो अनुमिति की उत्पत्ति आख़िर हो भी कैसे सकती है? तो निष्कर्षतः हम अर्थापत्ति को अनुमिति में अन्तर्भूत नहीं कर सकते हैं [१०]।

३)यह कह सकते थे कि केवल साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमिति के प्रति कारण नहीं होता है अपितु साध्याभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान भी अनुमिति के प्रति कारण होता है । यद्यपि केवलव्यतिरेकी अनुमान के स्थल में साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान नहीं है परन्तु साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान तो विद्यमान ही है । उसी से अनुमिति की उत्पत्ति सम्भव हो जायेगी । इस कारण यह कहना अनुचित होगा कि अर्थापत्ति के स्थल में अनुमिति का कारण नहीं है । साध्याभावव्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वरूपा व्याप्ति का ज्ञान जोकि अनुमिति के प्रति कारण होता है वहाँ पर भी है ही । इसलिए अनुमिति में ही अर्थापत्ति का अन्तर्भाव किया जा सकता है । परन्तु यह कथन सही नहीं है **क्योंकि अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञानों से द्विविध ज्ञानों से अनुमिति की उत्पत्ति होती है यह कह पाना तब सम्भव होता अगर उभयविध व्याप्तिज्ञानों के उपरान्त होनेवाले ज्ञान के विषय में ऐसा अनुभव होता कि वे दोनों ही ज्ञान अनुमिति हैं ,या इसमें कोई प्रमाण होता कि उभयविध व्याप्तिज्ञानों के उपरान्त होनेवाले ज्ञान अनुमिति ही हैं । परन्तु हम पाते हैं कि ऐसी स्थिति में ऐसा कोई अनुभव होता नहीं है और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है । दोनों ही ज्ञानों के उपरान्त होनेवाले अनुव्यवसायों में पार्थक्य है । इस कारण एक जैसे कार्य**

के प्रति उभयविध व्याप्तिज्ञानों की कारणता नहीं स्वीकारी जा सकती है [११]।

४)चूँकि उभयविध व्याप्तिज्ञानों के उपरान्त होनेवाले ज्ञान को विषय करनेवाले अनुव्यवसाय उन ज्ञानों की विजातीयता को ही सत्यापित करते हैं , इस कारण यह मान लेना ही समुचित है कि उभयविध व्याप्तिज्ञानों के उपरान्त होनेवाले ज्ञान भी विजातीय हैं । इस लिए ही उनके कारणों का भी वैजात्य स्वीकृत करना चाहिए । इस कारण अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता है अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण ही मान लेना चाहिए [१२]।

इस पक्ष को स्वीकारने पर एक प्रश्न अवश्य होता है कि अगर अन्वयव्याप्ति का ज्ञान और व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान दोनों ही विजातीय अनुभवों के प्रति कारण होते हैं तो ऐसी स्थिति में तो कभी ऐसा भी हो सकता है जहाँ पर उसी को अन्वयव्याप्ति से जानने का कारण विद्यमान हो और उसी को व्यतिरेकव्याप्ति से जानने का कारण भी विद्यमान हो ऐसी स्थिति में वहाँ पर आपके अनुसार अनुमिति की उत्पत्ति होगी अथवा अर्थापत्ति की उत्पत्ति होगी ? जो नैयायिक अर्थापत्ति को अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानते हुए अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव करते हैं उनके मत में तो यह प्रश्न नहीं हो सकता है क्योंकि उनके मत में तो ऐसी परिस्थिति में केवल अनुमिति की सामग्री ही विद्यमान है इस कारण अनुमिति की उत्पत्ति हो जायेगी । परन्तु अन्वयव्याप्ति का ज्ञान और व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान दोनों ही विजातीय अनुभवों के प्रति कारण होता है तो ऐसी स्थिति में तो अनुमिति की सामग्री भी है और अर्थापत्ति की सामग्री भी है ।इस कारण सामग्रीद्वय का समवधान होता है फलतः प्रश्न होता है कि ऐसी परिस्थिति में अनुमिति की उत्पत्ति होगी या अर्थापत्ति की ? इस प्रश्न के उत्तर में रघुनाथ शिरोमणि का कहना है कि ऐसी परिस्थिति तो एक विषयक दो प्रमाणों के सम्प्लव की स्थिति है। जिस तरह से एक प्रमाण विषयक प्रत्यक्ष और अनुमिति की सामग्री का समवधान होने की स्थिति में आप (नैयायिक) विषयभेद और विषयाभेद से कभी प्रत्यक्षसामग्री के द्वारा अनुमिति का और कभी अनुमितिसामग्री के द्वारा प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध मानते हैं । ऐसी ही व्यवस्था प्रत्यक्षसामग्री के साथ शाब्दसामग्री का समवधान होने पर और अनुमितिसामग्री के साथ शाब्दसामग्री का समवधान होने पर देते हैं । कुछ वैसी ही व्यवस्था आपको अनुमितिसामग्री और अर्थापत्तिसामग्री का समवधान होने पर भी देनी चाहिए क्योंकि एक साथ अन्वय और व्यतिरेक इन दो धर्मों का समवधान प्रमाणद्वयसमाहार के तुल्य है [१३]।

सन्दर्भसूची

१.शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । पृ.५१२ , प्रशस्तपादभाष्य

यथा व्याप्तिग्रहणबलेनानुमानं प्रवर्तते तथा शब्दोऽपीत्यर्थः । शब्दोऽनुमानं व्याप्तिग्रहणबलेनार्थ-प्रतिपादकत्वात् धूमवत् । पृ.५१२ , न्यायकन्दली , प्रशस्तपादभाष्य

२.पृ.५-२०, शब्दशक्तिप्रकाशिका

३.योग्यतार्थगताऽऽकाङ्क्षा शब्दनिष्ठानुभाविका ।

प्रत्येकं वा मिलित्वा वा नैते लिङ्गमसिद्धितः ।। कारिका ५,शब्दशक्तिप्रकाशिका

४.वस्तुतो वाक्यार्तबोधस्यानुमितिहेतुतेवे सत्येव साकाङ्क्षत्वादिलिङ्गकत्वं कल्प्यम् , तदेव त्वसिद्धं प्रमाणाभावात् । अस्तित्वेन गामनुमिनोमीत्यनुव्यवसायस्य तत्रासत्वात् । प्रत्युत गौरस्तीतिवाक्यादस्तित्वेन गौः श्रुतो नत्वनुमित इत्यनुभवाच्च ।

पृ.१७ , शब्दशक्तिप्रकाशिका

५.शब्दोपमानयोर्नैव पृथक् प्रामाण्यमिष्यते ।

अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।।

तत्र सम्यग्विना व्याप्तिबोधं शाब्दादिबोधतः । कारिका १४०-१४१कारिकावली

६.आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव ।

पृ. ५३० , प्रशस्तपादभाष्य

७.न चेयं वाक्यमात्रादप्रत्यक्षीकृतपिण्डस्यापि प्रसङ्गात् ।

पृ. ५६, तत्त्वचिन्तामणि उपमानखण्ड(दीपिनीसहित)

८.नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति । अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तर-कल्पनमर्थापत्तिः । तथाहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते । दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्ति-प्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् । ...नैतत् , रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। ...केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात् किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया

पृ.४२-४३, तर्कभाषा

९.व्यतिरेकव्याप्तिग्रहाधीना च धीर्नानुमितिस्तथात्वेनाननुभवात् ।

पृ. १३८०, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनु.गादा.)

अर्थापयामीत्यनुव्यवसायस्यैव तत्रोत्पत्तेरिति भावः । पृ. १३८१, अनुमितिगादाधरी

१०...क्लृप्तकारणाभावात् । पृ. १३८०, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनु.गादा.)

साध्याभाववदवृत्तित्वज्ञानस्यैव लाघवेनानुमितिहेतुतायाः क्लृप्तत्वादिति भावः ।

पृ. १३८१, अनुमितिगादाधरी

११.सामग्रीभेदकल्पनायाश्चानुभवैकाधीनत्वात् , किन्तु विजातीया ।

पृ. १३८०, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनु.गादा.)

१२.तत् करणमपि प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरेव । पृ. १३८०, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनु.गादा.)

१३.क्लृप्तप्रमाणद्वयसमाहारशीलञ्च युगपदन्वयव्यतिरेकिधर्मद्वयप्रतिसन्धानम् ।

पृ. १३८०, तत्त्वचिन्तामणिदीधिति(अनु.गादा.)

***

४

अनुमितिकारणीभूत व्याप्ति

ज्ञानसामान्य के प्रति नैयायिकों ने जिन कारणों की स्वीकृति प्रदान की है उन कारणों की अपेक्षा तो अनुमिति के लिए भी होती ही है क्योंकि विशेष कार्य की उत्पत्ति के लिए भी समान्य कार्य की उत्पादक सामग्री अपेक्षित होती ही है । परन्तु कुछ विशेष कारणों की अपेक्षा भी अनुमिति की उत्पत्ति के लिए होती है । इन कारणों में सबसे प्रमुख है व्याप्ति का ज्ञान । इसीकारण व्याप्तिज्ञान को अनुमान भी कहा जाता है । यह विषय पूर्व में विवेचित हो चुका है कि व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति में करण माना जाये या नहीं परन्तु व्याप्ति का ज्ञान सबसे ज्यादा अपेक्षणीय होता है अनुमिति के प्रति इसमें सन्देह का कोई भी अवसर नहीं है । एतदतिरिक्त पक्षधर्मता का ज्ञान ,लिङ्गपरामर्श तथा पक्षता अनुमिति के प्रति कारण हुआ करते हैं । इन कारणों में लिङ्गपरामर्श को अनुमिति का चरम कारण कहा जाता है । अगर व्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति के प्रति करण माना जाये तो लिङ्गपरामर्श को निश्चय ही व्यापार मानना होगा । जो भी हो अनुमिति के प्रति आवश्यक कारण होने से अनुमिति के लिए व्याप्ति को जानना अनिवार्य है ।

व्याप्तिज्ञानघटक व्याप्ति का स्वरूप

नव्यन्याय के ग्रन्थों में व्याप्तिस्वरूप पर जितना विचार किया गया है शायद उतना कहीं और न किया गया होगा । **तत्त्वचिन्तामणि** के प्रायशः आठ प्रकरणों में व्याप्ति पर विचार किया गया है और मैं यह भी कहना चाहूँगा कि यह विचार व्याप्ति के स्वरूप पर विचार किया गया है व्याप्ति के लक्षण पर नहीं किया गया है । ऐसा मैं इस कारण कह रहा हूँ क्योंकि अनुमिति के लिए व्याप्ति का लक्षण जानना आवश्यक नहीं अपितु व्याप्ति के स्वरूप का परिज्ञान ही अनुमिति के लिए अपेक्षित होता है । इसी कारण सम्बन्धमात्र को व्याप्ति माननेवाले किन्हीं नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए गङ्गेशोपाध्याय कहते हैं कि "*सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः*" यह व्याप्ति का लक्षण हो सकता है व्याप्ति का स्वरूप नहीं हो सकता है । व्याप्ति के स्वरूप का निरूपण करना यहाँ पर प्रस्तावित है क्योंकि लिङ्गपरामर्श का विषय होता है व्याप्ति का स्वरूप, व्याप्ति का लक्षण नहीं । इस परिस्थिति में आप कर रहे हैं व्याप्ति के लक्षण का निरूपण तो

अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान दोष आप पर अवश्य आयेगा [1]। इसी कारण जब गङ्गेशोपाध्याय व्याप्तिविषयक अपने विचार को "*नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः*" से प्रारम्भ करते हैं तो मथुरानाथ उसका अवतरण देते हैं कि - "*अनुमानप्रामाण्यं निरूप्य व्याप्तिस्वरूपनिरूपणमारभते* "[2] अनुमान के प्रामाण्य का निरूपण करने के उपरान्त व्याप्ति के स्वरूप का निरूपण आरम्भ करते हैं । रघुनाथ शिरोमणि भी कुछ ऐसा ही अवतरण उक्त स्थल में देते हैं [3]। यह रहस्यमय सा लगता है कि पारम्परिक विद्वान इन व्याप्तिस्वरूप के निर्वचनों को आख़िर क्यों व्याप्ति का लक्षण समझ लिया करते हैं । शायद इसका कारण यह हो कि भारतीयदर्शनपरम्परा में स्वरूप लक्षण की भी अवधारणा है । यह माना जाता है कि स्वरूप भी एक खास किस्म का लक्षण होता है । अथवा व्याप्ति का स्वरूप व्याप्य का लक्षण बनता है । इस कारण यह भ्रम फैल गया हो । जो भी कारण इसका रहा हो जहाँ तक मैं समझता हूँ शायद इसको किसी भी तरह से सत्यापित किया जाना सम्भव नहीं है कि ये व्याप्ति के लक्षण हैं ।

अनेक आचार्यों ने व्याप्ति का स्वरूप बतलाया है उन समस्त निर्वचनों को एक - एक कर रख पाना मुश्किल काम है इस कारण मैं यहाँ पर **तत्त्वचिन्तामणि** में उठाये गये पूर्वपक्षों को ही प्रस्तुत करने के उपरान्त **तत्त्वचिन्तामणि** से ही उत्तरपक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ । **तत्त्वचिन्तामणि** में सम्भवतः यह बात ज्यादा व्यवस्थित और उचित तरीके से प्रस्तुत की गयी है । पूर्वतन आचार्यों के उद्धरणों और अनके मतों को भी नवीन परिस्कार और नयी दृष्टि से उठाया गया है । गङ्गेशोपाध्याय से प्रक्तन नैयायिक मणिकण्ठ मिश्र ने अपने ग्रन्थ **न्यायरत्न** में व्याप्ति के एकादश निर्वचनों को उठाने के उपरान्त अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया है । गङ्गेशोपाध्याय ने प्रायशः मणिकण्ठ मिश्र द्वारा प्रस्तुत पक्षों को भी अन्तर्भूत करते हुए उन्नीस पूर्वपक्षीय व्याप्तिस्वरूपनिर्वचनों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अपना सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया है ।

व्याप्तिस्वरूप का प्रथमनिर्वचन सम्भव है अव्यभिचरितत्व ।अव्यभिचरितत्व ही व्याप्ति है । परन्तु अव्यभिचरितत्व का अर्थ क्या है ? इसके पाँच तरह के अर्थ सम्भावित हैं –

१)*साध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिः* साध्याभाववदवृत्तित्व ही व्याप्ति है । साध्याभाववदवृत्तित्व के अर्थ का विचार करें तो इसका अर्थ होता है कि साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव व्याप्ति है अर्थतः साध्याभावाधिकरण में हेतु का न रहना ही व्याप्ति है । अगर साध्याभावाधिकरण में हेतु रह रहा हो तो हेतु

व्यभिचरित होगा । "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" इत्यादि स्थलों में साध्य होता है वह्नि, वह्नि के अभाव के अधिकरण में धूम नहीं रहता है । वह्नि के अभाव का अधिकरण होता है जलह्द आदि ,उन समस्त साध्याभावाधिकरणों में से किसी में भी हेतु धूम रहता नहीं है, इस कारण साध्याभावाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वाभाव धूम में है । इस तरह साध्य वह्नि की व्याप्ति धूम में है । "*धूमवान् वह्नेः*" इत्यादि असद्धेतुक स्थलों में साध्यीभूत धूम के अभाव के अधिकरण अयोगोलक आदि में हेतु वह्नि विद्यमान ही रहता है इस कारण वह्निरूप असद्धेतु में व्याप्ति नहीं है क्योंकि उसमें साध्याभावाधिकरणनिरूपित-वृत्तित्व ही है ।

२)*साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं व्याप्तिः* साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्व ही व्याप्ति है । इसका अभिप्राय यह है कि साध्यवद्भिन्न में रहनेवाले साध्याभाव के अधिकरण से निरूपित वृत्तित्व का अभाव व्याप्ति है । व्याप्ति का यह निर्वचन प्रथम निर्वचन में साध्यवद्भिन्न विशेषण दे कर बनाया गया है । साध्यवद्भिन्न विशेषण देने का प्रयोजन है अव्याप्यवृत्तिसाध्यकस्थलों में होने वाली अव्याप्ति का वारण करना । अव्याप्यवृत्तिसाध्यक का अर्थ है कि जहाँ पर साध्य अधिकरण को व्याप्त करके न बैठता हो । उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि "*एतद्वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्*" इत्यादि स्थलों में साध्य कपिसंयोग अपने अधिकरण वृक्ष को व्याप्त करके नहीं रहता है, इस कारण जैसे साध्य कपिसंयोग उस वृक्षविशेष में शाखावच्छेदेन रहता है उसी प्रकार उसी में ही साध्य कपिसंयोग का अभाव भी मूलावच्छेदेन रहता है । इसकारण अगर साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति माना जाये तो "*एतद्वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्*" इत्यादि स्थलों में हेतु में व्याप्ति का समन्वय नहीं हो पायेगा क्योंकि हेतु एतद्वृक्षत्व में साध्याभाववद्वृत्तित्व ही विद्यमान है । साध्यवद्भिन्न विशेषण दे देने पर तो एतद्वृक्ष में रहनेवाला साध्याभाव साध्यवद्भिन्न में रहने वाला नहीं है क्योंकि एतद्वृक्ष तो साध्यवान और साध्याभाववान दोनों ही है । इस कारण व्याप्ति का निर्वचन इस रीति से करने पर अव्याप्यवृत्तिसाध्यक स्थलों में भी व्याप्ति का समन्वय होने में कोई असुविधा नहीं रहती है ।

३)*साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यं व्याप्तिः* साध्यवत्प्रति-योगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । साध्यवत्प्रतियोगिक भेद के अधिकरण में हेतु का न रहना इस निर्वचन के अनुसार व्याप्ति है । "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर इस व्याप्तिनिर्वचन का समन्वय समुचित रीति से किया जा सकता है ,देखें धूम

वह्निमत्प्रतियोगिक भेद के अधिकरण में नहीं रहता है ।

४)*सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभाप्रतियोगित्वं व्याप्तिः* सकलसाध्याभाववन्निष्ठाभावप्रतियोगित्व व्याप्ति है । इस निर्वचन के अनुसार हेतु को साध्याभाव के सभी अधिकरणों में रहनेवाले अभावों का प्रतियोगी होना चाहिए । धूम वह्न्यभाव के समस्त अधिकरणों में रहनेवाले अभावों का प्रतियोगी होता है क्योंकि धूम वह्न्यभाव के किसी भी अधिकरण में रहता नहीं है ।

५)*साध्यवदन्यावृत्तित्वं व्याप्तिः* साध्यवदन्यावृत्तित्व व्याप्ति है । व्याप्ति के इस निर्वचन के अनुसार हेतु को साध्यवद्भिन्न में नहीं रहना चाहिए । धूम वह्निमद्भिन्न में नहीं रहा करता है ।

इन पाँचों ही निर्वचनों में एक बात समान है कि ये पाँचों ही निर्वचन या तो साध्याभाव अथवा साध्यवद्भेद को अन्तर्भूत करके प्रणीत हैं । इस कारण *इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्* इत्यादि केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में ,जहाँ पर कि साध्याभाव और साध्यवत् का भेद दोनों ही अप्रसिद्ध होता है हेतु में इन व्याप्तिनिर्वचनों का समन्वय करना असम्भव हो जाता है । इस कारण ये पाँचों ही निर्वचन त्याज्य हैं [४]।

यहाँ पर इतना और ध्यातव्य है कि उपर्युक्त पञ्चम निर्वचन का तृतीय निर्वचन से अभेद हो जाता है । इस आपत्ति को प्रायशः स्वीकार कर लिया जाता है । ऐसा कहा जाता है कि इन निर्वचनों में जैसे अन्य दोष विद्यमान हैं उसी तरह से तृतीय और पञ्चम का अभेद भी एक दोष है । विचारणीय यह है कि जब पञ्चम निर्वचन का तृतीय निर्वचन से अभेद है तो गङ्गेशोपाध्याय ने इन दोनों को अलग-अलग उल्लेख क्यों किया है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः अलग-अलग विद्वानों के नाम से दोनों ही निर्वचन प्रचलित थे । गङ्गेशोपाध्याय ने इन दोनों को अलग-अलग उल्लेख शायद इस कारण किया होगा कि कहीं ऐसा न मान लिया जाये कि अमुक सम्भावित व्याप्ति के निर्वचन के विषय में गङ्गेशोपाध्याय ने कोई चर्चा न करके अपने मनमर्जी से व्याप्ति के सिद्धान्तनिर्वचन को प्रस्तुत कर दिया है ।

इन पाँचों निर्वचनों को दोषयुक्त पाकर गङ्गेशोपाध्याय अव्यभिचरितत्व के दो अन्य अर्थों की भी सम्भावना प्रस्तुत करके दूषित कर देते हैं । ये व्याप्ति के दो निर्वचन सिंह और व्याघ्र उपनाम वाले दो विद्वानों के द्वारा उद्भावित होने के कारण सिंहव्याघ्रलक्षण के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

६)*साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वं व्याप्तिः* साध्य के असमानाधिकरण्य

का अधिकरण न होना , धूम में हमेशा ही साध्यसामानाधिकरण्य ही आता है कभी भी साध्य वह्नि का असामानाधिकरण्य नहीं आता है । इस कारण वह्नि के असामानाधिकरण्य [illegible] "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* " इत्यादि स्थलों में व्याप्ति का हेतु में समन्वय समुचित रीति से सम्भव होता है। परन्तु "*पर्वतो धूमवान् वह्नेः*" इत्यादि स्थलों में वह्नि में धूम के असामानाधिकरण्य का अनधिकरणत्व नहीं है क्योंकि अयोगोलक आदि स्थलों में वह्नि में धूम का असामानाधिकरण्य ही है ।

७)*साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वं व्याप्तिः* साध्य के वैयधिकरण्य का अधिकरण न होना । चूँकि धूम का अधिकरण कभी भी वह्नि के अधिकरण से भिन्न नहीं होता है, अतः धूम में वह्नि के वैयधिकरण्य का अनधिकरणत्व विद्यमान है ।

गङ्गेशोपाध्याय अव्यभिचरितत्व के इन दोनों निर्वचनों में कोई भी अन्तर न देखते हुए इन दोनों निर्वचनों को मिलाकर *साध्यानधिकरणानधिकरणत्व के रूप में* परिष्कृत करते हैं । इसका मतलब यह निकलता है कि साध्य का अनधिकरण जिसका अनधिकरण हो वही साध्य का व्याप्य होता है । जो वह्नि आदि साध्य का अधिकरण नहीं होता है वह कभी भी धूम आदि सद्धेतु का अधिकरण नहीं ही होता है । इस कारण वह्नि आदि धूम के व्याप्य होते हैं इसमें कोई असौविध्य नहीं होता है ।

गङ्गेशोपाध्याय अव्यभिचरितत्व के इन दोनों निर्वचनों को भी यह कहकर दूषित कर देते हैं कि ये दोनों ही निर्वचन केवलान्वयिसाध्यकस्थलों में और यत्किञ्चित्साध्य के अनधिकरणानधिकरण धूम आदि में असिद्ध हैं [५]। आशय यह है कि अगर *साध्यानधिकरण* का अर्थ यत्किञ्चित् अधिकरण से भिन्न किया जाये तो वह्नि के यत्किञ्चित् अधिकरण महानस से भिन्न पर्वत धूम का अधिकरण होता ही है और ऐसी स्थिति में धूम में व्याप्ति का समन्वय न हो पायेगा । अगर *साध्यानधिकरण* का अर्थ साध्य के समस्त अधिकरणों से भिन्न किया जाये तो ऐसी स्थिति में केवलान्वयि स्थलों में साध्य के समस्त अधिकरणों से भिन्न किसी भी स्थल की अप्रसिद्धि होने के कारण निश्चय ही अव्याप्ति होगी ।

इसके बाद गङ्गेशोपाध्याय अन्य पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हैं कि साध्याभाव की अप्रसिद्धि होने के कारण केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में अव्याप्ति हो रही थी परन्तु केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में भी व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक साध्याभाव तो प्रसिद्ध ही हो जायेगा । व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का आशय यह है कि ऐसा अभाव जिस अभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगी में न रहनेवाले धर्म से अवच्छिन्न

हो रही हो । सामान्यतया अभावीय प्रतियोगिता प्रतियोगी में रहनेवाले धर्म से ही अवच्छिन्न मानी जाती है, परन्तु सोन्दड़ नाम के एक आचार्य प्रतियोगी में न रहनेवाले धर्म से भी प्रतियोगिता का अवच्छेद स्वीकार करते हैं । गङ्गेश ने यह पूर्वपक्ष सोन्दड़ के मत का अनुसरण करते हुए ही उठाया है । उदाहरण के रूप में देखा जाये तो घट में घटत्व रहता है पटत्व नहीं रहता है अगर "*घटः पटत्वेन नास्ति*" "घट पटत्वेन नहीं है" ऐसा अभाव लिया जाये तो यह अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कहा जायेगा । इसी तरह से "*समवायितया वाच्यत्वं नास्ति*" "वाच्यत्व समवायित्वेन रूपेण नहीं है", ऐसा अभाव लिया जाये तो यह अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव होगा क्योंकि वाच्यत्व समवाय सम्बन्ध से कहीं पर भी नहीं रहता है इस कारण समवायिता वाच्यत्व में नहीं रह सकती है । वाच्यत्व का आशय ईश्वरेच्छाविषयत्व से है । समस्त पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय होते ही हैं । इस कारण ईश्वरेच्छाविषयत्व केवलान्वयी होता है । विषयत्व न तो द्रव्य है ,नतो गुण है और न ही कर्म ,इस कारण ईश्वरेच्छाविषयत्व समवायी नहीं हो सकता है । उपर्युक्त रीति से "*घटः पटत्वेन नास्ति*" "*समवायितया वाच्यत्वं नास्ति*" आदि अभाव प्रसिद्ध हो सकेंगे । ये समस्त अभाव स्वयं भी केवलान्वयी होंगे क्योंकि उपर्युक्त रीति से इन अभावों के प्रतियोगी किसी भी स्थल में रह नहीं सकते हैं । इस तरह से केवलान्वयिसाध्यकस्थलों में भी साध्याभाव की प्रसिद्धि तो सम्भव ही है , परन्तु इससे होगा क्या ? घट में ही व्यभिचार हो जायेगा क्योंकि उसमें साध्याभाव रह रहा है और उसमें ही हेतु भी रहता है । इस व्यभिचार का वारण करने के लिए यह कहा जा सकता है कि केवल साध्याभाववद्वृत्तित्व व्यभिचार नहीं है अपितु साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताक-साध्याभाववद्वृत्तित्व व्यभिचार है । घट आदि में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाव तो है नहीं इस कारण व्यभिचार नहीं होगा । परन्तु समस्या फिरभी आती है अव्यभिचरितत्व यदि व्याप्ति है तो साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाववदवृत्तित्व ही व्याप्ति हो सकती है । केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में पुनः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकसाध्याभाव अप्रसिद्ध हो जायेगा । इस कारण पुनः अव्याप्ति दुर्निवार होगी [६]।

यहाँ पर परवर्ती नैयायिक अव्यभिचरितत्व को पारिभाषिक मानने की कल्पना करके अनेक लक्षणों को उपस्थापित करते हैं । रघुनाथ शिरोमणि ने उन समस्त लक्षणों

को सङ्गृहीत कर चौदह लक्षणों को उपस्थापित किया है । उन चौदह लक्षणों की ख़ासियत यह है कि उनमें व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को लेकर लक्षण का समन्वय सम्भव होता है [७]। परन्तु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का स्वीकार ही युक्तिसङ्गत न होने के कारण 'अव्यभिचरितत्व को पारिभाषिक मानकर भी व्याप्ति नहीं माना जा सकता है । यहाँ पर हम पाते हैं कि गङ्गेश के परवर्ती नैयायिक गङ्गेश के मत का केवल अनुवाद न कर उनके मत में अगर कोई अस्पष्टता है तो उसका भी निवारण करने के लिए तत्पर हैं । सोन्दड़ के अनुसार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को लेकर निर्दुष्ट व्याप्तिनिर्वचन सम्भव होने पर भी गङ्गेश द्वारा उसको न स्वीकार करने के पीछे मूलभूत अवधारणा यही है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की सत्ता ही नहीं स्वीकारी जा सकती है । यह पारिभाषिक पदों के अर्थों के निर्वचन की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम है ,जिसके लिए नव्यन्याय को जाना जाता है ।

८)*साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वं व्याप्तिः* साध्य के असामानाधिकरण्य का अधिकरण न होते हुए साधिकरण होना व्याप्ति है , अर्थात् जिस हेतु में साध्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्व का अभाव न हो और वह वृत्तिमान भी हो तो वह हेतु साध्य का व्याप्य होगा । "इदं *वाच्यं ज्ञेयत्वात्* "इत्यादि स्थलों में जितनी भी वृत्तिमान वस्तुएँ हैं उन सबमें साध्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्व ही विद्यमान है परन्तु जो वृत्तिमान ही नहीं है ऐसे गगन में साध्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्व का अभाव विद्यमान है। उस साध्याधिकरणनिरूपितवृत्तित्व के अभाव का अभाव समस्त साधिकरण वस्तुओं में विद्यमान है , समस्त साधिकरण पदार्थों में साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्व के साथ साधिकरणत्व विद्यमान ही है । इस कारण ज्ञेयत्ववाच्यत्वादिसाधनार्थ हम चाहे जिस हेतु का प्रयोग करें वह सद्धेतु ही होता है । इस लिए केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में भी लक्षण का समन्वय सम्भव होता है । परन्तु गङ्गेश इस निर्वचन का भी खण्डन कर देते हैं । उनका कहना है कि साध्यासामानाधिकरण्य के दो अर्थ हो सकते हैं । पहला अर्थ हो सकता है कि साध्यानधिकरणाधिकरणत्व अर्थात् साध्याधिकरणभिन्न अधिकरण हो जिसका हो उसे साध्यानधिकरणाधिकरण कहेंगे । उसका भाव है साध्यासामानाधिकरण्य या साध्यानधिकरणाधिकरणत्व । परन्तु अगर हम इस अर्थ को स्वीकार कर लें तो केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में निश्चय ही अव्याप्ति होगी क्योंकि ज्ञेयत्ववाच्यत्वादि तो हर जगह पर रहेंगे । ऐसी परिस्थिति में समस्त पदार्थ साध्याधिकरण ही होंगे कोई भी

साध्यानधिकरण नहीं हो सकेगा , इसलिए साध्यानधिकरणाधिकरणत्व अप्रसिद्ध ही होगा सो पहला अर्थ तो स्वीकारा नहीं जा सकता है । दूसरा अर्थ हो सकता है कि साध्याधिकरणानधिकरणत्व ही साध्यासामानाधिकरण्य का अर्थ है , इसका मतलब यह हुआ कि साध्य का अधिकरण जिसका अधिकरण न होता हो ,उसको हम साध्याधिकरणानधिकरण कहेंगे । अगर ऐसा निर्वचन किया जाये तो फिर से पूर्ववत् केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में अव्याप्ति होगी । इसका कारण यह है कि ऐसा निर्वचन करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि कोई न कोई ऐसा हो जिसका अधिकरण साध्य का अनधिकरण हो । परन्तु केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में समस्या यह है कि संसार के समस्त वृत्तिमान पदार्थ ही साध्याधिकरणाधिकरण ही होते हैं कोई भी साध्याधिकरणानधिकरण नहीं हो पाता है । कोई भी वृत्तिमान पदार्थ ऐसा नहीं है साध्य का अधिकरण जिसका अनधिकरण होता हो । एक गगन ही ऐसा पदार्थ है जो साध्य के अधिकरण में रहता नहीं है , अन्य समस्त पदार्थ साध्य के अधिकरण में रहते ही हैं । परन्तु गगन के साथ ये समस्या है कि गगन तो वृत्तिमान ही नहीं है गगन का तो कोई भी अधिकरण होता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में गगन का कोई अधिकरण ही नहीं होने के कारण जिसका अनधिकरण साध्य का अधिकरण है ऐसा पदार्थ गगन भी न हो पायेगा । यहाँ पर जो मूलभूत तर्क है वह यह है कि अधिकरण से भिन्न को अनधिकरण कहा जाता है , अगर गगन का कोई अधिकरण ही नहीं है तो आप कैसे कह सकते हैं कि साध्याधिकरण गगनाधिकरण नहीं होता है । यह कथन उसी परिस्थिति में वैध हो सकता था अगर गगन का कोई अधिकरण होता । परन्तु चूँकि गगन का कोई भी अधिकरण होता नहीं है इसलिए गगन का कोई अनधिकरण है ऐसा कथन भी बेमानी हो जाता है । अब अगर दूसरे अर्थ के अनुसार साध्याधिकरणानधिकरणत्व ही केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में अप्रसिद्ध हो जा रहा है तो साध्याधिकरणानधिकरणत्वविशिष्टसाधिकरणत्व भी अप्रसिद्ध ही होगा । इसलिए केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में व्याप्ति अप्रसिद्ध होगी । इसके सिवा "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* "इत्यादि स्थलों में भी व्याप्ति का समन्वय न हो पायेगा । इसका कारण यह है कि सभी वह्न्यधिकरण किसी न किसी धूम के अनधिकरण होते ही हैं । फलतः साध्याधिकरणानधिकरणत्व का अनधिकरणत्व धूम में न आ सकेगा । इस कारण अव्याप्ति होगी । इसलिए व्याप्ति का यह निर्वचन भी ठीक नहीं है[१] ।

९) *स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः* ऐसी भी व्याप्ति का निर्वचन कुछ नैयायिकों ने किया है । गङ्गेश का कथन है कि व्याप्ति का

यह निर्वचन भी उचित नहीं है । आइए प्रथमतः इस निर्वचन के औचित्य पर विचार कर लिया जाये । स्व पद से यहाँ पर ग्राह्य होता है हेतु । "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* " यहाँ पर देखें –धूम के अधिकरण में रहनेवाला अभाव वह्नि का अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि धूम के अधिकरण में वह्नि निश्चय ही रहेगा, धूम के अधिकरण में रहनेवाला अभाव घटपट आदि का अभाव ही हो सकता है। इन सारे ही अभावों का प्रतियोगी वह्नि नहीं होता है, अप्रतियोगी ही होता है । इस तरह धूमसमानाधिकरणा-त्यन्ताभावाप्रतियोगि वह्नि का सामावाधिकरण्य धूम में है । अतः धूम में व्याप्ति है । गङ्गेश इस व्याप्तिनिर्वचन में दो समस्यायें देखते हैं – पहली समस्या यह है कि पर्वतीयधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी महानसीयवह्नि और महनसीयधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी पर्वतीयवह्नि हो जायेगा । इसी तरह से समस्त वह्नि चालनी न्याय से धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभाव के प्रतियोगी ही हो जायेंगे कोई भी वह्नि धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का अप्रतियोगी नहीं हो सकेगा । इस कारण धूम आदि सद्धेतुओं में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* "इत्यादि स्थलों में व्याप्ति का समन्वय न हो सकेगा। दूसरी समस्या यह है कि "*कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्* " इत्यादि सद्धेतुओं में भी व्याप्ति का समन्वय नहीं सम्भव होगा । एक किसी ऐसे वृक्ष, जिसपर कुछ वानर हमेशा ही रहते हैं, को पक्ष बना कर अनुमान का प्रयोग किया गया है । यह सद्धेतु है परन्तु इस स्थल में एतद्वृक्षत्व के अधिकरण एतद्वृक्ष में ही मूलावच्छेदेन कपिसंयोग का अभाव विद्यमान है क्योंकि कपि तो वृक्ष की शाखा पर रहा करता है वृक्ष के मूल पर नहीं इस कारण शाखावच्छेदेन कपिसंयोग रहने पर भी मूलावच्छेदेन कपिसंयोग का अभाव भी वृक्ष में मिल ही जाया करता है । उस अभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग होगा । इसलिए एतद्वृक्षत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव के अप्रतियोगी का सामानाधिकरण्य धूम हेतु में लब्ध न हो सकेगा । इसलिए अव्याप्ति होगी [१०]।

१०)*साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यकत्वं व्याप्तिः* अर्थात् साधन के अधिकरण में रहनेवाले भेद का अप्रतियोगी अगर साध्य हो रहा हो तो उस साधन में साध्य की व्याप्ति होती है । इस निर्वचन में पूर्वनिर्वचन की अपेक्षा अन्तर सिर्फ़ इतना है कि पूर्वनिर्वचन में अत्यन्ताभाव को अन्तर्भूत किया गया था यहाँ पर अन्योन्याभाव को अन्तर्भूत किया जा रहा है । इस निर्वचन के पीछे अवधारणा यह है कि अत्यन्ताभाव तो अव्याप्यवृत्ति होता है परन्तु अन्योन्याभाव अव्याप्यवृत्ति होता नहीं है । इसलिए "*कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्*" इत्यादि अव्याप्यवृत्तिसाध्यक सद्धेतुओं में व्याप्ति का समन्वय

सम्भव होगा । किन्तु गङ्गेश इस मत में भी पूर्वमत में उपस्थापित आपत्तियों को प्रदर्शित करते हैं । यह सोचकर यह निर्वचन किया गया है कि धूमाधिकरणनिष्ठ भेद वह्निमत्प्रतियोगिक नहीं हो सकता है । परन्तु जिस तरह से धूमाधिकरणनिष्ठअत्यन्ताभाव वह्निप्रतियोगिक हो सकता है उसी तरह से धूमाधिकरणनिष्ठभेद भी वह्निमत्प्रतियोगिक हो ही सकता है । जैसे पर्वत में महानसीयधूम का अत्यन्ताभाव मिलता है उसी तरह से पर्वत में महानसीयवह्निमत् का भेद भी मिलता ही है । "*पर्वतो वह्निमन्महानसं न*" इस तरह के भेद का प्रतियोगी वह्निमत् तो होता ही है । ठीक इसी रीति से महानस में वह्निमत् पर्वत का भेद लिया जा सकता है । इसलिए कोई भी वह्निमत् धूमाधिकरणनिष्ठभेद का अप्रतियोगी न हो सकेगा। इसलिए "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" में व्याप्ति का समन्वय नहीं हो पायेगा । "*कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्*" इत्यादि अव्याप्यवृत्तिसाध्यक सद्धेतुओं में व्याप्ति का समन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि "*न मूले वृक्षः कपिसंयोगीअपितु शाखायाम्*" इस तरह की अबाधित प्रतीति होने के कारण निश्चय ही भेद को भी अव्याप्यवृत्ति मानना ही पड़ता है । ऐसी परिस्थिति में एतद्वृक्षत्वसमानाधिकरणभेद का अप्रतियोगी साध्यवत् कपिसंयोगी नहीं हो सकेगा । अतः यहाँ पर भी अव्याप्ति होगी [११]।

११)*साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरणसाध्यसामा-नाधिकरण्यं व्याप्तिः* साधनसमानाधिकरण यावत् धर्मों से निरूपित वैयधिकरण्य का अनधिकरण होनेवाले साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । अभिप्राय यह है कि साध्य को साधनसमानाधिकरण किसी भी धर्म का व्यधिकरण नहीं होना चाहिए । जो साध्य ऐसा है उस साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । इसका समन्वय हम इस तरह से कर सकते हैं –धूम के अधिकरण में जो भी धर्म रहते हैं वे समस्त धर्म वह्नि के अधिकरण में भी रहते ही हैं । इसलिए धूमात्मकसाधनसमानाधिकरण यावत् धर्मों से निरूपित वैयधिकरण्य का अनधिकरण वह्निरूपी साध्य हो जाता है । उस वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में है । अतः धूम में वह्नि की व्याप्ति है , ऐसा हम कह सकते हैं। किन्तु गङ्गेश का कहना है कि इस निर्वचन का समन्वय किसी भी हेतु में नहीं किया जा सकता है क्योंकि साधनसमानाधिकरण यावत् धर्मों के अन्तर्गत प्रमेयत्व, वाच्यत्व आदि धर्म भी आते ही हैं इन धर्मों के केवलान्वयी होने के कारण इनका सामानाधिकरण्य ही समस्त धर्मों में आयेगा । किसी भी धर्म में इनका वैयधिकरण्य नहीं आयेगा। इसलिए पहले इनका वैयधिकरण्य और फिर इनके वैयधिकरण्य का अधिकरण और अनधिकरण

दोनों ही अप्रसिद्ध होगा । इसलिए साधनसमानाधिकरण यावत् धर्मों से निरूपित वैयधिकरण्य का अनधिकरण साध्य कहीं पर भी मिलेगा नहीं । फलतः असम्भव दोष से यह निर्वचन ग्रस्त हो जायेगा [१२]।

१२)*अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः* अनौपाधिक सम्बन्ध ही व्याप्ति है । अनौपाधिक सम्बन्ध से आशय उपाधिर्राहित सम्बन्ध से है । ऐसा कहने का आशय यह है कि अगर साध्य का हेतु के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक हो तो तभी व्याप्ति बन सकेगी अगर साध्य का हेतु के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है अपितु किसी उपाधि के कारण है तो व्याप्ति नहीं बन सकेगी । वह्नि का धूम में सम्बन्ध उपाधि के कारण नहीं है , परन्तु धूम का वह्नि में सम्बन्ध उपाधि के कारण है । वहाँ पर उपाधि है आर्द्रेन्धन का संयोग । अगर आर्द्रेन्धन का संयोग है तभी वह्नि के रहने की स्थिति में धूम का रहना आवश्यक होता है । अगर आर्द्रेन्धन का संयोग नहीं है तो वह्नि के रहने पर भी धूम नहीं रहता है । उदाहरण के रूप में हम अयोगोलक को देख सकते हैं । इसके विपरीत धूम के रहने पर वह्नि का रहना अनिवार्य होता है । इसमें कोई उपाधि नहीं है । इसलिए हम धूम के द्वारा वह्नि का अनुमान करने में ख़ुद को सक्षम पाते हैं परन्तु वह्नि के द्वारा धूम का अनुमान करने में ख़ुद को सक्षम नहीं पाते हैं । **न्यायरत्न** में मणिकण्ठ मिश्र ने इस निर्वचन के दूषण में कहा है कि अनौपाधिकत्व का ज्ञान उपाधिज्ञान के अधीन है । उपाधि साध्यव्यापक होते हुए साधनाव्यापक धर्म को कहते हैं , व्यापकत्व व्याप्यत्वप्रतियोगिक होता है । इस कारण व्यापकत्व का ज्ञान व्याप्यत्व के ज्ञान के विना सम्भव नहीं है । व्याप्यत्व तो व्याप्ति ही है । इसका मतलब यह हुआ कि जब तक व्याप्यत्व का ज्ञान नहीं होगा तब तक अनौपाधिकत्व का ज्ञान सम्भव नहीं होगा और जब तक अनौपाधिकत्व का ज्ञान नहीं होगा तब तक अनौपाधिकसम्बन्ध रूपी व्याप्यत्व का ज्ञान सम्भव नहीं होगा । इस तरह अन्योन्याश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण यह निर्वचन ठीक नहीं है [१३]। परन्तु गङ्गेश इस निर्वचन को अन्य रीति से दूषित करते हैं । उनका कथन है कि अनौपाधिकसम्बन्ध का अर्थ है उपाधिरहित सम्बन्ध , अर्थात् हेतु में उपाधि का अभाव होना चाहिए । अब सवाल यह है कि जिस किसी उपाधि का अभाव होने से काम चल जायेगा अथवा प्रकृतस्थलीय उपाधि का अभाव होना चाहिए । इसको थोड़ा व्यवस्थित करके देखें तो सवाल कुछ ऐसा होता है किसी भी साध्य के व्यापक और किसी भी साधन के अव्यापक धर्म का निषेध हेतु में करना है अर्थात् संसार के किसी भी साध्य और साधन को आधार बना कर व्यवस्थित होनेवाली उपाधि का

अभाव धूमादि हेतुओं में होना चाहिए अथवा प्रकृत साध्य के व्यापक और प्रकृतसाधन के अव्यापक धर्म का अभाव हेतु में आना चाहिए। अगर इनमें से प्रथम पक्ष को लिया जाये तो संसार के किसी भी साध्य और साधन को आधार बना कर व्यवस्थित होनेवाली उपाधि का अभाव धूमादि हेतुओं में रहेगा ही यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि धूम की साध्यता होने पर और वह्नि की हेतुता होने पर व्यवस्थित होनेवाली उपाधि आर्द्रेन्धनसंयोग का अभाव धूम हेतु में नहीं ही रहता है न केवल इतना ही अपितु अनेक अन्य उपाधियों का अभाव भी धूमादि हेतुओं में नहीं रह सकता है । इसलिए इस निर्वचन का समन्वय नहीं किया जा सकेगा । अगर आपका कथन हो कि प्रकृत साध्य के व्यापक और प्रकृतसाधन के अव्यापक धर्म का अभाव हेतु में आना चाहिए तो समस्या और भी गहरी हो जाती है क्योंकि वह्निरूपी साध्य का व्यापक और धूमरूपी साधन का अव्यापक कोई धर्म अगर प्रसिद्ध है तो उस धर्म का अभाव धूमहेतु में नहीं ही रहेगा और ऐसा कोई धर्म प्रसिद्ध नहीं है तब तो प्रतियोगी ही अप्रसिद्ध होने के कारण आप अभाव कैसे ले सकते हैं? इसलिए दोनों ही स्थितियों में यहाँ पर व्याप्ति नहीं बन सकेगी [१४]।

१३)*कार्त्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः* ऐसा भी व्याप्ति का निर्वचन उपलब्ध होता है । गङ्गेश इसको दूषित करते हुए कहते हैं कि कार्त्स्न्येन सम्बन्ध भी व्याप्ति नहीं हो सकता है क्योंकि जहाँ पर साध्य एक ही व्यक्ति है और हेतु भी एक ही व्यक्ति है वहाँ पर कार्त्स्न्येन सम्बन्ध का अभाव है । जैसे "*तद्रूपवान् तद्रसात्*" यह एकव्यक्तिसाध्यक और एकव्यक्तिहेतुक स्थल होता है । इस स्थल में कार्त्स्न्येन सम्बन्ध अप्रसिद्ध होता है अतः अव्याप्ति होगी । इसी तरह से नानाव्यक्तिक स्थलों में भी एक-एक वह्नि में कृत्स्न धूम का सम्बन्ध तो सम्भव नहीं है [१५]।

१४)*यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धो व्याप्तिः* साधन के यावत् अधिकरणों में रहनेवाले साध्य का सम्बन्ध ही व्याप्ति है । वह्नि धूम के समस्त अधिकरणों में रहता है तथा उस वह्नि का सम्बन्ध धूम में है भी । इसलिए यह व्याप्ति बनती है । ऐसा कहा जा सकता है परन्तु गङ्गेश इस निर्वचन का भी खण्डन कर देते हैं । उनकी आपत्ति है कि कोई भी वह्नि धूम के समस्त अधिकरणों में रहता नहीं है । अतः यह निर्वचन भी दोषमुक्त नहीं है[१६]।

१५)*साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः* साधनसमानाधिकरण जितने भी धर्म होते हैं उन समस्त धर्मों का समानाधिकरण होनेवाले

साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । चूँकि धूम के समस्त अधिकरणों में वह्नि रहता ही है अतः धूमसमानाधिकरण जितने भी धर्म होते हैं उन समस्त धर्मों का समानाधिकरण वह्नि होता ही है । उस वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में है अतः यह निर्वचन आपाततः सही दिखता है । परन्तु गङ्गेश इसको भी दूषित कर देते हैं -उनका प्रश्न है कि यावद्धर्मसामानाधिकरण्य का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यही है कि धूमसमानाधिकरण जितने भी धर्म होते हैं उन समस्त धर्मों के अधिकरण में वह्नि को रहना चाहिए परन्तु हम पाते हैं कि ऐसा तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि धूमसमानाधिकरण जितने भी धर्म होते हैं उन समस्त धर्मों के अन्तर्गत पर्वतत्व, चत्वरत्व, महानसत्व आदि धर्म भी आते हैं । इन समस्त धर्मों का एक अधिकरण तो अप्रसिद्ध ही है क्योंकि महानसत्वादि समस्त अधिकरणों की प्रतीति तो होती नहीं है[१७]।

१६) *स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः* स्वाभाविकसम्बन्ध ही व्याप्ति है । धूम में वह्नि का सम्बन्ध स्वाभाविक है , किन्तु वह्नि में धूम का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। इस निर्वचन में समस्या यह है कि स्वाभाविकत्व का अर्थ क्या है ? यही स्पष्ट नहीं है और न ही इसको स्पष्ट किया जा सकता है । इसके दो अर्थ सम्भव हैं और दोनों ही अर्थों में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष आते हैं । प्रथम अर्थ हो सकता है - स्वभावजन्यत्व , यदि इस अर्थ को माना जाये तो हम पृथिवीत्व को हेतु बना कर "*इदं द्रव्यं पृथिवीत्वात्* " ऐसा द्रव्यत्व का अनुमान नहीं किया जा सकेगा क्योंकि पृथिवीत्व द्रव्यत्वस्वभावजन्य नहीं होता है पृथिवीत्व में द्रव्यत्वस्वभावजन्यत्व नहीं है । पृथिवीत्व तो जाति है वह आखिर जन्य कैसे हो सकती है । इसलिए अव्याप्ति होगी । अगर स्वाभाविकत्व काअर्थ आप स्वभावाश्रितत्व करें तो "*इदं द्रव्यं सत्त्वात्*" इस स्थल में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि सत्ता द्रव्यत्व स्वभाव पर आश्रित रहती है । वह द्रव्य है इसी कारण उसमें सत्ता रह रही है । इस तरह हम पाते हैं कि द्रव्यत्वस्वभावाश्रितत्व सत्ता में भी विद्यमान है इसलिए सत्ता को हेतु बनाकर द्रव्यत्व का अनुमान सम्भव होने लगेगा जबकि हक़ीक़त में वह द्रव्यत्वसाधक सद्धेतु नहीं है । इसलिए अतिव्याप्ति होगी। इस तरह स्वाभाविकसम्बन्ध भी व्याप्ति नहीं हो सकता है[१८]।

१७) *सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः* समस्तसम्बन्ध व्याप्तिरूप होते हैं ऐसा भी किन्हीं विद्वानों का अभिमत है । इसमें सबसे बड़ा प्रश्न यह होता है कि जो व्यभिचारी सम्बन्ध हैं वे भी ऐसी स्थिति में व्याप्ति बनने लगेंगे , परन्तु व्यभिचारी सम्बन्ध को तो व्याप्ति नहीं माना जा सकता है इस पर उनका कहना है कि व्यभिचारी सम्बन्ध भी किसी न

किसी के साथ व्याप्ति होता ही है । गङ्गेश के पूर्ववर्ती मणिकण्ठ मिश्र ने **न्यायरत्न** में इस मत को युक्तिसङ्गत रीति से उठाया है। उनका कहना है कि जो व्यभिचारी होता है वह सबके प्रति व्यभिचारी नहीं होता है अपितु कुछ के प्रति वह भी अव्यभिचारी होता है । इस कारण व्यभिचारी को देखकर भी किसी धर्म की अनुमिति होती ही है [१९]। परन्तु मणिकण्ठ मिश्र इस मत का समर्थन नहीं करते हैं अपितु वे भी इस मत में दोष देखते हैं । इस मत के खण्डन में कहते हैं कि ठीक है सम्बन्धमात्र ही व्याप्ति हो ,परन्तु किसी सम्बन्धविशेष के ज्ञान से ही अनुमिति होती है उस सम्बन्धविशेष को बताना तो अनिवार्य है। परन्तु वह दुर्वच है [२०]। गङ्गेश भी यहाँ पर मणिकण्ठमिश्र से अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए यही कहते हैं कि यहाँ पर व्याप्ति का स्वरूप बतलाया जाना चाहिए व्याप्ति का लक्षण नहीं क्योंकि व्याप्ति के लक्षण का ज्ञान अनुमिति के लिए उपयुक्त नहीं होता है अपितु व्याप्ति के स्वरूप का ज्ञान ही उपयुक्त होता है । व्याप्ति का स्वरूप ही लिङ्गपरामर्श का विषय होता है । जब स्वरूपनिरूपण का प्रस्ताव है और वहाँ पर आप यदि लक्षण बता रहे हैं तो यह तो अर्थान्तर हो जायेगा । अगर आप सम्बन्धमात्र को व्याप्ति का स्वरूप मानना चाहते हों तो यह तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि सम्बन्धमात्र के ज्ञान से अनुमिति होती नहीं है [२१]।

१८) केवलान्वयी स्थल में *साध्यसामानाधिकरण्य* और व्यतिरेकी (अभाव प्रतियोगी) साध्य होने पर *साध्यवदन्यावृत्तित्व* व्याप्ति है । ये दोनों ही तरह की व्याप्तियों का ज्ञान अनुमितिविशेष के प्रति कारण होता है । अनुमितिसामान्य के प्रति किसी भी व्याप्ति का ज्ञान कारण नहीं होता है । अनुमितिसामान्य के प्रति तो पक्षधर्मताज्ञान ही कारण होता है । मणिकण्ठ मिश्र ने इस मत को उपेक्षा के साथ उठाया है । परन्तु उसमें कोई दोष नहीं प्रदर्शित किया है । गङ्गेश तो इस मत में दोषप्रदर्शन भी करते हैं कि वह्नि का अभाव संसार में उपलब्ध होता है सो यह व्यतिरेकी साध्य है इस स्थल के लिए साध्यवदन्यावृत्तित्व ही व्याप्ति होगी । परन्तु वह्निमत् पर्वत से अन्य महानस आदि में भी धूम है ही । इसका मतलब है कि धूम में साध्यवदन्यावृत्तित्व नहीं है । इस तरह यहाँ पर व्याप्ति का समन्वय नहीं हो सकेगा [२२]।

१९) *अविनाभावो व्याप्तिः* अविनाभाव व्याप्ति है । धूम वह्नि के विना नहीं रहता है , इस तरह हम पाते हैं कि धूम में वह्नि का अविनाभाव है । परन्तु इस निर्वचन में समस्या यह है कि केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में इस का समन्वय कर पाना सम्भव नहीं है [२३]। इसको हम ऐसे समझ सकते हैं कि अविनाभाव का अर्थ है न विना

भाव इसको हिन्दी में इस तरह से अर्थ कर सकते हैं कि उसके विना नहीं रहना अर्थात् उसका (साध्य का) अभाव रहने पर हेतु का न रहना ही व्याप्ति है । परन्तु केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में समस्या यह है कि वहाँ पर साध्याभाव की भी अप्रसिद्धि होने के कारण इस तरह का अविनाभाव भी अप्रसिद्ध हो जाता है ।

इस तरह से गङ्गेश प्रायशः उन्नीस पूर्वपक्षीय व्याप्तिनिर्वचनों को उपस्थापित करने के उपरान्त अपना व्याप्तिविषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। अगर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को स्वीकृति देकर परवर्ती विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत निर्वचनों को सम्मिलित कर लिया जाये तो यह सङ्ख्या काफ़ी बढ़ जाती है । ऊपर प्रदर्शित निर्वचनों में से कुछेक के विषय में तो यह ज्ञात है कि वे किनके द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु अनेक के विषय में यह ज्ञात नहीं है और न ही उनके विषय में ज्ञात करने के साधन ही हैं । **न्यायकन्दलीकार** अव्यभिचरितत्व को व्याप्ति मानने का अभिमत रखते हैं [२४]। **प्रशस्तपाद** अविनाभाव को व्याप्ति मानने का प्रस्ताव रखते हैं [२५]। **न्यायलीलावती** के प्रणेता वल्लभाचार्य कार्त्स्न्येन सम्बन्ध को व्याप्ति मानना चाहते हैं [२६]। उदयन अनौपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति मानने का पक्ष रखते हैं [२७]। सिंह और व्याघ्र नाम से प्रसिद्ध लक्षण किनके द्वारा प्रस्तुत है इस विषय में विद्वानों में लम्बा विवाद है । सतीश चन्द्र विद्याभूषण सिंह और व्याघ्र के रूप में आनन्द सूरि और अमर चन्द्र सूरि की पहचान करते हैं और डी. सी. भट्टाचार्य History Of Navyandyaya In Mithila में इसका खण्डन कर देते हैं । **न्यायसिद्धान्तदीप** की भूमिका में विमलकृष्ण मतिलाल इस विषय में विद्याभूषण का समर्थन करते हैं [२८]। इसी तरह से कुछ अन्य निर्वचनों के विषय में जाना जा सकता है कि उनका प्रवर्तक कौन है परन्तु ज्यादातर के विषय में यह जान पाना मुश्किल है ।

न्यायसिद्धान्तदीप में शशधर ने भी अनेक प्रायशः सत्रह निर्वचनों को प्रस्तुत करने के उपरान्त उन्हें दूषित कर दिया है । अन्ततः उन्होंने अविनाभाव को व्याप्ति माना है[२९] । स्पष्ट है कि शशधर ने प्रशस्तपाद का अनुसरण किया है । इसके अलावा साध्यात्यन्ताभावासामानाधिकरण्य को व्यतिरेकी स्थल में और केवलान्वयी स्थल में साध्यसामानाधिकरण्यमात्र को व्याप्ति मानने का प्रस्ताव भी "*केचित्तु* "प्रतीक के द्वारा उठाया है[३०]। "*अपरे तु*" इस प्रतीक के द्वारा साधनव्यापकधर्मावच्छिन्नसाध्यसम्बन्ध को व्याप्ति मानने की बात भी कही है [३१]।

न्यायरत्न में "*केचित्*" प्रतीक के द्वारा सम्बन्धमात्र को व्याप्ति मानने का पक्ष

उठाया गया है [३२]। केवलान्वयी में साध्यसामानाधिकरण्य और व्यतिरेकी में अव्यभिचरितत्व को व्याप्ति मानने की बात "*अन्ये तु*" प्रतीक से कही है [३३]। "*वस्तुतस्तु*" प्रतीक से "*प्रतियोगिसमानाधिकरणात्यन्ताभावेतरस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि-सामानाधिकरण्य*" को व्याप्ति मानने का सिद्धान्त रखा है [३४]।

गङ्गेश के विवेचन में हम देखते हैं कि उन्होंने अपने से पूर्व में प्रचलित प्रायशः समस्त व्याप्तिनिर्वचनों पर विचार किया है । तदनन्तर उन्होंने अपना व्याप्तिनिर्वचन **न्यायरत्न** में "*वस्तुतस्तु*" प्रतीक के द्वारा प्रस्तुत व्याप्तिनिर्वचन के आधार पर परिष्कृत कर सिद्धान्तित किया है । गङ्गेश का व्याप्तिनिर्वचन "*प्रतियोग्यसमानाधिकरण-यत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभिन्नसाध्यसामानाधिकरण्य*" है[३५]। अगर हम इसको हिन्दी में सरल तरीके से कहें तो प्रतियोगी के अधिकरण में न रहनेवाले और हेतु के अधिकरण में रहनेवाले अभाव का प्रतियोगी न होनेवाले साध्य का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* "इत्यादि स्थलों में हम पाते हैं कि धूम के अधिकरण में रहनेवाला और अपने प्रतियोगी के अधिकरण में न रहनेवाला अभाव वह्नि का अभाव कभी भी नहीं होता है । जो भी अभाव ऐसा होता है उसका प्रतियोगी साध्य वह्नि नहीं होता है अप्रतियोगी ही होता है इस तरह वह्नित्व प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता और वह्नि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न नहीं होता । इस कारण उस वह्नि का सामानाधिकरण्य धूम में वह्नि की व्याप्ति है ।

दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि इस व्याप्तिनिर्वचन को अनेक तरह से परिष्कृत करते हैं । उनका प्रथम सुझाव तो यह है कि इस निर्वचन में "*यत्समानाधिकरण*" की जगह पर "*यद्रूपविशिष्टसमानाधिकरण*" का निवेश करना चाहिए और साध्य में प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभेद का निवेश करने के बज़ाय साध्यतावच्छेदक में प्रतियोगितावच्छेदकभेद का निवेश करना चाहिए [३६]। इन दोनों परिष्कारों का प्रयोजन यह था कि **चिन्तामणि**कार के व्याप्तिनिर्वचन में समस्या यह थी कि धूम के तत्तत् अधिकरणों में तत्तद् वह्नि का अभाव मिल जाया करता है इस कारण समस्त वह्नि हेतुसमानाधिकरणप्रतियोग्यसमानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी ही हो जाते हैं और उनमें रहनेवाले समस्त तत्तद् वह्नित्व प्रतियोगितावच्छेदक हो जाते हैं । इस कारण समस्त वह्नि ही प्रतियोग्यसमानाधिकरणधूमसमानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न हो जाते हैं कोई भी वह्नि प्रतियोग्यसमानाधिकरणधूम-समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभिन्न नहीं होता है । फलतः

तादृशसाध्यसामानाधिकरण्य धूम में नहीं आयेगा और इस कारण अव्याप्ति होगी । इस अव्याप्ति का निवारण करने के लिए साध्य में प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नभेद की विवक्षा न करके साध्यतावच्छेदक में प्रतियोगितावच्छेदकभेद की विवक्षा की गयी [३७]। गङ्गेश ने साध्य और हेतु का यत् और तत् पदों से उल्लेख किया था । इसमें समस्या यह थी कि यत् और तत् पद व्यक्तिविशेष के वाचक होते हैं , "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" में यत् और तत् पदों से कोई एक वह्निव्यक्ति ही गृहीत होता और इस तरह से पर्वतीय , महानसीय , चत्वरीय वह्निव्यक्तियों के तथा पर्वतीय , महानसीय , चत्वरीय धूमव्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होने के कारण वह्निसामान्य और धूमसामान्य की एक व्याप्ति नहीं बन पायेगी । समस्या गहरी आगे जाकर हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में अनुमान करना ही प्रायशः असम्भव हो जाता है । पर्वत को पक्ष बनाकर वह्नि की अनुमिति करनी है तो ज़रूरी है कि पहले से व्याप्ति का ग्रहण हो चुका हो जोकि उक्त परिस्थिति में सम्भव ही नहीं है क्योंकि महानसीय धूम में महानसीय वह्नि का साहचर्य गृहीत हुआ है, आख़िर व्याप्ति के ग्रहण का स्थल तो महानस ही है । परन्तु महानसीय धूम में महानसीय वह्नि का साहचर्य गृहीत होने से आख़िर किस तरह पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति गृहीत हो सकती है । सो व्याप्ति का ग्रहण ही असम्भव होने से अनुमिति तो सुतराम् असम्भव है । इस कारण रघुनाथ शिरोमणि ने यत् और तत् की जगह पर सामान्यीकरण कर यद्रूपविशिष्ट और तद्रूपविशिष्ट पदों का निवेश करते हुए निर्वचन को परिष्कृत किया है [३८]। रघुनाथ शिरोमणि केवल इन्हीं परिष्कारों पर नहीं रुकते हैं अपितु **चिन्तामणि**कार के निर्वचन के घटक अन्य अनेक पदों के अर्थ के विषय में गम्भीर विचार करते हैं , तथा प्रायशः निर्वचन के घटक समस्त पदों के अर्थ को परिष्कृत कर प्रस्तुत करते हैं ।

किन्तु उन तमाम परिष्कारों के बावज़ूद रघुनाथ को एक ऐसे स्थल पर अव्याप्ति दिखलायी देती है जहाँ पर विना **चिन्तामणि**कार के निर्वचन का परित्याग किये दोष का निवारण असम्भव हो जाता है । न्यायपरम्परा की यह वैचारिक विशेषता है कि किसी भी लक्षण या निर्वचन का परित्याग करने के पूर्व उसके समस्त सम्भावित पक्षों पर विचार करना ज़रूरी माना जाता है । कुछ विचारकों को यह अटपटा सा लग सकता है परन्तु जो परम्परा वैचारिक स्वातन्त्र्य और तर्क को ही अपना प्रमुख अस्त्र बनाकर चलती हो उस परम्परा में ऐसा होना स्वाभाविक ही है । रघुनाथ ने जहाँ पर दोष का प्रदर्शन किया है वह स्थल है "*कालो घटवान् कालपरिमाणात्*" काल में कालिक

सम्बन्ध से घट है क्योंकि काल में कालपरिमाण है तथा काल समस्त पदार्थों का कालिकसम्बन्ध से आधार होता है। कालपरिमाण होने पर किसी न किसी काल में ही रहनेवाले घट का काल में रहना अनिवार्य है । इस कारण नैयायिकों की नज़र में यह सद्धेतु है । सो इसमें व्याप्ति का समन्वय होना ही चाहिए । इसमें समन्वय नहीं हो पाता है क्योंकि निर्वचन के अनुसार हेतुसमानाधिकरण अभाव को प्रतियोगिसमानाधिकरण नहीं होना चाहिए परन्तु काल में न सिर्फ़ भावपदार्थ ही कालिकसम्बन्ध से रहा करते हैं वरन् अभाव भी कालिकसम्बन्ध से रहा करते हैं । तो जो कोई अभाव हेतुसमानाधिकरण होगा वह हर एक अभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण भी होगा। हेतुसमानाधिकरण प्रतियोग्यसमानाधिकरण अभाव की ही अप्रसिद्धि हो जाने से हेतुसमानाधिकरण प्रतियोग्यसमानाधिकरण अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक या अनवच्छेदक दोनों ही अप्रसिद्ध होंगे तथा ऐसी परिस्थिति में आगे का सारा का सारा निर्वचन ही घटित न हो सकेगा । इस कारण अव्याप्ति तो तय है । गङ्गेश के यथाश्रुत निर्वचन के अनुसार इस अव्याप्ति का निवारण सम्भव नहीं है । अतः रघुनाथ शिरोमणि गङ्गेश के निर्वचन को इस तरह से परिष्कृत करते हैं –"*स्वप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणीभूतहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदका-वच्छिन्नाधिकरणवृत्त्यभावीयप्रतियोगितासामान्ये यद्धर्मावच्छिन्नत्वयत्सम्बन्धा-वच्छिन्नत्वोभयाभावः तद्धर्मावच्छिन्नस्य तत्सम्बन्धेन व्यापकत्वं बोध्यम् ,व्यापक-सामानाधिकरण्यञ्च व्याप्तिः* "। इस निर्वचन का अभिप्राय यह है कि हेतुसमानाधिकरण होनेवाले और अपने प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का समानाधिकरण न होनेवाले अभाव की प्रतियोगितासामान्य में अगर साध्यतावच्छेदका-वच्छिन्नत्व तथा साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व दोनों का अभाव आ जाये तो साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्य को व्यापक समझना चाहिए , तथा उस साध्य का सामानाधिकरण्य हेतु में आना चाहिए । नैयायिक उभयाभाव शब्द का प्रयोग करते हैं। उभयाभाव तीन परिस्थितियों में आ सकता है अगर प्रथम रहे और द्वितीय न रहे , अगर प्रथम न रहे और द्वितीय रहे , साथ ही अगर दोनों ही नहीं हैं तो भी । हम सामान्य रीति से देखें तो दो व्यक्तियों को अगर लें तो चार स्थितियाँ हो सकती हैं –१)दोनों हैं, २)दोनों नहीं हैं, ३)पहला है दूसरा नहीं है, ४)दूसरा है पहला नहीं है । इनमें से केवल प्रथम स्थिति को छोड़कर शेष तीनों ही स्थितियों में उभयाभाव आया करता है । तो अगर हेतुसमानाधिकरण होनेवाले और अपने प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध से

प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का समानाधिकरण न होनेवाले अभाव की प्रतियोगितासामान्य में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व आ रहा है और साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं आ रहा है या साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व नहीं आ रहा है और साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नत्व आ रहा है या साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व भी नहीं आ रहा है और साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व भी नहीं आ रहा है , इन तीनों ही परिस्थितियों में तादृश अभाव की प्रतियोगितासामान्य में उभयाभाव आ जायेगा सिर्फ़ एक स्थिति में उभयाभाव नहीं आ सकेगा अगर तादृश अभाव की प्रतियोगितासामान्य में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व भी आ रहा है और साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व भी आ रहा है । तो हमें सिर्फ़ यह देखना है कि क्या तादृश अभाव की प्रतियोगितासामान्य में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व तथा साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व दोनों आ रहें हैं अगर हाँ तो हेतु में समन्वय नहीं होगा अगर नहीं तो समन्वय होगा । पहले प्रसिद्ध स्थल "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" को लेते हैं –यहाँ पर धूमसमानाधिकरण होनेवाले और अपने प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का समानाधिकरण न होनेवाले अभावों में "*संयोगसम्बन्धेन वह्निर्नास्ति*" संयोगसम्बन्ध से वह्नि नहीं है ऐसा अभाव नहीं आता है । सिर्फ़ यही अभाव ऐसा हो सकता है जिसकी प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व तथा साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व दोनों आ रहें हों। चूँकि यह अभाव तो गृहीत ही नहीं होता है , अन्य जो भी अभाव मिलेंगे अन समस्त अभावों की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व तथा साध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नत्व दोनों तो नहीं ही रहेंगे । इस कारण तादृश अभाव की प्रतियोगितासामान्य में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वोभयाभाव आ ही जायेगा और इस तरह से व्याप्ति का समन्वय होने में कोई भी असुविधा नहीं होगी । "*कालो घटवान् कालपरिमाणात्*" को लें तो अभी यहाँ पर भी व्याप्ति का समन्वय करने में कोई असुविधा नहीं है । कालपरिमाण हेतु का अधिकरण होता है काल , काल में यद्यपि कालिकसम्बन्ध से समस्त पदार्थ रहा करते हैं । परन्तु घट ही संयोगसम्बन्ध से काल में नहीं रहेगा क्योंकि संयोगसम्बन्ध से काल और घट का आधाराधेयभाव नहीं होता है । तो हेतुसमानाधिकरण होनेवाला अभाव हो जाता है "*संयोगेन घटो नास्ति*" "संयोगसम्बन्ध से घट नहीं है" ऐसा अभाव । यह अभाव संयोगसम्बन्ध से घट के अधिकरण में नहीं रहा करता है । इसलिए यह अभाव अपने प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का समानाधिकरण न होनेवाला अभाव हो जाता है ।

उसकी प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्वोभयाभाव आ ही जायेगा क्योंकि इस अभाव की प्रतियोगिता में यद्यपि साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व है,साध्यतावच्छेदकीभूतघटत्व से इस अभाव की प्रतियोगिता अवच्छिन्न होती है परन्तु साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व नहीं है,साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध है कालिकसम्बन्ध और प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध है संयोग। इस तरह व्याप्ति का समन्वय सम्भव होता है । इसी तरह से संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक पटाद्यभाव में तो न तो साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व है और नही साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व ही है । इस कारण जिस अभाव की प्रतियोगिता में साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नत्व और साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्व दोनों ही आ सकता था वैसा अभाव तो कालिकसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक घटाभाव ही हो सकता था । परन्तु यह अभाव तो काल में रहता ही नहीं है । तो हम पाते हैं कि हेतुसमानाधिकरण स्वप्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन स्वप्रतियोग्य-समानाधिकरणाभावीयप्रतियोगितासामान्य में साध्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वसाध्यतावच्छेदक-सम्बन्धावच्छिन्नत्वोभयाभाव "*कालो घटवान् कालपरिमाणात्*"इस स्थल में भी सुलभ होता है और इस कारण व्यापकसामानाधिकरण्यरूपा व्याप्ति का समन्वय यहाँ पर भी हो जाता है । **दीधिति**कार रघुनाथ शिरोमणि "*कालो घटवान् कालपरिमाणात्*" इस अनुमान को कुछ अलग तरीके से उठाते हैं तथा इस अन्तिम परिष्कार तक पहुँचने के पूर्व कुछ अन्य परिष्कारों पर भी विचार करते हैं [३९]। परन्तु रघुनाथ का पूरा-पूरा अनुसरण करने पर अत्यन्त विस्तार हो जाता इसलिए मैंने यहाँ पर अन्तिम परिष्कार तक पहुँचने के लिए **कारिकावली** का अनुसरण किया है [४०]।

सिद्धान्तलक्षणप्रकरण में उपर्युक्त रीति से व्याप्तिस्वरूप का निष्कृष्ट निरूपण करने के उपरान्त भी रघुनाथ शिरोमणि **केवलान्वयिप्रकरण** में इस निर्वचन का खण्डन कर देते हैं । रघुनाथ का आशय है कि "*साध्याभाववदवृत्तित्व*" को ही व्याप्ति मानना चाहिए क्योंकि "*साध्याभाववदवृत्तित्व*" को व्याप्ति मानने में "*व्यापकसामानाधिकरण्य*"को व्याप्ति मानने की अपेक्षा लाघव है । दूसरी बात यह है कि *साध्याभाववदवृत्तित्व* को व्याप्ति मानने पर साधन का भेद होने पर भी व्याप्ति का भेद नहीं होता है [४१]। साध्याभाववदवृत्तित्व व्यापकसामानाधिकरण्य की अपेक्षा लघुशरीर होता है इस कारण लाघव है [४२]। लघुशरीर का आशय यह है कि व्यापकसामानाधिकरण्य में जो पदार्थ विषय होते हैं साध्याभाववदवृत्तित्व में उससे कम पदार्थ निविष्ट होते हैं । यह तो सुस्पष्ट ही है कि उपर्युक्त रीति से निरुक्त व्यापकसामानाधिकरण्य में व्यापकत्व का

परिष्कार ही काफी विस्तृत होता है । उसमें हेतुसमानाधिकरण प्रतियोग्यसमानाधिकरण अत्यन्ताभावीयप्रतियोगितासामान्य में यद्धर्मावच्छिन्नत्वयत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वोभयाभाव आता है तद्धर्मावच्छिन्न का तत्सम्बन्ध से हेतु का व्यापकत्व होता है, तथा ऐसे व्यापक का सामानाधिकरण्य ही व्याप्ति है । इसकी अपेक्षा साध्याभाववदवृत्तित्व निश्चय ही लघुशरीर हुआ करता है । साधन का भेद होने पर भी अभेद होने का आशय साधनतावच्छेदक का भेद होने पर भी व्याप्ति का अभेद होने से है । इसको गदाधर भट्टाचार्य कल्पनालाघव के रूप में देखते हैं [४३]। इस तरह साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने पर अवच्छेदकलाघव भी होगा और कल्पनालाघव भी ।

इस तरह से लाघव के कारण साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने का पक्ष रखकर रघुनाथ व्यापकसामानाधिकरण्य को व्याप्ति मानना सम्भव नहीं है इसमें और भी युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं । रघुनाथ का कथन है कि तभी व्यापकसामानाधिकरण्य को व्याप्ति मानना सम्भव था अगर व्यापकसामानाधिकरण्य का ज्ञान व्यभिचारज्ञान का विरोधी होता क्योंकि यह तो मानी हुई बात है कि अगर व्याप्ति का निश्चय है तो व्यभिचार का ज्ञान नहीं ही होता है । साथ ही यदि व्यभिचार का निश्चय है तो व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता है । इस कारण व्यापकसामानाधिकरण्य के ज्ञान और व्यभिचारज्ञान में परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव तो होना ही चाहिए । समस्या यहीं पर है व्यापक-सामानाधिकरण्य के ज्ञान व व्यभिचारज्ञान में परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव ही नहीं सम्भव है । आखिर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव हो तो कैसे ? प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव दो तरह से हो सकता था या तो तदभाववत्त्वावगाही होने के कारण ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाये अथवा तदभावव्याप्यवत्त्वावगाही होने के कारण ज्ञान को प्रतिबन्धक माना जाये । परन्तु साध्याभाववदवृत्तित्व रूपी व्यभिचार के ज्ञान और व्यापकसामानाधिकरण्य रूपा व्याप्ति के ज्ञान में तदभाववत्त्वावगाही होने के कारण भी प्रतिबन्धकत्व नहीं आ सकता है और तदभावव्याप्यवत्त्वावगाही होने के कारण भी प्रतिबन्धकत्व नहीं आ सकता है इन दोनों में कोई भी दूसरे के अभाव का भी अवगाहन नहीं कर रहा है और न ही दूसरे के अभाव के व्याप्य का अवगाहन कर रहा है । देखें "*पर्वतो धूमवान् वह्नेः*" यहाँ पर "*धूमाभाववदवृत्तिर्वह्निः*" धूम के अभाव के अधिकरण में रहता है, ऐसा व्यभिचारज्ञान होता है । इसमें वह्नित्व का शब्दशः उल्लेख नहीं किया गया है इस कारण स्वरूपतः भासता है प्रतियोगिता और प्रतियोगिता का अवच्छेदकत्व सम्बन्धमर्यादा से भासता है। अब इस स्थल पर व्याप्ति का आकार होगा "*वह्निसमानाधिकरणात्यन्ता-*

भावीयप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतधूमत्वावच्छिन्नधूमसमानाधिकरणो वह्निः" अर्थात् वह्निसमानाधिकरणात्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकीभूतधूमत्वावच्छिन्नधूमसमानाधिकरण वह्नि है। इस व्याप्तिज्ञान में वह्नित्व का शब्दशः उल्लेख होने के कारण वह्नित्व वह्नित्वत्वेन भासता है । उसमें प्रतियोगिता का भान भी प्रतियोगितात्वेन होगा क्योंकि प्रतियोगिता का भी शब्दशः उल्लेख किया गया है । इसी तरह प्रतियोगितावच्छेदकत्व का भान भी प्रतियोगितावच्छेदकत्वत्वेन होगा क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकत्व का भी शब्दशः उल्लेख किया गया है । इस कारण व्यापकसामानाधिकरण्य के ज्ञान व व्यभिचारज्ञान में विषयविरोध न होने के कारण परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव ही नहीं सम्भव है । तो कैसे व्यापकसामानाधिकरण्य को व्याप्ति माना जाये[४४] ? अतः साध्याभाववदवृत्तित्व को ही व्याप्ति मानना चाहिए ।

साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने में एक सवाल अवश्य उठ खड़ा होता है कि ऐसी व्याप्ति तो अवृत्तिमत् गगनआदि पदार्थों में भी है । जो कहीं पर नहीं रहता है वह साध्याभावाधिकरण में रहेगा तो कैसे ? अवृत्तिमद् में साध्यगभावाधिकरणनिरूपित-वृत्तित्वाभाव तो रहेगा ही । ऐसी परिस्थिति में गगन आदि को हेतु बनाकर भी वह्नि आदि का अनुमान होना चाहिए । इसका समाधान रघुनाथ यह कह कर देते हैं कि केवल व्याप्ति के रहने से अनुमान नहीं होता है अपितु हेतु में पक्षधर्मता भी होनी चाहिए तथा उस पक्षधर्मता का ज्ञान भी होना चाहिए । गगन में व्याप्ति तो है परन्तु पक्षधर्मता नहीं है और पक्षधर्मता का ज्ञान भी नहीं है । अतः अनुमान नहीं सम्भव होता है । गगन को हेतु बनाकर इसी कारण वह्नि आदि का अनुमान करना सम्भव नहीं होता है । अथवा उस व्याप्ति में साध्यसामानाधिकरण्य का भी निवेश कर दिया जाये [४५]। गगन में साध्यसामानाधिकरण्य न होने के कारण गगन में वह्नि की व्याप्ति है ऐसा व्यवहार नहीं होता है ।

साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति नहीं माना जा सकता है, इसमें गङ्गेश का तर्क था कि साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने पर केवलान्वयिसाध्यक स्थलों में अव्याप्ति होगी । रघुनाथ यहाँ पर समस्या को जड़ से समाप्त करते हुए कहते हैं कि आप प्रथमतः यह बताइए कि क्या ज्ञेयत्वादि को हेतु बना कर प्रमेयत्व आदि का अनुमान होता भी है? क्योंकि ज्ञेयत्वादि के हेतु बना कर प्रमेयत्व आदि का अनुमान कम से कम अनुभव में तो नहीं आता है । अगर आपको लगता हो कि ऐसा अनुमान होता है तो ऐसा मानिए कि प्रमेयत्वादि के पक्ष बनाकर उसमें घटादिवृत्तित्व का अनुमान

किया जाता है और उसमें हेतु होता है केवलान्वयित्व या तद्वृत्तिधर्मव्यापकत्व [४६]। अर्थात् "*घटः प्रमेयः ज्ञेयत्वात्*" ऐसा अनुमान नहीं होता है ऐसी अनुमिति अनुभव में नहीं आती है । अपितु "*प्रमेयत्वं घटवृत्ति केवलान्वयित्वात्*" अथवा "*प्रमेयत्वं घटवृत्ति घटत्वव्यापकत्वात्*" इस तरह के प्रमेयत्व को पक्ष बनाकर अनुमिति की जाती है । ऐसी अनुमिति ही सम्भव है । घटादि को पक्ष बनाकर प्रमेयत्वादि की अनुमिति तो किसी भी तरह से सम्भव नहीं है । प्रमेयत्व को पक्ष बनाकर अनुमिति सम्भव है साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने पर भी "*घटवृत्तित्वाभाववदवृत्ति केवलान्वयित्वम्*" इस प्रकार का तथा "*घटवृत्तित्वाभाववदवृत्ति घटत्वव्यापकत्वम्* "इस तरह का व्याप्तिज्ञान सुलभ होता है । अतः केवलान्वयित्व या तद्वृत्तिधर्मव्यापकत्व को हेतु बनाकर प्रमेयत्व का अनुमान करना सुलभ होता है । इस रीति से अगर केवलान्वयि अनुमान की सम्भावना से इनकार कर दिया जाये तो रघुनाथ के अनुसार साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने में कोई असुविधा दिखलायी नहीं देती है । मुझे लगता है कि रघुनाथ ने यहाँ पर मौलिक तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण से साध्याभाववदवृत्तित्व को व्याप्ति मानने का पक्ष रखा है तथा यह आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए कि रघुनाथ के दोनों ही बड़े व्याख्याकार जगदीश और गदाधर यहाँ पर रघुनाथ का समर्थन करते हुए उनके पक्ष में ही खड़े हैं इससे मुझे यही न्यायमत के अनुसार व्याप्ति का सिद्धान्त निर्वचन प्रतीत होता है ।

व्याप्ति का लक्षण

न्यायवैशेषिक परम्परा में आचार्यों ने व्याप्ति के स्वरूपनिर्वचन पर जितना ध्यान दिया है , व्याप्ति का लक्षण बताने पर उतना ध्यान नहीं दिया है । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि व्याप्तिस्वरूप का ज्ञान तो अनुमिति के लिए कारण होने की वज़ह से अनिवार्यतया उपयोगी होता है , परन्तु व्याप्ति के लक्षण का ज्ञान अनुमिति के लिए उस तरह से उपयोगी नहीं होता है । शायद इसी कारण व्याप्ति का लक्षण करने में आचार्यों ने अपने श्रम का अपव्यय प्रायशः नहीं किया है । परन्तु कुछेक स्थलों पर व्याप्ति का लक्षण भी बताया गया है । **न्यायलीलावती** में वल्लभाचार्यजी व्याप्ति का स्वरूप बतलाने के बाद व्याप्ति का लक्षण भी बतलाते हैं । उनका कथन है कि अनौपाधिकत्व ही व्याप्ति का लक्षण है[४७]। गङ्गेश भी व्याप्त्यनुगम प्रकरण में बताते हैं कि अनौपाधिकत्व ही व्याप्ति का लक्षण है [४८]। इसके अतिरिक्त अन्य भी व्याप्ति के लक्षण हो सकते हैं । गङ्गेश को भी इसमें आपत्ति नहीं है । व्याप्तिपूर्वपक्षप्रकरण में सम्बन्धमात्र व्याप्ति है

इस निर्वचन का खण्डन करते समय गङ्गेश कहते हैं कि यह व्याप्ति का लक्षण हो सकता है । यह व्याप्ति का स्वरूप नहीं हो सकता है[४९]। इससे ज्यादा व्याप्तिलक्षण के विषय में न्यायपरम्परा में मुझे उपलब्ध नहीं हो सका ।

व्याप्ति के भेद

व्याप्ति को न्यायपरम्परा में कुछ नैयायिक एक तरह की मानते हैं और कुछ नैयायिक दो तरह की मानते हैं । जो नैयायिक व्याप्ति को एक तरह की मानते हैं वे व्याप्ति को व्यापकसामानाधिकरण्य रूप मानते हैं । वे कहते हैं कि व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान अनुमिति का अङ्ग नहीं होता है[५०] । जो नैयायिक व्याप्ति को दो तरह की मानने का अभिमत रखते हैं वे कहते हैं कि दो तरह की व्याप्ति का ज्ञान अनुमिति का कारण हुआ करता है । एक है व्यापकसामानाधिकरण्य रूप अन्वयव्याप्ति का ज्ञान और दूसरा है साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान । दोनों ही तरह की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमिति का अनुभव होता है [५१]। "*वह्निमान् धूमात्*" में दोनों ही तरह की व्याप्तियाँ हैं । धूमव्यापकवह्निसामानाधिकरण्य भी धूम में है और वह्न्यभावव्यापकीभूत धूमाभाव का प्रतियोगित्व भी धूम में है । चूँकि जहाँ-जहाँ वह्नि नहीं रहता है वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं रहता है । इसलिए धूमाभाव वह्न्यभाव का व्यापक है , यह बात सुस्पष्ट हो जाती है ।

मौलिक चिन्तक रघुनाथ शिरोमणि तो न ही व्यापकसामानाधिकरण्य रूप अन्वयव्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानते हैं और न तो साध्याभावव्यापकी-भूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानते हैं । उनका कथन है कि अनुमितिकारणीभूता व्याप्ति सिर्फ़ साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा ही होती है । व्यापकसामानाधिकरण्य को अनुमिति के प्रति कारण न मानने में रघुनाथ शिरोमणि की युक्तियाँ विगत पृष्ठों में (पृ.७०–७२) प्रदर्शित की जा चुकी हैं । रही बात साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानने की तो रघुनाथ का कथन है कि ऐसी व्याप्ति को अनुमिति के प्रति कारण मानने में साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा व्याप्ति के ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानने की अपेक्षा गौरव होगा । साध्याभाववदवृत्तित्व की अपेक्षा साध्याभाव-व्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति गुरुशरीर है। व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापकत्व का प्रवेश किया गया है और साध्याभाववदवृत्तित्व में व्यापकत्व का प्रवेश नहीं है। इस तरह उसको अनुमिति के प्रति कारण मानने पर शरीरकृत गौरव होगा । साथ ही साथ

साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति को अनुमिति के प्रति कारण मानने में समस्या यह है कि साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान व्यभिचारज्ञान का विरोधी नहीं होता है [५२]। इस ज्ञान के व्यभिचारज्ञान का विरोधी न होने की वजह यह है कि यह व्याप्ति का ज्ञान व्यभिचार के अभाव को विषय नहीं करता है । इस कारण इनमें परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं हो सकता है । यदि ये दोनों परस्पर एक दूसरे के अभाव को विषय कर रहे होते तो परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव सम्भव था। परन्तु ऐसा न होने के कारण इनमें परस्पर प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव नहीं है। तो आख़िर कैसे साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति को अनुमिति के प्रति कारण माना जाये ? इस तरह रघुनाथ शिरोमणि साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व रूप व्यतिरेकव्याप्ति के अनुमितिकारणत्व का खण्डन कर देते हैं । मज़े की बात यह है कि जगदीश और गदाधर भी रघुनाथ के पक्ष में ही खड़े हैं। जो लोग न्यायपरम्परा को रूढ़िवादी बताते हैं उन्हें इस पर विचार करना चाहिए। इस तरह अनुमितिकारणीभूता व्याप्ति सिर्फ़ साध्याभाववदवृत्तित्वरूपा ही होती है । यही सिद्धान्त के रूप में सामने आता है ।

सन्दर्भसूची

१.लिङ्गपरामर्शविषयव्याप्तिस्वरूपनिरूपणप्रस्तावे लक्षणाभिधानस्यार्थान्तरत्वात् ।

पृ.३८१, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२.पृ.२७,त.चि.रहस्य(अनुमानखण्ड प्रथम परिच्छेद)

३.समारब्धानुमानप्रामाण्यपरीक्षाकारणीभूतव्याप्तिग्रहोपायप्रतिपादननिदानं व्याप्तिस्वरूप-निरूपणमारभते । पृ.१४१,त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

४.नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः, न तावदव्यभिचरितत्वं तद्धि न साध्याभाववदवृत्तित्वं साध्यवद्भिन्नसाध्याभाववदवृत्तित्वं , साध्यवत्प्रतियोगिकान्योन्याभावासामानाधिकरण्यं , सकलसाध्याभाववदवृत्तित्वं , साध्यवदन्यावृत्तित्वं वा , केवलान्वयिन्यभावात् ।

पृ.१४१,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

५.नापि साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वं साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वं वा । तदुभयमपि साध्यानधिकरणानधिकरण्त्वं ,तच्च तत्र यत्किञ्चित्साध्यानधिकरणानधिकरणे धूमे चासिद्धम्

पृ.१६१,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

६.अथेदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यत्र समवायितया वाच्यत्वाभावो घट एव प्रसिद्धः व्यधिकरणधर्मा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वात् । न चैवं घट एव व्यभिचारः साध्यता-वच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववद्वृत्तित्वं हि व्यभिचारः । नच वाच्यत्वाभावस्तादृशो घटे

इति चेत् ,तर्हि तादृशसाध्याभावसामानाधिकरण्याभावो व्याप्तिः , तथा चाप्रसिद्धिः ।

पृ.१८३ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

७.द्रष्टव्य – त. चि.दीधिति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावप्रकरण (अनुमितिगादाधरी)

८.प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः । पृ.१८३ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

९.अथ साध्यासामानाधिकरण्यानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वं व्याप्तिः , केवलान्वयिनि साध्यासामानाधिकरण्यं निरधिकरणे आकाशादौ प्रसिद्धमिति चेत् ? न,साध्यासामानाधिकरण्यं हि न साध्यानधिकरणाधिकरणत्वं साध्याधिकरणानधिकरणत्वं वा केवलान्वयिनि यत्किञ्चित् साध्याधिकरणानधिकरणे धूमे चाव्याप्तेः ।

पृ.३३१ तथा पृ.३४० , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१०.नापि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं पर्वतीयवह्नेर्महानसीय-धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतयोगित्वात् , द्रव्यत्वादेरव्याप्यवृत्त्यव्याप्यत्वापत्तेश्च ।

पृ.३४०-३४१ , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

११.नापि साधनवन्निष्ठान्योन्याभावाप्रतियोगिसाध्यवत्कत्वं व्याप्तिः , मूले वृक्षः कपिसंयोग-वान्नेत्यबाधितप्रतीतेः तदन्योन्याभावस्यापि तत्र सत्त्वात् ।....वह्निमत्पर्वतस्य धूमवन्महानसनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगित्वाच्च । पृ.३४१ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१२.नापि साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मनिरूपितवैयधिकरण्यानधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं साधनसमानाधिकरणस्य प्रमेयत्वादेर्वैयधिकरण्याप्रसिद्धेः ।

पृ.३४१ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१३.अनौपाधिकत्वं ह्युपाधिज्ञानाधीनज्ञानम् , उपाधिश्च साध्यव्यापकः साधनाव्यापको वाच्यः, व्यापकत्वं व्याप्यत्वप्रतियोगिकमित्यन्योन्याश्रयात् । पृ.४९, न्यायरत्नम्

१४.यत्किञ्चित्साध्यव्यापकसाधनाव्यापकधर्मनिषेधो न धूमादौ , प्रकृतसाध्यव्यापक-साधनाव्यापकधर्मश्च सिद्ध्यसिद्धिभ्यां न निषेद्धुं शक्यः ।

पृ.३५७ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१५.नापि कार्त्स्न्येन सम्बन्धो व्याप्तिः , एकव्यक्तिके तदभावात् । नानाव्यक्तिकेऽपि सकलधूम-सम्बन्धस्य प्रत्येकवह्नावभावात् । पृ.३७६ ,त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१६.न च यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसम्बन्धः , साधनाश्रये महानसादौ सकले प्रत्येकवह्नेरा-श्रितत्वविरहात् । पृ.३७६-३७७ , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१७.नापि साधनसमानाधिकरणयावद्धर्मसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं यावद्धर्मसामा-नाधिकरण्यं हि यावत्तद्धर्माधिकरणाधिकरणत्वं तच्चाप्रसिद्धं साधनसमानाधिकरणसकल-महानसत्वाद्यधिकरणाप्रतीतेः । पृ.३७७ , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

१८.नापि स्वाभाविकः सम्बन्धो व्याप्तिः , स्वभावजन्यत्वे तदाश्रितत्वादौ वा अव्याप्त्यतिव्याप्तेः
पृ.३७७ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)
१९.केचित् सम्बन्धमात्रमेव व्याप्तिः , सर्वेषामेव सम्बन्धानां व्याप्तिरूपत्वात् । तर्हि व्यभिचारिसम्बन्धिलिङ्गदर्शनेऽप्यनुमितिः स्यादिति चेत् ? तद्दर्शनेऽप्यस्त्येव कस्यचिद्धर्मस्यानुमितिः । न हि यद्व्यभिचारि तत्सर्वं प्रति व्यभिचारि । पृ.५४ , न्यायरत्न
अथ सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः , व्यभिचारिसम्बन्धस्यापि केनचित् सह व्याप्तित्वात् ।
पृ.३८१ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)
२०.अन्ये तु –भवतु सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः , तथापि विशेषजिज्ञासायां कीदृशसम्बन्धज्ञानादनुमितिरुत्पद्यत इति वक्तव्यम् । तच्च दुर्वचम् । पृ.५५ , न्यायरत्न
२१.तत्र , लिङ्गपरामर्शविषयव्याप्तिनिरूपणप्रस्तावे लक्षणाभिधानस्यार्थान्तरत्वात् । न च सम्बन्धमात्रं तथा ; तद्बोधादनुमित्यनुत्पत्तेः । पृ.३८१ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)
२२.केवलान्वयिनि केवलान्वयिधर्मसम्बन्धो व्यतिरेकिणि साध्यवदन्यावृत्तित्वं व्याप्तिः एतयोरनुमितिविशेषजनकत्वम् , अनुमितिमात्रे पक्षधर्मतैव प्रयोजिका । ....इति केचित् । तदपि न ;साध्यवदन्यावृत्तित्वस्य धूमेऽसत्त्वात् वह्निमत्पर्वतान्यस्मिन् धूमसत्त्वात् ।
पृ.३८१ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)
२३.नाप्यविनाभावः ;केवलान्वयिन्यभावात् । पृ.३७७ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)
२४.एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम् । पृ.५०३ , प्रशस्तपादभाष्य
२५.कोऽयमविनाभावो नाम ;अव्यभिचारः । पृ.४९२ , न्यायकन्दली
२६.का पुनरियं व्याप्तिः ? साधनस्य साध्यसाहित्यं कार्त्स्न्येन , न पुनरनुपाधित्वम् ।
पृ.४९६–४९८ , न्यायलीलावती
२७.स्वाभाविकं सम्बन्धमुपसंहृत्य तस्य स्वरूपमाह *तथाहीति* । स्वाभाविको निरुपाधिरित्यर्थः
पृ.३३४ ,तात्पर्यपरिशुद्धि (न्यायचतुर्ग्रन्थिका)
२८. Page -16 , Introduction न्यायसिद्धान्तदीप
२९.नन्वविनाभाव एव व्याप्तिः । पृ.६७ , न्यायसिद्धान्तदीप
३०.केचित्तु साध्यात्यन्ताभावासामानाधिकरण्यं व्याप्तिः । ...न च केवलान्वयिन्यव्याप्तिः , तत्र केवलान्वयित्वस्यैव व्याप्तित्वात् । पृ.६८ , न्यायसिद्धान्तदीप
३१. अपरे तु साधनव्यापकधर्मावच्छिन्नसाध्यसम्बन्धो व्याप्तिः । पृ.६८ , न्यायसिद्धान्तदीप
३२.पृ.५४,न्यायरत्न

३३.अन्येतु ....केवलान्वयिसाध्ये साध्यसामानाधिकरण्यमेव व्याप्तिः । अन्यत्र चाव्यभिचरितत्वमेव व्याप्तिरस्तु । पृ.५५, न्यायरत्न

३४.वस्तुतस्तु प्रतियोगिसमानाधिकरणात्यन्ताभावेतरस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिना सह सामानाधिकरण्यं यस्य तदेव तस्य व्याप्तिरित्युच्यते । तत्रैव

३५.अत्रोच्यते –प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतयोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यत्र भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः । पृ.३९१ , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

३६. प्रतियोग्यसमानाधिकरणयद्रूपविशिष्टसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतयोगितानवच्छेदको यो धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्नेन येन केनापि समं सामानाधिकरण्य तद्रूपविशिष्टस्य तद्धर्मावच्छिन्नयावन्निरूपिता व्याप्तिरित्यर्थः । पृ.३९२ , त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

३७.वह्नित्वावच्छिन्नस्य सर्वस्यैव धूमादिमन्निष्ठाभावप्रतियोगितावच्छेदकीभूततत्तद्व्यक्तित्वाद्यवच्छिन्नत्वादव्याप्तिरित्यन्यथा व्याचष्टे *प्रतियोगितानवच्छेदको यो धर्म* इति ।

पृ.२०९ , त. चि.दीधिति(जागदीशी)

३८.यत्त्वतत्त्वेन हेतोर्निवेशे हेतुव्यक्तिभेदेन व्याप्तिर्भिद्येत , सा च नानुमित्युपयोगिनी पक्षीयधूमादिव्यक्तिव्यापकतायाः पूर्वं वह्न्यादावगृहीतत्वादिति *यद्रूपविशिष्टे*त्युक्तम् ।

पृ.३९३ , त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

३९.द्रष्टव्य- त. चि.दीधिति सिद्धान्तलक्षणप्रकरणम्(अनुमितिगादाधरी)

४०.वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यम् । इत्थञ्च कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसम्बन्धेन घटाभावप्रतियोगिनोऽपि घटस्यानधिकरणे हेत्वधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावस्तस्य प्रतियोगितायां कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः । पृ. ३०६–३०७ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

४१.अत्र वदन्ति –साध्याभाववदवृत्तित्वमेव व्याप्तिर्लाघवात् प्रायशः साधनभेदेऽप्यभेदाच्च ।

पृ.१३६१ , त. चि.दीधिति (अनुमितिगादाधरी)

४२. व्यापकसामानाधिकरण्यापेक्षया लघुशरीरत्वादित्यर्थः । पृ.१३६२, अनुमितिगादाधरी

४३.एतन्मतेऽवच्छेदकलाघवमुक्त्वा कल्पनालाघवमाह *साधनभेदेऽपि* । साधनतावच्छेदकभेदेऽपीत्यर्थः । पृ.१३६२, अनुमितिगादाधरी

४४.स्यादेवं यदि व्यापकताज्ञानं व्यभिचारबुद्धिं विरुन्ध्यात् । न चैवम् ,वह्न्यभाववद्वृत्तिर्धूम इति ज्ञाने हि वह्नित्वं स्वरूपतः प्रतियोगित्वं तदवच्छेदकत्वञ्च सम्बन्धमर्यादया भासते । धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकं वह्नित्वमित्यत्र च वह्नित्वत्वेन वह्नित्वे

प्रतियोगितात्वविशिष्टतदवचत्छेदकत्वविशिष्टाभाव इति विषयविरोधविरहात् ।
पृ.१३६२, त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

४५.आकाशादेस्तथात्वेऽपि पक्षधर्मताविरहान्नानुमितिः । निविशतां वा तत्र साध्यसामानाधिकरण्यं वृत्तिमत्त्वं वा । पृ.१३६१ –१३६२, त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

४६.प्रमेयत्वादेश्च घटादिवृत्तित्वं केवलान्वयित्वेन कथञ्चितद्वृत्तिधर्मव्यापकत्वेन वाऽनुमेयम् न तु ज्ञेयत्वादिहेतुका तदनुमितिरानुभाविकी । पृ.१३७३ , त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

४७. किं पुनरस्या लक्षणम् ? अनुपाधित्वम् । पृ.५०१ , न्यायलीलावती

४८. अनौपाधिकत्वं तल्लक्षणम् । पृ.७३७ , त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

४९.पृ.३८१ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

५०.उदयनाचार्याणां मते स्वव्यापकसाध्यसामानाधिकरण्यज्ञानमेवानुमितिजनकं व्यतिरेक-व्याप्तिज्ञानस्य तैरङ्गताया अनभ्युपगमात् ।

पृ.२१ , नारायणीटीका , जागदीशीकेवलान्वयिप्रकरणम्

५१.द्वैविध्यं तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः ।
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादिहोच्यते ।। कारिका १४२-१४३, कारिकावली
साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । पृ. ४९९ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

५२. एवं साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमपि नानुमित्यौपयिकं गौरवात् , व्यभिचार-ज्ञानाविरोधित्वाच्च । पृ.१३८० , त. चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

****

५

व्याप्तिग्रहोपाय

व्याप्ति को चाहे जैसा माना जाये , परन्तु उस व्याप्ति का ज्ञान तो अनुमिति के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है । सच कहा जाये तो व्याप्ति का ज्ञान नहीं अपितु व्याप्ति का निश्चय अनुमिति के लिए उपयोगी होता है क्योंकि व्याप्ति का संशयात्मक ज्ञान रहने पर भी अनुमिति होती नहीं है । ऐसा ज्ञान अनुमिति के लिए किसी काम का होता नहीं है। तो सवाल यही है कि आख़िर व्याप्ति का निश्चय होगा कैसे ? सन्देहवादी पूर्वपक्ष चार्वाक आदि के द्वारा जो अनुमिति के प्रमात्व और अनुमान के प्रामाण्य का खण्डन किया जाता है उसके मूल में यह युक्ति सबसे प्रमुख है कि किसी भी तरह से व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं है । अगर व्याप्ति का निश्चय नहीं हुआ तो अनुमान का प्रामाण्य तो स्वयं ही खण्डित हो जायेगा क्योंकि आख़िर किसको आधार बनाकर अनुमान खड़ा होगा ? व्याप्ति का निश्चय अनुमान के लिए नींव का काम करता है । अगर उसका सम्पादन नहीं सम्भव हुआ तो अनुमान के प्रामाण्य की आशा दुराशा ही हो जायेगी । विगत **अनुमान का प्रामाण्य** शीर्षक अध्याय में सन्देहवादी चार्वाक आदि के द्वारा अनुमान के प्रामाण्य के खण्डनार्थ प्रस्तुत युक्तियों में व्याप्ति का निश्चय न सम्भव होने की बात युक्तिपुरस्सर उठायी गयी है । सो अनुमान के प्रामाण्य का सम्पादन करने के लिए व्याप्ति का निश्चय कैसे होगा इस सवाल का जवाब ढूँढने की कोशिश न्यायपरम्परा में कहाँ पर विश्रान्ति को प्राप्त करती है । इसको ही हम इस अध्याय में देखेंगे । न्यायपरम्परा में इस प्रश्न के कई उत्तर अनेक विद्वानों के द्वारा दिये गये हैं । अन्य दर्शनों के विद्वानों के द्वारा भी यह प्रश्न सुविचारित है ।

सकृद्दर्शन

प्रभाकर जो एक प्रसिद्ध मीमांसक हैं , सकृद्दर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। न्यायवैशेषिकपरम्परा में किसी नैयायिक का मत सकृद्दर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानने का हो ऐसा मुझे उपलब्ध नहीं हुआ । सकृद्दर्शन व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है इसमें अनेक तर्क दिये जा सकते हैं और अनेक तर्क दिये भी गये हैं । परन्तु उनमें सबसे ज्यादा मज़बूत तर्क यह है कि विशेषदर्शन न रहने पर सहचारादिसाधारणधर्म के **दर्शन से व्यभिचार का संशय होना अनुभवगम्य है । अगर सकृद्दर्शन व्याप्ति का**

ग्राहक होता तो ऐसी स्थिति में कभी भी व्यभिचार का संशय नहीं होना चाहिए था । क्योंकि सकृद्दर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रह होता है ऐसा आपका अभिमत है और सकृद्दर्शन तो हो चुका । सो व्याप्ति का ग्रह भी हो चुका । ऐसा तो आप नहीं कह सकते हैं कि व्याप्ति का ग्रह हो जाने के बाद भी व्यभिचार का संशय सम्भव है , क्योंकि व्याप्ति का निश्चय व्यभिचारसंशय का विरोधी होता है । इस तरह प्रथमदर्शनोपरान्त विशेषादर्शन दशा में होनेवाला व्यभिचार का संशय ही यह बतलाता है कि सकृद्दर्शन से व्याप्ति का ग्रह नहीं होता है [१]।

भूयोदर्शन

भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानने की एक लम्बी परम्परा न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में रही है । प्राचीन नैयायिक भूयःसाध्यसहचारदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते थे [२]। **न्यायकन्दली** के लेखक श्रीधर कहते हैं कि सहभाव तो प्रथमदर्शन से ही गृहीत हो जाता है परन्तु उससे नियम का ग्रहण नहीं हुआ सहभावमात्र से तो नियम नहीं होता है । अपितु निरुपाधिक सहभाव से नियम होता है । निरुपाधिकत्व तो भूयोदर्शनाभ्यास से ही गृहीत हो सकता है । इसलिए भूयःसहभाव ग्रहण से बलशाली सविकल्पकप्रत्यक्ष के द्वारा ही निरुपाधिक सहभाव का ग्रहण होता है [३]। वस्तुतः जो कहते हैं कि भूयोदर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है उनका आशय यही है कि भूयोदर्शनसहकृतप्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है क्योंकि भूयोदर्शन अपने आप में कोई प्रमाण नहीं है । इस कारण उसके द्वारा कैसे व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है ।

वाचस्पति मिश्र **न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका** में कुछ इसी तरह का अभिमत प्रकट करते हैं । उनका कथन है कि जैसे उत्तममणि और अनुत्तममणि का भेद भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार से सहकृत इन्द्रिय के द्वारा ही जाना जाता है , उसी तरह से भूयोदर्शन से उत्पन्न संस्कार से सहकृत इन्द्रिय ही धूम आदि के वह्नि आदि के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण कराती है [४]।

उदयनाचार्य जी भी **न्यायकुसुमाञ्जलि** में भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक वतलाते हैं । इसीलिए अप्रयोजकत्व पर चर्चा करते हुए २कहते हैं कि "*भूयोदर्शनाविप्लवे कोऽयमप्रयोजको नाम ?* "(पृ.३७८, न्यायकुसुमाञ्जलि) परन्तु सैकड़ों बार भी जिसका साहचर्य देखा गया है उनमें भी व्यभिचार का दर्शन हुआ ही करता है । इस कारण विपक्षबाधक न होने के कारण केवल भूयोदर्शन भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है । अतः उदयनाचार्य जी भूयोदर्शन की सहायता के लिए तर्क को भी ले आते

हैं । तथा कहते हैं कि *"इस विपक्षदण्डभूत तर्क से सनाथ होकर भूयोदर्शन के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाया करता है । भूयोदर्शन के इस विपक्षदण्डभूत तर्क से सनाथ होने पर कार्य हो या कारण हो,उससे अन्य हो , समवायि हो , संयोगि हो , अन्यथाभाव हो , अभाव हो ,सविशेषण हो , निर्विशेषण हो ,यह लिङ्ग है ऐसा अवधारण निःशङ्क होकर कर लेना चाहिए"* [५]।

अन्वयव्यतिरेकसहचार

अनेक नैयायिक न तो सकृद्दर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं और न ही भूयोदर्शन को ही व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं । **न्यायमञ्जरी** के प्रणेता जयन्त भट्ट उसमें प्रमुख हैं । जयन्त भट्ट भूयोदर्शन के व्याप्तिग्राहकत्व का खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि नियम ही व्याप्ति है और नियम क्या है ? नियम यह है कि उसके रहने पर रहना और उसके न रहने पर न रहना। परन्तु यह आख़िर भूयोदर्शन के द्वारा कैसे गृहीत हो सकता है ? भूयोदर्शन तो सिर्फ़ उसके रहने पर रहने को ही गृहीत करा सकता है । उसके न रहने पर न रहना भूयोदर्शन के द्वारा किसी भी तरह गृहीत नहीं हो सकता है । सरलतया कहा जाये तो अन्वयसहचारमात्र ही भूयोदर्शन के द्वारा किसी तरह गृहीत हो सकता है ,परन्तु व्यतिरेक सहचार भूयोदर्शन के द्वारा किसी भी तरह गृहीत नहीं हो सकता है । तो नियम का आधा ही भूयोदर्शन के द्वारा गृहीत हो सकता है । इस तरह हम पाते हैं कि भूयोदर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है[६]। तो किसके द्वारा होगा व्याप्ति का ग्रहण ? इसका उत्तर निष्कर्ष के रूप में देते हुए जयन्तभट्ट मानते हैं कि भावाभावसाहचर्य का अवधारण करके मन के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होता है [७]। इसका आशय यह है कि चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है क्योकि इन बाह्य इन्द्रियों का सामर्थ्य ही नहीं है कि वे व्याप्ति का ग्रहण करा सकें अपितु वे केवल भावसाहचर्य और अभावसाहचर्य का ग्रहण करा सकने में सक्षम हैं । धूम और वह्नि का साहचर्य भावसाहचर्य है और वह्न्यभाव तथा धूमाभाव का साहचर्य अभावसाहचर्य है । भावसाहचर्य को अन्वय तथा अभावसाहचर्य को व्यतिरेक सहचार कहा जाता है । इस तरह जयन्तभट्ट के मत में अन्वयव्यतिरेकसहचार के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होता है । यह और बात है कि अगर हम जयन्त भट्ट की बात पर ठीक से विचार करें तो हम पाते हैं कि जयन्त भट्ट भी छद्मरूप में भूयोदर्शन से व्याप्ति

का ग्रहण मान ही रहे हैं क्योंकि आखिर अन्वयव्यतिरेकसहचार का ग्रह तो भूयोदर्शन के द्वारा ही हो रहा है । अथवा सकृद्दर्शन के द्वारा अन्वयव्यतिरेकसहचार का ग्रह मान लिया जाये ।

तर्क

गङ्गेश से पूर्ववर्ती मणिकण्ठ मिश्र ने **न्यायरत्न** में व्याप्ति का ग्रहण किससे होता है इस पर विस्तृत विचार करते हुए सिद्धान्तित किया है कि हर जगह पर तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होता है [८]। किन्तु हर जगह पर यदि तर्क के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होता है ऐसा मानें तो अनेक तरह की मुश्किलें सामने आती हैं । प्रथमतः तो तर्क यदि व्याप्ति का ग्राहक होगा तो कैसे ? व्यभिचारशङ्का का निवर्तक होने के कारण व्याप्ति का ग्राहक हो सकता है । व्यभिचारशङ्का का निवर्तक तर्क कुछ इस तरह का होगा कि यदि साध्याभावाधिकरण में हेतु रहे तो साध्य के प्रति हेतु का कारणत्व ही खण्डित हो जाये । अगर "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्* " यहाँ पर तर्क का प्रयोग किया जाये तो इसका आकार कुछ ऐसा होगा –"*यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्*" "यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो निश्चय ही धूम वह्नि से जन्य नहीं होता" । किन्तु समस्या यह है कि ऐसा तर्क कम से कम केवलान्वयी में तो प्रसिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि केवलान्वयी में तो साध्य का अभाव ही प्रसिद्ध नहीं होता है । अगर साध्याभाव ही अप्रसिद्ध है तो आख़िर किस तरह से आप तर्क कर पायेंगे ? और फिर कैसे व्याप्ति का ग्रहण हो पायेगा ? [९] इसका अर्थ यह हुआ कि केवलान्वयी में तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है । द्वितीयतः तर्क के लिए भी व्याप्ति का ज्ञान होना चाहिए क्योंकि तर्क भी नियममूलक होता है । इसका मतलब यह हुआ कि तर्क के लिए एक दूसरे तर्क की आवश्यकता व्याप्ति का ग्रहण कराने के लिए होगी । दूसरे तर्क के लिए एक तीसरे तर्क की आवश्यकता व्याप्ति का ग्रहण कराने के लिए होगी इस तरह हम अपने आप को एक ऐसे अनवस्था के चक्रव्यूह में फँसा हुआ पायेंगे जिससे छूटना असम्भव सा दिखलायी देता है[१०]। अगर इस अनवस्था को दूर करने के लिए आप यह कहें कि शङ्कानिवर्तकतया तर्क व्याप्ति का ग्राहक होता है , अगर कहीं पर व्यभिचारशङ्का की निवृत्ति व्याघात के द्वारा ही हो जा रही है, तो शङ्का की उत्पत्ति ही नहीं होने के कारण व्याप्ति का ग्रहण हो जाने में कोई असुविधा नहीं है । इसका आशय यह होगा कि कहीं पर व्याघात से भी व्याप्ति का ग्रहण हुआ करता है , सर्वत्र तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है । इस तरह आपका पक्ष पुनः खण्डित हो जाता

है क्योंकि कम से कम कुछेक स्थलों पर तर्क से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि तर्क व्याप्तिग्रहण में कारण नहीं होता है क्योंकि आप अनुगम नहीं कर सकते हैं । किसी व्याप्तिग्रहविशेष के प्रति तर्क और किसी व्याप्तिग्रहविशेष के प्रति व्याघात कारण होता है[११]।

इनमें से प्रथम समस्या का समाधान मणिकण्ठ मिश्र यह देते हैं कि केवलान्वयी में भी *साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि साध्यं न वा* साध्य साधन के अधिकरण में रहनेवाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है या नहीं ? ऐसा सन्देह हो सकता है । आप यह कह सकते हैं कि यह तो व्याप्ति का सन्देह या व्याप्यता का सन्देह नहीं है यह तो व्यापकता का सन्देह है , परन्तु व्यापकता का सन्देह भी अन्ततः व्याप्ति का सन्देह ही होता है । यह तो मानी हुई बात है कि व्याप्ति का सन्देह कमोबेश व्यभिचार का सन्देह ही है । इसलिए केवलान्वयी में भी व्यभिचारशङ्का सम्भव है और उस व्यभिचारशङ्का का निवर्तक होने के कारण तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है[१२]। इस कारण केवलान्वयी में भी तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होने में कोई असुविधा नहीं है । द्वितीय प्रश्न का समाधान यह है कि व्याघात भी एक ख़ास तरह का तर्क ही है [१३]। इस कारण अगर कहीं पर व्याघात के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण हो रहा है तो वह भी तर्क के द्वारा ही हो रहा है । परन्तु व्याघात पद कुछ विशेष व्याख्या की अपेक्षा करता है । आख़िर व्याघात है क्या ? व्याघात का मतलब है एक ख़ास तरह का विरोध। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि हमें यह शङ्का तो हो सकती है कि क्या धूम वह्नि का व्यभिचारी है? इस पर तर्क दिया जा सकता है कि यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से जन्य नहीं होता। यहाँ पर भी कोई यह शङ्का कर सकता है कि ठीक है धूम वह्नि से जन्य नहीं हो, ऐसी शङ्का होने पर तर्क कर सकते हैं कि अगर धूम वह्नि से जन्य नहीं होता तो धूम किसी से भी जन्य नहीं होता क्योंकि धूम वह्नि से अतिरिक्त से तो अजन्य है ही। यहाँ यह शङ्का कभी भी नहीं की जा सकती है कि ठीक है धूम अजन्य ही हो। ऐसी शङ्का व्याघात के कारण नहीं होती है। यहाँ पर व्याघात ही शङ्का का निवर्तक बनकर सामने आता है। व्याघात यही है कि अगर धूम को अजन्य मान लें तो हमारी समस्त क्रियायें धूम के लिए वह्नि का आदान आदि व्याहत हो जायेंगी क्योंकि अगर धूम अजन्य है तो धूम के लिए होनेवाली हमारी प्रवृत्ति न तो वह्न्यादानार्थ होनी चाहिए और न तो वह्नि से अतिरिक्त किसी के आदानार्थ होनी चाहिए। तो यह व्याघात एक ख़ास तरह का विरोध ही तो है । वह विरोधविशेष परस्पराभावव्याप्यतया

होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ पर भी व्याप्तिग्रहण के लिए तर्क की अपेक्षा होगी। अगर व्याघात में भी व्याप्ति ग्रहणार्थ तर्क की अपेक्षा है तो इसका निहितार्थ यह होगा कि निश्चय ही फिर से अनवस्था गले पतित होगी। क्योंकि तर्क के लिए व्याप्तिग्रहणार्थ किसी तर्क या व्याघात की अपेक्षा होगी पुनः उस तर्क या व्याघात में व्याप्तिग्रहणार्थ किसी तर्क या व्याघात की अपेक्षा होगी। इसी तरह से यह परम्परा चलती रहेगी इस परम्परा की परिसमाप्ति कहीं पर भी हो नहीं सकेगी। जब आप मान रहे हैं कि या तो तर्क से या तो व्याघात से व्याप्ति का ग्रहण होता है तर्क तो व्याप्तिग्रहमूलक होता ही है , अगर व्याघात भी व्याप्तिग्रहमूलक होता है तो अनवस्था का परिहार कैसे सम्भव हो सकेगा ? यह एक मुश्किल प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान मणिकण्ठ मिश्र इस तरह देते हैं कि व्याघात में भी व्याप्तिग्रहणार्थ तर्क की अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि व्याघात अपने स्वरूप में व्याप्ति को अन्तर्भूत नहीं करता है। परस्पराभावव्याप्यत्वज्ञान होने पर ही व्याघात नहीं होता है अपितु सहानवस्थितिसमुच्चय का ज्ञानमात्र ही व्याघात है। इसमें व्याप्ति अन्तर्भूत नहीं होती है। चूँकि सहानवस्थितिसमुच्चय का ज्ञान विना व्याप्ति का ग्रहण हुए भी हो सकता है। इस कारण व्याप्तिग्रह में अनवस्था नहीं होती है [१४]। मणिकण्ठ मिश्र अतिरिक्त भी सुझाव देते हैं कि यह मान लेने में कोई दोष नहीं है कि कहीं पर तर्क से व्याप्ति का ग्रहण होता है कहीं पर व्याघात से व्याप्ति का ग्रहण होता है और किसी स्थल में आप्तोपदेश से भी व्याप्ति का ग्रहण होता है। यह जो अननुगमदोष प्रदर्शित किया गया था वह तो कोई दोष ही नहीं है क्योंकि जैसे वह्नि कहीं पर तृण से उत्पन्न होता है , किसी अन्य स्थल में अरणि से उत्पन्न होता है तथा कहीं और मणि (चकमक पत्थर या सूर्यकान्त मणि)से भी अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है और ऐसा होने पर भी इन तीनों की वह्नि के प्रति कारणता मानी ही जाती है। इसी को मणिमन्त्रादिन्याय कहा जाता है। उसी तरह से यहां पर भी एक कार्य के प्रति अनेक कारण होने में कोई असौविध्य नहीं है [१५]।

मणिकण्ठ मिश्र के मत पर कुछ विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है। मणिकण्ठ जो यह कह रहे हैं कि सहानवस्थितिसमुच्चय का ज्ञानमात्र ही व्याघात है। इसमें व्याप्ति अन्तर्भूत नहीं होती है । **मणिकण्ठ मिश्र का यह कथन संशयास्पद प्रतीत होता है। अगर नियम का ज्ञान नहीं हुआ है तो क्या सहानवस्थितिसमुच्चय के ज्ञानमात्र से व्याप्ति का ग्रहण हो जायेगा? यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सहानवस्थिति समुच्चय को देखकर यह निर्धारण सम्भव है कि यहाँ पर व्याप्ति है । हम अभी इस**

सवाल को यहीं छोड़कर आगे चलते हैं । देखते हैं कि इस विषय में अन्य आचार्यों के मत क्या हैं ।

भूयःसहचारदर्शन ,व्यभिचारादर्शन ,अनौपाधिकत्वग्रह ,तर्क

गङ्गेश से पूर्ववर्ती आचार्य शशधर ने भूयःसहचारदर्शन,व्यभिचारादर्शन ,अनौपाधिकत्वग्रह व तर्क के सहकार से व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार किया है [१६]। गङ्गेश से पूर्ववर्ती **तर्कभाषा**कार केशव मिश्र भी कुछ ऐसा ही अभिमत रखते है। वे उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कार और भूयोदर्शनजनितसंस्कार के सहकार से साहचर्यग्राही प्रत्यक्ष से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति का अवधारण मानते हैं [१७]।

व्यभिचारज्ञानाभावसहकृतसहचारदर्शन

गङ्गेशोपाध्याय **तत्त्वचिन्तामणि** के व्याप्तिग्रहोपायप्रकरण में व्यभिचारज्ञानाभाव से सहकृतसहचारदर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार करते हैं । गङ्गेश का कथन है कि व्यभिचारज्ञान दो तरह से हो सकता है एक तो व्यभिचार का निश्चय और दूसरा व्यभिचार का सन्देह या शङ्का । व्यभिचार का सन्देह भी दो तरह से सम्भव है एक तो उपाधिसन्देह से हो सकता है और दूसरा हो सकता है विशेषादर्शन की दशा में साधारणधर्म के दर्शन से । जिस तरह से व्यभिचार का सन्देह दो तरह से सम्भव है, उसी तरह से व्यभिचारसन्देह का अभाव भी दो तरह से सम्भव है । किसी स्थल में ऐसा हो सकता है कि अपने आप ही व्यभिचारसन्देह न रहे और कहीं पर ऐसा हो सकता है कि विपक्षबाधकतर्क के द्वारा व्यभिचारसन्देह की निवृत्ति हो [१८]। जब तक शङ्का रहती है तभी तक तर्क का अनुसरण होता है । जहाँ पर तर्क के विना ही व्यभिचारशङ्का का अभाव सिद्ध हो वहाँ पर तर्क के विना ही व्याप्ति का निश्चय सम्भव होता है । इसी कारण व्याघातस्थल में विना तर्क के ही व्याप्ति का ग्रहण हो जाया करता है क्योंकि वहाँ पर तर्क के विना ही व्यभिचारज्ञानाभाव से सहकृत सहचारदर्शन सम्भव होता है। अब अगर व्यभिचारज्ञानाभाव से सहकृत सहचारदर्शन विना तर्क के हो जा रहा है तो विना तर्क के व्याप्ति का निश्चय होने में कोई भी आपत्ति नहीं है [१९]।

गङ्गेशोपाध्याय का मत प्रायशः सिद्धान्त के रूप में न्यायपरम्परा में स्वीकृत है। परवर्ती अनेक नैयायिकों ने गङ्गेश से अपनी थोड़ी-बहुत असहमति भी दिखलायी है। परन्तु सामान्यतया यह सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य है । रघुनाथ शिरोमणि ने केवलान्वयी स्थलों में व्यभिचार की ही अप्रसिद्धि होने के कारण व्यभिचारज्ञान व उसका अभाव भी अप्रसिद्ध हो जायेगा, तो व्यभिचारज्ञानाभाव से सहकृत सहचारदर्शन सम्भव नहीं हम

सकता है और इस कारण केवलान्वयी में आख़िर कैसे व्याप्ति का ग्रह हो सकेगा ? ऐसा प्रश्न उठा कर उसका समुचित समाधान भी किया है । हम इसे परम्परा द्वारा स्वीकृतिप्राप्त सिद्धान्त के रूप में मान्यता देना चाहते हैं ।

गङ्गेश का यह निर्वचन कुछ व्याख्या की अपेक्षा करता है । सङ्क्षेप में कहें तो व्याप्ति का निश्चय होने के लिए सहचारदर्शनमात्र होना चाहिए , केवल सहचारदर्शन से ही व्याप्ति का निश्चय हो जायेगा शर्त बस ये है कि व्यभिचारज्ञान न हो । अगर व्यभिचार का ज्ञान है तो व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है । इस कारण व्याप्ति का निश्चय होने के लिए ये ज़रूरी है कि व्यभिचारज्ञान न रहे , न तो व्यभिचार का सन्देह रहे और न तो व्यभिचार का निश्चय । किसी स्थल में तो सहचारदर्शन के उपरान्त सन्देह होता है कि यहाँ पर हेतु साध्य का व्यभिचारी है या नहीं । तो वहाँ पर व्यभिचारशङ्का का निवारण करने के लिए अपेक्षा होती है तर्क की । कुछेक स्थलों पर तो व्याघात से व्यभिचार की आशङ्का ही नहीं होती है ।

भूयोदर्शन का उपयोग

गङ्गेश ने भूयोदर्शन की व्याप्तिग्राहकता का यह कहकर खण्डन कर दिया है कि भूयोदर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता है ऐसा कहने का अभिप्राय क्या है ?इसके दो अर्थ हो सकते हैं । इसका अर्थ या तो ये है कि प्रत्येक दर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता है , अथवा इसका अर्थ ये है कि दर्शनों का समवाय व्याप्ति का ग्राहक होता है । परन्तु ये दोनों ही अर्थ सम्भव नहीं हैं क्योंकि यह तो आप भी मानेंगे कि प्रत्येक दर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता नहीं है । अगर प्रत्येक दर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता तो आप यह कहते कि सकृद्दर्शन व्याप्ति का ग्राहक होता है । अब अगर आप यह कहना चाहें कि दर्शनों का समवाय व्याप्ति का ग्राहक होता है तो यह कथन भी अनुचित है क्योंकि दर्शन तो आशुविनाशी हैं , क्रमिक हैं । अतः उनका मेलन सम्भव नहीं है और इस कारण अनका समवाय तो सम्भव ही नहीं है [२०]।

भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक माननेवाला यह कह सकता है कि भूयोदर्शन से आहित संस्कार वाली बहिरिन्द्रिय व्याप्ति का ग्रहण कर पाती है । भूयोदर्शन से आहित संस्कार बहिरिन्द्रिय का सह कारी बनता है । जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने कहा था । गङ्गेश विना वाचस्पति मिश्र का नाम लिए इस मत का यह कह कर खण्डन कर देते हैं कि भूयोदर्शन से आहित संस्कार बहिरिन्द्रिय का सहकारी नहीं बन सकता है् क्योंकि बग़ैर बहिरिन्द्रिय व्यापार के भी सहचारादि का ज्ञान जिस व्यक्ति को है उसका व्याप्ति

का ग्रहण होता दिखलायी पड़ता है [२१]। न केवल इतना ही अपितु अनेक स्थलों में भूयोदर्शन का ग्रहण होने पर भी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पाता है उदाहरण के रूप में हम देखें तो पार्थिवत्व और लौहलेख्यत्व में सैकड़ों बार सहचारदर्शन होने पर भी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो पाता है । तो भूयोदर्शन आख़िर किस तरह से व्याप्ति के ग्रहण में उपयोगी हो सकता है ?[२२]

भूयोदर्शन ख़ुद अकेले व्याप्ति का ग्रहण कराने में सक्षम नहीं होता है परन्तु तर्क की सहायता से भूयोदर्शन व्याप्ति का ग्रहण कराने में सक्षम होता है, उदयनाचार्य जी का यह कथन भी अनुचित है , क्योंकि ऐसी स्थिति में भी तर्क से सहकृत भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानने की अपेक्षा यही उचित है कि सहचारदर्शन तथा व्यभिचारादर्शन से सहकृत तर्क को ही व्याप्ति का ग्राहक मान लिया जाये क्योंकि भूयोदर्शन से ज्यादा ज़रूरी होता है तर्क । भूयोदर्शन न रहने पर भी तर्क रहने पर व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । ऐसा भी नहीं है कि भूयोदर्शन न रहने पर तर्क का अवतार ही सम्भव न होता हो क्योंकि व्युत्पन्न को प्रथम दर्शन में भी तर्क का अवतार सम्भव होता है [२३]। इस कारण भूयोदर्शन को व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना जा सकता है ।

किसी का कथन यह भी हो सकता है कि व्याप्ति का ज्ञान अनौपाधिकत्व के ज्ञान से होता है , अनौपाधिकत्व का ज्ञान भूयोदर्शन के विना सम्भव नहीं है क्योंकि उस देश-काल तथा वहाँ पर अवस्थित घट आदि के उपाधित्व की शङ्का का निरास किसी के साधनव्यापकत्वज्ञान से और किसी के साध्याव्यापकत्वज्ञान से ही सम्भव है । यह भूयोदर्शन के विना सम्भव नहीं है । इसलिए भूयोदर्शन की अपेक्षा होती है तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अयोग्य उपाधियों के अभाव का ज्ञान किस तरह से भूयोदर्शन के द्वारा सम्भव होगा । अनुमान से ही अयोग्य उपाधियों के अभाव का ज्ञान हो सकता है । इस कारण अनवस्था होने लगेगी क्योंकि इस तरह से प्रथम अनुमान में व्याप्ति के ग्रहणार्थ अनौपाधिकत्व का ज्ञान अपेक्षित होगा तथा उस अनौपाधिकत्व के ज्ञान के लिए द्वितीय अनुमान की अपेक्षा होगी । पुनः उस द्वितीय अनुमान में व्याप्ति के ग्रहणार्थ अनौपाधिकत्व का ज्ञान अपेक्षित होगा तथा उस अनौपाधिकत्व के ज्ञान के लिए तृतीय अनुमान की अपेक्षा होगी । यह क्रम यहीं पर विश्रान्त नहीं होगा अपितु इसी क्रम में आगे भी चतुर्थ ,पञ्चम आदि अनुमानों की अपेक्षा होती रहेगी [२४]। अनौपाधिकत्वज्ञान का सम्पादक होने के कारण भूयोदर्शन व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है ,इस तरह से भूयोदर्शन के व्याप्तिग्राहकत्व का खण्डन करने के लिए गङ्गेश द्वारा प्रस्तुत तर्क के द्वारा ही अनौपाधिकत्वज्ञान के व्याप्तिग्राहकत्व का भी खण्डन हो जाता है ।

परन्तु अब प्रश्न यह भी है कि अगर भूयोदर्शन व्याप्ति का ग्राहक नहीं होता है तो भूयोदर्शन का आदर क्यों है ? इसका समाधान गङ्गेश यह देते हैं कि कुछेक स्थलों में विना भूयोदर्शन के तर्क का अवतार होता नहीं है इसी कारण भूयोदर्शन का आदर किया जाता है । भूयोदर्शन स्वतः व्याप्तिग्रह में प्रयोजक नहीं होता है [२५]।

तर्क की ज़रूरत

मणिकण्ठ मिश्र ने सभी स्थलों में तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार किया है। मणिकण्ठ मिश्र के मत को हम पूर्व में प्रदर्शित कर आये हैं । गङ्गेश मणिकण्ठ मिश्र के मत को स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि तर्क व्याप्ति का ग्राहक नहीं हो सकता है क्योंकि तर्क के मूल में व्याप्ति होती है । अतः तर्क को व्याप्ति का ग्राहक मानने पर अनवस्था होगी [२६]। मणिकण्ठ मिश्र तर्क से व्याप्ति का ग्रह होने पर भी उसमें अनवस्था दोष का निवारण कर ले जाते हैं । यद्यपि गङ्गेश ने मणिकण्ठ मिश्र का नाम से उल्लेख नहीं किया है ,तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि वे मणिकण्ठ मिश्र के इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि व्याघात भी एक ख़ास किस्म का तर्क है । अथवा यदि व्याघात तर्क हो तो वह व्याप्ति को अन्तर्भूत अवश्य करता है । अगर व्याघात अपने अन्दर व्याप्ति को अन्तर्भूत कर रहा है तो तर्क को व्याप्ति का ग्राहक मानने पर अनवस्था दोष से आप बच नहीं सकते हैं । गङ्गेश के मत में तर्क से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है अतः अनवस्था दोष गङ्गेश के मत में नहीं आयेगा । व्याघात से भी गङ्गेश व्याप्ति का ग्रहण नहीं मानते हैं । यहाँ तक कि वे व्याघात को व्यभिचारशङ्का का प्रतिबन्धक भी नहीं मानना पसन्द करते हैं । उनका कथन है कि व्याघातस्थल में स्वक्रिया ही शङ्का की प्रतिबन्धक होती है [२७]। तर्क को व्याप्ति का ग्राहक मानने में गङ्गेश एक और दोष की सम्भावना व्यक्त करते हैं । वे कहते हैं कि तर्क प्रमाण नहीं होता है । अगर आपने तर्क को व्याप्ति का ग्राहक माना तो तर्क प्रमाणान्तर होने लगेगा [२८]। यद्यपि व्यभिचारशङ्कानिरास द्वारा तर्क का प्रत्यक्षसहकारित्व स्वीकारने पर तर्क के प्रमाणान्तरत्व की आपत्ति नहीं आती है और मणिकण्ठ मिश्र के द्वारा अनवस्था का निवारण भी किया जा चुका है । इसलिए मणिकण्ठ मिश्र का मत भी सुदृढतया व्यवस्थापित किया जा सकता है । परन्तु मणिकण्ठ मिश्र की इस मूलभूत धारणा में ही दोष प्रतीत होता है कि समस्त स्थलों पर तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है क्योंकि व्याघातस्थल में तर्क के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं स्वीकारा जा सकता है ।

मणिकण्ठ के अनुसार व्याघात को सहानवस्थितिसमुच्चय का ज्ञानमात्र स्वीकारना भी सम्भव लगता नहीं। शायद इसी कारण गङ्गेश ने मणिकण्ठ मिश्र के पक्ष का परित्याग कर दिया होगा। शायद यह धारणा भी इसमें अन्तर्निहित है कि कुछ स्थलों में विना तर्क के व्याप्ति का ग्रहण होता दिखलायी देता है या कहें कि कुछ स्थलों में तर्क है ऐसा अनुभव में आता नहीं है। जहाँ कहीं पर तर्क के विना ही व्यभिचारज्ञान का अभाव रहता है वहाँ पर तर्क के विना भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव होता है। तर्क की ज़रूरत हर जगह पर नहीं होती है अपितु जब व्यभिचार की शङ्का हो तो उस शङ्का का निवारण करने के लिए तर्क की आवश्यकता होती है । इसी कारण कहा जाता है कि ***"तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः"***।[२९] जब हम कोई तर्क करते हैं तो हमारा अनुव्यवसाय होता है कि *"अहं तर्कयामि"* मैं तर्क कर रहा हूँ। परन्तु व्याघातस्थल में ऐसा अनुव्यवसाय कम से कम अनुभव में तो नहीं आता है। इस कारण व्याघात तर्क नहीं है ऐसा मानना ही समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि न्यायमत में यह सम्भावना हमेशा रहती है कि कोई ज्ञान उत्पन्न तो हो परन्तु तद्विषयक अनुव्यवसाय ज्ञाता को न हो क्योंकि ज्ञान न्यायमत में अवश्यवेद्य नहीं होता है। तथापि व्याघातस्थल में तर्क की विद्यमानता के विषय में कोई भी प्रमाण है नहीं। जिस व्याघात को आप तर्क मानना चाहते हो उसके विषय में अगर उपर्युक्त अनुव्यवसाय हो तभी उसको तर्क माना जा सकता था । परन्तु ऐसा तो है ही नहीं । इसलिए तर्क को व्याप्ति का ग्राहक नहीं माना जा सकता है ।

तर्क का स्वरूप और लक्षण

तर्क एक आहार्य आरोपविशेष है तथा तर्कत्वजाति मानसत्वव्याप्य जातिविशेष है अर्थात् तर्क एक मानस ज्ञान है। उक्त तर्कत्व जाति *"तर्कयामि"* इस अनुव्यवसाय से या जिज्ञासानिवर्तकतया सिद्ध होती है।[३०] जिज्ञासानिवर्तकतया सिद्ध होने का अर्थ जिज्ञासानिवृत्ति-कारणतावच्छेदकतया से है। वही तर्कत्व जाति तर्क का स्वरूप है। आहार्य उस ज्ञान को कहते हैं जो कि बाधकालीन इच्छा से जन्य होता है ***"बाधकालीनेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्"***। **हम जब तर्क करते हैं तो उस समय हमारे सामने बाध रहता है। उदाहरण के रूप में हम देखें *"पर्वतो वह्निमान् धूमात्"* यहां पर हमारे सामने बाध है कि धूम वह्नि से अजन्य नहीं होता है । उस स्थिति में अगर कोई आशङ्का हो कि धूम वह्नि का व्यभिचारी है या नहीं, तो तर्क का उपस्थापन किया जाता है कि यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से जन्य नहीं होता । तो यह तर्कात्मक ज्ञान धूम वह्नि से अजन्य नहीं होता है इस बाध के रहने की दशा में हमारी इच्छा से जन्य होता है । इस कारण इस ज्ञान को आहार्य**

कहते हैं तो तर्कत्व जाति ही तर्क का स्वरूप है। यद्यपि मणिकण्ठ मिश्र ने अनुव्यवसाय ही जिसमें साक्षी है प्रमाण है, उस तर्कत्व जाति को ही तर्क का लक्षण माना है [३१]। परन्तु अगर हम उस तर्कत्व जाति को तर्क का लक्षण मानना चाहें तो आख़िर तर्क का स्वरूप क्या होगा ? जो स्वरूप है वह तो लक्षण नहीं हो सकता है। कम से कम न्यायपरम्परा के अनुसार लक्षण को स्वरूप से भिन्न ही होना चाहिए । शायद इसी कारण आगे चलकर मणिकण्ठ मिश्र खुद ही तर्क का दूसरा लक्षण "*यद्वा*" इस प्रतीक के द्वारा वताते हैं कि "*व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताश्रयव्यापकारोपत्व*" ही तर्क का लक्षण है [३२]। इस लक्षण का अर्थ हम इस तरह से देख सकते हैं कि व्याप्यारोप में रहनेवाली व्याप्यारोपत्व से अवच्छिन्न कारणता प्रतियोगी बनती है जिस कार्यता की उस कार्यता की आश्रयीभूत व्यापकारोपत्व ही तर्क का लक्षण है। आइए इस लक्षण का समन्वय करके देखें –"*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर व्यभिचार की आशङ्का होने पर जब हम तर्क का प्रयोग करते हैं तो हमारा तर्कप्रयोग कुछ ऐसा होता है कि "*यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्* "अगर धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से जन्य नहीं होता । अब हम देखें तो यहाँ पर धूम न तो वह्नि का व्यभिचारी है और न ही वह्नि से अजन्य है । इसमें व्याप्य है वह्निव्यभिचारित्व तथा व्यापक है वह्न्यजन्यत्व । व्याप्य वह्निव्यभिचारित्व के आरोप से व्यापक वह्न्यजन्यत्व का आरोप किया जा रहा है । वह्निव्यभिचारित्व के आरोप और वह्न्यजन्यत्व के आरोप में कार्यकारणभाव है । व्याप्य वह्निव्यभिचारित्व का आरोप कारण है और व्यापक वह्न्यजन्यत्व का आरोप कार्य है । अगर धूम में वह्निव्यभिचारित्व का आरोप न होता तो धूम में वह्न्यजन्यत्व का आरोप नहीं किया जाता । आरोपों में रहनेवाली कार्यता और कारणता में परस्पर निरूप्यनिरूपकभाव होता है । इसलिए वह्निव्यभिचारित्वारोपत्व से अवच्छिन्न कारणता है वह्निव्यभिचारित्व के आरोप में । उस कारणता से निरूपित कार्यता है वह्न्यजन्यत्व के आरोप में। इस तरह **व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताश्रयव्यापकारोपत्व इस तर्क में विद्यमान है । अतः लक्षण का समन्वय होता है । तर्कसङ्ग्रह आदि प्रकरण ग्रन्थों में उक्त लक्षण "*व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः*"का भी यही आशय है । न्यायलीलावती में तर्क का लक्षण कहा गया है कि एक धर्म का स्वीकार कर लेने पर दूसरे धर्म की नियत प्राप्तिरूप तर्क होता है [३३]। लीलावतीकार का यह लक्षण भी निर्दुष्ट है । अगर हम धूम में वह्निव्यभिचारित्व को स्वीकार कर लें तो धूम के वह्निजन्यत्वाभाव को भी स्वीकार**

करना अनिवार्य हो जाता है । नियत रूप से धूम का वह्न्यजन्यत्व प्राप्त हो जाता है । इस कारण इनमें से कोई भी लक्षण स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

तर्क के भेद

गङ्गेशोपाध्याय ने **तत्त्वचिन्तामणि** में तर्क के भेदों की कोई भी चर्चा नहीं की है । परन्तु परम्परा में अनेक ग्रन्थों में तर्क के भेदों की चर्चा प्राप्त होती है । मणिकण्ठ मिश्र ने **न्यायरत्न** में इस विषय में अनेक विद्वानों के मतों का उल्लेख कर खण्डन किया है । एक मत उन्होंने उद्धृत किया है कि तर्क के पाँच भेद हैं आत्माश्रय अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा अनिष्टप्रसङ्ग । परन्तु इस मत का यह कहते हुए उन्होंने खण्डन कर दिया है कि आत्माश्रय आदि का भी अनिष्टप्रसङ्ग में अन्तर्भाव सम्भव होने के कारण यह विभाग एकदम ही ग़लत है ।[३४] इसी तरह मणिकण्ठ मिश्र ने किन्हीं अन्य आचार्यों के मत से तर्क के छह प्रकारों की चर्चा की है कि आत्माश्रय अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, व्याघात तथा प्रतिबन्दि के भेद से तर्क छह प्रकार का होता है । तुरन्त ही इस मत का खण्डन भी यह कहकर मणिकण्ठ मिश्र ने कर दिया है कि व्याघात तर्क न होकर एक खास तरह का विरोध है । दूसरे प्रतिबन्दि तो तर्क होता नहीं है क्योंकि यह अव्यापकता दोष के समान होने के कारण अनैकान्तिक में अन्तर्भूत हो जाता है । अथवा यह तर्काभास है क्योंकि इसमें व्याप्ति तो होती नहीं है अतः इसका मूल शिथिल होता है । न केवल इतना ही अपितु इस विभाग में अनिष्टप्रसङ्ग का अन्तर्भाव न होने से विभाग की न्यूनता भी होती है[३५] । आगे मणिकण्ठ मिश्र अपने मत के अनुसार तर्क के पाँच भेद मानने का पक्ष रखते हैं । वे पाँच भेद हैं –आत्माश्रय अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा इनसे अन्य । इसमें पञ्चम प्रकार में मणिकण्ठ सभी शेष प्रकारों का अन्तर्भाव कर लेते हैं ।[३६]

माधवाचार्य **सर्वदर्शनसङ्ग्रह** में तर्क के ग्यारह भेदों की चर्चा करते हैं । उनका कथन है कि तर्क के व्याघात ,आत्माश्रय ,इतरेतराश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्दिकल्पना, कल्पनालाघव ,कल्पनागौरव , उत्सर्ग ,अपवाद और वैजात्य के भेद से तर्क एकादश प्रकार का होता है। **(द्रष्टव्य– अक्षपाददर्शन , सर्वदर्शनसङ्ग्रह)**ध्यातव्य **है कि मणिकण्ठ मिश्र ने उत्सर्ग, कल्पनालाघव ,कल्पनागौरव आदि के तर्कत्व का खण्डन कर दिया है[३७] तथा मणिकण्ठ मिश्र माधवाचार्य से काफी पूर्ववर्ती हैं । इससे माधवाचार्य की विश्वसनीयता सन्देह के घेरे में आ जाती है । मणिकण्ठ मिश्र ने खण्डनकार द्वारा प्रतिपादित अनौचित्य के तर्कत्व का भी खण्डन कर दिया है [३८]।**

अन्य भी अनेक विद्वानों ने तर्क के भेदों की चर्चा तो की है परन्तु उनमें से बहुत कम ही ऐसे हैं जिन पर भरोसा किया जा सकता हो । वस्तुतः तो ऊपर प्रदर्शित विभाग भी विश्वसनीय नहीं हैं । अब हम मणिकण्ठ मिश्र द्वारा निष्कर्ष के रूप में प्रदर्शित विभाग को ही लें , इसमें जो पञ्चम प्रकार है क्या सचमुच हम उसको एक प्रकार मान सकते हैं ? मेरा तो मानना यही है कि हम उसको एक प्रकार नहीं मान सकते हैं क्योंकि उसमें जो भी तर्क आयेंगे वे समस्त तर्क अपने आप में अलग होंगे उनमें कोई समानता नहीं हो सकती है । ऐसी स्थिति में यह कहना भी उतना ही सही होता कि तर्क के दो भेद हैं आत्माश्रय और तदन्य । इसके अतिरिक्त यह कथन भी उतना ही सही होता कि तर्क के तीन भेद हैं आत्माश्रय , अन्योन्याश्रय और तदन्य । आगे भी इसी तरह के चार भेदों को मानने का पक्ष भी हो सकता है । इस कारण मणिकण्ठ मिश्र का यह तर्कविभाग समुचित नहीं जान पड़ता है । मुझे तो ऐसा लगता है कि तर्क के भेदों पर विचार करना अनावश्यक है क्योंकि उसके अनेक भेद सम्भव हैं । शायद इसी कारण गङ्गेश ने तर्क के भेदों पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा । इस विषय पर **न्यायसिद्धान्तमुक्तावली** की **दिनकरी** व्याख्या में तर्क का जो विभाग किया गया है वह मुझको ज्यादा ठीक तथा विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि वह विभाग उद्देश्यमूलक है । **दिनकरी** में तर्क को दो तरह का बताया गया है ,तर्क का एक प्रकार है जिसको हम विषयपरिशोधक कहते हैं। तर्क का दूसरा विभाग है जिसको हम व्याप्ति का ग्राहक बतलाते हैं । विषयपरिशोधक तर्क का उदाहरण देते हुए वहाँ पर बताया गया है कि जब हम तर्क का प्रयोग इस तरह से करते हैं कि "*यदि निर्वह्नि होता तो निर्धूम होता*" तो यह तर्क विषय का परिशोधक होता है। जब हम तर्क का प्रयोग इस तरह से करते हैं कि "*यदि धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो वह्नि से जन्य नहीं होता*" तो यह तर्क व्याप्ति का ग्राहक होता है। प्रथम तर्क व्याप्ति का ग्रहण नहीं करा पाता है क्योंकि उसमें इसका कोई भी स्पष्टीकरण नहीं है कि आख़िर किस कारण से पर्वतादि के निर्वह्नि होने की स्थिति में पर्वतादि को निर्धूम होना चाहिए । दूसरा तर्क इसमें कारण मुहैया कराता है कि अगर पर्वतादि निर्वह्नि हैं तो भी अगर पर्वतादि में धूम है तो निश्चय ही धूम वह्नि का व्यभिचारी होगा। अगर धूम वह्नि का व्यभिचारी है तो ऐसी स्थिति में निश्चय ही वह वह्नि से जन्य नहीं हो सकता है और यह निश्चित है कि धूम वह्नि से जन्य है । अतः यह वैपरीत्य से निर्धारित हो जाता है कि धूम वह्नि का व्याप्य है । इस तरह द्वितीय तर्क व्याप्ति का ग्राहक बनता है ।[३९]

सामान्यलक्षणा की आवश्यकता

गङ्गेश ने व्यभिचारज्ञानाभावसहकृतसहचारदर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण स्वीकार किया है । अब इसमें सवाल यह है कि यह सहचारदर्शन समस्त धूम का समस्त वह्नि के साथ तो हो नहीं सकता है तो किस तरह से सहचारदर्शन के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण सम्भव है । अगर समस्त धूमव्यक्तियों में रहनेवाली व्याप्ति एक होती तो शायद यह भी सम्भव हो सकता था । परन्तु धूमसामान्य में रहनेवाली वह्निसामान्य की व्याप्ति एक नहीं है क्योंकि व्यक्ति के भेद से सामानाधिकरण्य भिन्न-भिन्न हो जाता है तथा सामानाधिकरण्य ही तो व्याप्ति है । तो एक धूम और एक वह्नि के सहचार को देखकर किस तरह से धूमसामान्य में रहनेवाली वह्निसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण हो सकेगा ? उदाहरण को दृष्टिगत रखते हुए हम इस बात को देखें तो महानसीय वह्नि और महानसीय धूम के सहचार को देखकर महानसीय वह्नि की महानसीय धूम में व्याप्ति तो शायद गृहीत भी हो जाये , परन्तु किस तरह से पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति गृहीत होगी ? तो आख़िर कैसे धूमसामान्य में रहनेवाली वह्निसामान्य की व्याप्ति का ग्रहण हो सकेगा ? यह तो कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति गृहीत होने के लिए यह ज़रूरी है कि जिस समय महानसीय धूम में महानसीय वह्नि का सहचार गृहीत हो रहा है उसी समय पर्वतीय धूम का भी प्रत्यक्ष हो रहा हो । ऐसा इस लिए क्योंकि सामानाधिकरण्य आधेयताविशेष है और उसका प्रत्यक्ष उस आधेयता के अधिकरण के प्रत्यक्ष के विना सम्भव नहीं है । अगर पर्वतीय धूम में पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति गृहीत नहीं हुई तो पर्वतीय धूम से पर्वत में पर्वतीयवह्नि का अनुमान नहीं किया जा सकेगा । इस कारण अनेक नैयायिक सामान्यलक्षणा नामक एक अलौकिक सन्निकर्ष की सहायता लेते हैं तथा सामान्यलक्षणा के द्वारा समस्त साध्य और समस्त हेतुओं का प्रत्यक्ष सहचारग्रह के काल में स्वीकार करते हैं । इस तरह से सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा महानसीयधूम के लौकिक प्रत्यक्ष के काल में ही समस्त धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है । इस कारण पर्वतीय धूम में विद्यमान भी व्याप्ति का ग्रहण सम्भव होता है[४०]। गङ्गेश ने इस मत को पूर्वपक्ष के रूप में विस्तार से **सामान्यलक्षणाप्रकरण** में उठाया है ।

सिद्धान्ततः गाङ्गेश सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के साहाय्य से व्याप्ति का ग्रहण स्वीकारने के पक्ष में नहीं हैं ।

इसीलिए आगे *"तदपरे न मन्यन्ते"* इस प्रतीक के द्वारा गङ्गेश व्यवस्थापित करते हैं कि समस्त धूमों में रहनेवाली धूमत्वावच्छिन्ना व्याप्ति एक ही है अनेक नहीं । अगर समस्त धूमों में रहनेवाली व्याप्ति एक ही है तो सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति की कोई आवश्यकता व्याप्ति के ग्रहणार्थ नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि समस्त धूमों में रहनेवाली धूमत्वावच्छिन्ना व्याप्ति एक ही है , वही व्याप्ति महानसीयधूम में भी है जो कि पर्वतीय धूम में है क्योंकि व्याप्ति सामानाधिकरण्यरूपा नहीं है अपितु धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिवह्निसमानाधिकरणवृत्तिधूमत्व ही व्याप्ति है । अथवा वह्निमदन्यावृत्तित्व ही व्याप्ति है अथवा वह्निसम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्व ही व्याप्ति है [४१]। अतः महानसीयधूम में सहचारदर्शन के काल में ही धूमत्वप्रत्यक्ष से जानी जाती है। धूमत्वेन रूपेण महानसीय धूम में व्याप्ति का ग्रहण होता है। तदनन्तर उस व्याप्ति का स्मरण होकर तृतीयलिङ्गपरामर्श में पक्षनिष्ठधूमवृत्तितया उसी व्याप्ति का ज्ञान होता है । तदनन्तर अनुमिति होती है। ऐसी स्थिति में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति की कोई आवश्यकता व्याप्ति के ग्रहणार्थ नहीं प्रतीत होती है। यदि तृतीयलिङ्गपरामर्श का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये तो भी सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति की कोई आवश्यकता व्याप्ति के ग्रहणार्थ नहीं है क्योंकि अनुभव होता है कि *"धूमत्वेन धूमो वह्निव्याप्यः"* धूम धूमत्वेन वह्नि का व्याप्य है । यह अनुभव सन्निकृष्ट महानसीय धूम के विषय में होता है । वैसे ही व्याप्ति का स्मरण होता है । तदनन्तर *"अयं धूमवान्"* इस प्रकार की व्याप्ति की स्मृति में प्रकारीभूत धूमत्व को प्रकार बनाकर पक्षवृत्तिधूमज्ञान से अनुमिति होती है । चूँकि व्याप्ति के अनुभव , व्याप्ति के स्मरण और पक्षधर्मताज्ञानों का एकप्रकारकत्वेन अनुमितिकारणत्व होता है अर्थात् व्याप्ति के अनुभव में जो प्रकार होता है वही व्याप्ति के स्मरण में प्रकार होना चाहिए तथा व्याप्ति के स्मरण में जो प्रकार होता है वही पक्षधर्मताज्ञान में प्रकार होना चाहिए । ऐसा होने पर ही अनुमिति की उत्पत्ति हो सकेगी। तो अभी पर्वत में वह्नि की अनुमिति होने के लिए न तो पर्वतीय वह्नि के प्रत्यक्ष की व्याप्तिग्रहणकाल में कोई जरूरत है और न ही पर्वतीय धूम के प्रत्यक्ष की ही कोई जरूरत है । इसलिए सामान्यलक्षणा की कोई आवश्यकता व्याप्तिग्रहण के लिए नहीं है [४२]। आगे चलकर गङ्गेश सामान्यलक्षणा की आवश्यकता क्या है इसको बतलाते हैं। मैं यहाँ पर यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि यह प्रसङ्ग यहाँ पर बहुत औचित्य नहीं रखता है

क्योंकि व्याप्ति के ग्रहणार्थ सामान्यलक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है यह बात तो मान ली गयी है । अब अगर सामान्यलक्षणा हो चाहे न हो इससे क्या अन्तर पड़ता है? परन्तु यह एक धारणा है कि नैयायिक सामान्यलक्षणा की आवश्यकता व्याप्ति के ग्रहणार्थ स्वाकार करते हैं । उस धारणा के आधार पर पूर्वपक्षियों के द्वारा सवाल भी उठाये गये हैं । जिसको हम व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है इस पूर्वपक्ष को उठाते हुए दिखला चुके हैं । इस कारण यहाँ पर हम इस विषय को इस कारण स्पष्ट करना चाहते हैं कि क्या न्यायमत में सामान्यलक्षणा वस्तुतः स्वीकार की जाती है?

गङ्गेशोपाध्याय व्याप्ति के ग्रहण के लिए सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की आवश्यकता नहीं है, यह कहने के उपरान्त सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति की आवश्यकता फिर भी है, ऐसा व्यवस्थापित करते हैं। उनका मानना है कि अगर सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति न होती तो अनुकूल तर्कादि के न रहने पर धूमादि में व्यभिचारसंशय नहीं होता। परन्तु अनुकूल तर्कादि के न रहने पर भी धूमादि में व्यभिचारसंशय का होना हमारे अनुभव से गम्य है अतः सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति को स्वीकार करना अनिवार्य होता है । सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति के न रहने पर अनुकूल तर्कादि के न रहने पर धूमादि में व्यभिचारसंशय इस कारण अनुपपन्न होगा क्योंकि प्रसिद्ध धूम में तो व्याप्ति के सम्बन्ध का ही अवगम है और कालान्तरीय तथा देशान्तरीय धूम के ज्ञान के लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होने के कारण कालान्तरीय तथा देशान्तरीय धूम का ज्ञान तो है ही नहीं। तो हम पाते हैं कि प्रत्यक्षीक्रियमाण धूम व्यक्ति में इस कारण संशय सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें तो वह्नि का सम्बन्ध दिखायी पड़ रहा है। पर्वतीय आदि देशान्तरीय धूम में तो संशय सम्भव ही नहीं है क्योंकि संशय के लिए धर्मी का ज्ञान होना चाहिए । पर्वतीय आदि देशान्तरीय धूम की उपस्थिति न होने के कारण उनमें व्यभिचार का संशय सम्भव नहीं दिखता है । सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का अगर हम स्वीकार कर लें तो सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति के द्वारा समस्त धूमों की उपस्थिति हो जाती है तथा पर्वतीय आदि देशान्तरीय धूम में विशेषदर्शन न रहने के कारण उनमें व्यभिचार का संशय सम्भव हो जाता है । इस तरह से यद्यपि व्याप्ति के ग्रहण के लिए सामान्यलक्षणा की आवश्यकता नहीं है परन्तु अनुकूल तर्कादि के न रहने पर धूमादि में व्यभिचारसंशय के अनुरोध से सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति का स्वीकार करना आवश्यक है [४३]।

गङ्गेश के व्याख्याकार रघुनाथ शिरोमणि ने गङ्गेश के मत का खण्डन करते हुए सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के अस्तित्व को नकार दिया है । गङ्गेश की युक्ति का रघुनाथ

यह कहते हुए खण्डन करते हैं कि प्रसिद्ध धूम में व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन हुआ है या एतद्धूमत्वेन हुआ है ? अगर धूमत्वेन व्याप्ति का ग्रहण हुआ है तो आपका कथन असिद्ध है कि प्रसिद्ध धूम में व्याप्ति का ग्रहण होने पर भी धूम में व्यभिचार का संशय होता है । अगर प्रसिद्ध धूम में व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन हुआ है तो उसमें व्यभिचार का सन्देह नहीं ही हो सकता है । अगर आप यह कहें कि प्रसिद्ध धूम में व्याप्ति का ग्रहण एतद्धूमत्वेन हुआ है तो सन्देह होने में असुविधा क्या है क्योंकि प्रसिद्ध धूम में भी धूमत्वावच्छेदेन व्यभिचारसंशय का विरोधी होगा धूमत्वावच्छेदेन व्याप्ति का निश्चय । वह तो सम्पन्न हुआ नहीं तो सन्देह होने में असुविधा क्या है । अगर हम रघुनाथ की बात को थोड़ा और स्पष्ट करके कहें तो यह सन्देह वस्तुतः व्यभिचारसंशय या व्याप्तिसंशय नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षधूम में व्याप्ति तो सिद्ध ही है । यहाँ पर यह सन्देह नहीं हो रहा है कि धूम में व्याप्ति है या नहीं क्योंकि पुरोदृश्यमान धूम में तो व्याप्ति का निश्चय है ही और व्याप्ति का निश्चय रहने पर न तो व्यभिचारसंशय सम्भव है और न ही व्याप्तिसंशय । अपितु यह सन्देह महानसीय धूम में निश्चित व्याप्ति के अवच्छेदकत्व का सन्देह है कि महानसीय धूम में विद्यमान व्याप्ति का अवच्छेदक धूमत्व है या नहीं है । अगर व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन रूपेण हुआ है तब तो धूमत्व में महानसीय धूम में निश्चित व्याप्ति के अवच्छेदकत्व का निश्चय हो चुका है । अतः उपर्युक्त सन्देह नहीं हो सकता है । अगर व्याप्ति का ग्रहण एतद्धूमत्वेन रूपेण हुआ है तब तो धूमत्व में महानसीय धूम में निश्चित व्याप्ति के अवच्छेदकत्व का निश्चय नहीं ही है । अतः उपर्युक्त सन्देह होने में क्या आपत्ति हो सकती है । उस सन्देह का निवारण कौन करेगा? इस तरह से रघुनाथ शिरोमणि उपर्युक्त सन्देह के उपपादन के लिए भी सामान्यलक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं समझते हैं । न केवल इतना ही अपितु रघुनाथ शिरोमणि-सामान्यलक्षणा की सत्ता से भी इनकार कर देते हैं [४४]। इस विषय में गङ्गेश के परवर्ती नैयायिकों के साथ रघुनाथ का बहुत मतभेद रहा है । अनेक नैयायिक पक्षधर मिश्र आदि सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकार करने के आग्रही हैं ,परन्तु रघुनाथ उनकी युक्तियों का ज़ोरदार खण्डन करते हैं । मैं यहाँ पर विषयान्तर होने के भय से उपर्युक्त विवाद की चर्चा सङ्क्षेप में ही करके छोड़ दे रहा हूँ क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक सामान्यलक्षणा पर नहीं है । यह पुस्तक अनुमान पर है । इतना अवश्य कहना आवश्यक समझता हूँ कि जगदीश और गदाधर भी इस विषय पर रघुनाथ के साथ-साथ खड़े हैं । अतः न्याय-परम्परा में सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकारने की कोई भी आवश्यकता मुझे दिखायी

नहीं देती है । अगर सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकारनी भी हो तो भी व्याप्ति के ग्रहणार्थ उसकी सत्ता स्वीकारने का कोई औचित्य नहीं है ।

गङ्‌गेश , जो कि सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकार करते हैं, ने भी सामान्यलक्षणा की ज़रूरत व्याप्ति के ग्रहणार्थ कम व्यभिचारसंशयसम्पादनार्थ ज़्यादा महसूस की है । रघुनाथ के पूर्ववर्ती जिन नैयायिकों ने सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकारने की आवश्यकता महसूस की है उनका भी यही हाल है । वे भी व्याप्ति के ग्रहणार्थ सामान्यलक्षणा की सत्ता स्वीकारने में कोई महत्त्वपूर्ण युक्ति नहीं जुटा पाये हैं ।(द्रष्टव्य–**त.चि.**के सामान्यलक्षणाप्रकरण पर अन्य व्याख्यायें)

यह ध्येय है कि गङ्‌गेश ने पहले तो व्याप्ति के ग्रहणार्थ सामान्यलक्षणा की ज़रूरत महसूस की , सामान्यलक्षणा को व्याप्तिग्रह का व्यवस्थापक बतलाया और फिर ***"तदपरे न मन्यन्ते"*** इस प्रतीक के द्वारा प्रभाकरमीमांसक के मत को उठाते हुए सामान्यलक्षणा का खण्डन कर दिया है । बाद में व्यभिचारसंशयसम्पादकतया सामान्यलक्षणा की आवश्यकता पर बल देते हुए सामान्यलक्षणा की सत्ता व्यवस्थापित की । परन्तु अन्त में यह नहीं कहा कि व्याप्ति के ग्रहणार्थ भी सामान्यलक्षणा की ज़रूरत है । इससे तो यही प्रतीत होता है कि गङ्‌गेश भी मानते हैं कि व्याप्ति के ग्रहणार्थ सामान्यलक्षणा की ज़रूरत नहीं है ।

सन्दर्भसूची

१.वस्तुतस्तु विशेषादर्शने सहचारादिसाधारणधर्मदर्शनाद् व्यभिचारसंशयात् प्रथमदर्शनेन न व्याप्तिनिश्चयः । पृ.६५८ ,त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२.उपायाभावाद्व्याप्तिनिश्चयासम्भवेनानुमानप्रामाण्यं न सम्भवतीति चार्वाकपूर्वपक्षे भूयःसाध्यसाधनं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकमिति जरन्नैयायिकसिद्धान्तः ।

पृ.६३५, (अनुमितिगादाधरी)

३.यद्यपि प्रथमदर्शनेऽपि सहभावो गृहीतः तथापि न नियमग्रहणम् । नहि सहभावान्नियमः अपितु निरुपाधिकसहभावात् । निरुपाधिकत्वञ्च तस्य भूयादर्शनाभ्यासावशेषमित्यतो भूयःसहभावग्रहणबलभुवा सविकल्पकप्रत्यक्षेण सोऽध्यवसीयत इति।

पृ.५००,न्यायकन्दली

४.तस्मादभिजातमणिभेदतत्त्ववद्भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहायमिन्द्रियमेव धूमादीनां वह्न्यादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्यामः। पृ.३१०,न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

५.तदनेन विपक्षदण्डभूतेन तर्केण सनाथे भूयोदर्शने,कार्यं वा कारणं वा ततोऽन्यद्वा समवायि

वा संयोगि वा अन्यथा वाभावो वाऽभावो वा सविशेषणं वा निर्विशेषणं वा लिङ्गमिति निःशङ्कमवधारणीयम् । पृ.३८९, न्यायकुसुमाञ्जलि

६.नियमश्चायमुच्यते यत्तस्मिन् सति भवनं ततो विना न भवनमिति भूयोदर्शनम् । तच्च तस्मिन् सति भवनमित्यन्वयमात्रपरिच्छेदादर्धगृहीतो नियमः स्यात् ; ततो विना न भवनमित्यस्यार्थस्यापरिच्छेदादिति । पृ.१८१-१८२ , न्यायमञ्जरी प्रथम

७.भावाभावसाहचर्यमवधार्य मनसा नियमसिद्धेरित्यलं निर्बन्धेन ।

पृ.१८२ , न्यायमञ्जरी प्रथम

८.सर्वत्र तर्कादेव व्याप्तिग्रहः । पृ.१५ , न्यायरत्न

९.न चैवंविधस्तर्कः केवलान्वयिनि सम्भवति ; साध्यात्यन्ताभावस्याप्रसिद्धेः ।

पृ.१३ , न्यायरत्न

१०. अयमपि च तर्को नियमज्ञानाद्भवति । एवं तत्र तत्रापि नियमज्ञाने तर्कापेक्षायामनवस्थितिः

पृ.१३ , न्यायरत्न

११.अथ तत्र व्याघातेन शङ्कानिवृत्तिरस्तु ...एतदपि न व्याप्तिज्ञाने तर्हि तर्कस्य कारणत्वं न स्यात् , अननुगमात् । पृ.१४ , न्यायरत्न

१२.साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति शङ्कायाः केवलान्वयिन्यपि सम्भवात् व्यापकतासन्देहोऽपि फलतः व्याप्तिसन्देह एवेति न कश्चिद्विशेषः । पृ.१७ , न्यायरत्न

१३. व्याघातोऽपि तर्कविशेष एवेत्यग्रे वक्ष्यते । पृ.१५ , न्यायरत्न

१४.ननु व्याघातोऽपि विरोधविशेषः स च परस्पराभावव्याप्यतया भवति । अतस्तत्रापि व्याप्तिग्रहे पुनरनवस्थैव ; मैवम्, सहानवस्थितिसमुच्चयज्ञानमात्रं व्याघातः । न तत्र व्याप्तिरन्तर्भवति यतोऽनवस्था स्यात् । पृ.१८ , न्यायरत्न

१५.यद्वा क्वचित्तर्कात् क्वचिदाप्तोपदेशात् क्वचिद् व्याघातादपि व्याप्तिज्ञानोपपत्तौ कारणताननुगमो न दोषः तृणारणिमणिन्यायात् । पृ.१८ , न्यायरत्न

१६.सा च व्याप्तिर्भूयःसहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनानौपाधिकत्वगहविपक्षबाधकतर्कैर्गृह्यते

पृ. ७०, न्यायसिद्धान्तदीप

१७.तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते । पृ.१९, तर्कभाषा

१८.अत्रोच्यते व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम् । ज्ञानं निश्चयः शङ्का च । सा च क्वचिदुपाधिसन्देहात् क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात् । तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित् स्वतः सिद्ध एव ।

पृ.६६२ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

१९.यावदाशङ्कं तर्कानुसरणात् । यत्र च व्याघातेन शङ्कैव नावतरति तत्र तर्कं विनैव व्याप्तिग्रहः । पृ.६७५,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२०.सेयं व्याप्तिर्न भूयोदर्शनगम्या दर्शनानां प्रत्येकमहेतुत्वात् ;आशुविनाशिनां क्रमिकाणां मेलकाभावात् । पृ.६३५ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२१.अपि च भूयोदर्शनाहितसंस्कारो न बहिरिन्द्रियसहकारी ;तद्व्यापारं विनापि च सहचारादि-ज्ञानवतो व्याप्तिग्रहात् । पृ.६४८ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२२.अपि च पार्थिवत्वलौहलेख्यत्वादौ शतशो दर्शनेऽपि व्याप्त्यग्रहात् ।
पृ.६४३ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२३.तर्कसहकृतं तथेति चेत् ? तर्हि सहचारदर्शनव्यभिचारादर्शनसहकृतः स एव व्याप्तिग्राहकोऽस्तु आवश्यकत्वात् ; किं भूयोदर्शनेन ? न च तेन विना तर्क एव नावतरति प्रथमदर्शनेऽपि व्युत्पन्नस्य तर्कसम्भवात् । पृ.६४४ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२४.नन्वनौपाधिकत्वज्ञानं व्याप्तिज्ञाने हेतुः,तद्देशकालतत्रावस्थितघटादीनामुपाधित्वशङ्का-निरासः कस्यचित्साधनव्यापकत्वज्ञानेन कस्यचित् साध्याव्यापकत्वज्ञानेन स्यात् । तच्च भूयोदर्शनं विना नावतरतीति चेन्न; अयोग्योपाधिव्यतिरेकस्यानुमानाधीनत्वेनानवस्थापातात्
पृ.६४५,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२५.न चैतादृशतर्कावतारो भूयोदर्शनं विनेति भूयोदर्शनादरः । न तु स स्वत एव प्रयोजकः
पृ.७२२ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२६.तर्कस्य व्याप्तिग्रहमूलकत्वेनानवस्थानात् । पृ.६४५ , त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२७.स्वक्रियाया एव शङ्काप्रतिबन्धकत्वात् । पृ.७१९, त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२८.अन्ये तु विपक्षबाधकतर्कादनौपाधिकत्वग्रह इति तदधीनो व्याप्तिग्रह इति । तदपि न तर्कस्याप्रमाणत्वात् । पृ.७३२-७३३ ,त. चि. (अनुमतिगादाधरी)

२९.यत्र स्वत एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति तदुक्तं *तर्कः क्वचिच्छङ्का-निवर्तकः* । पृ. ४९०-४९१,न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

३०.तर्कश्चाहार्यारोपविशेषः । तत्त्वञ्च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषस्तर्कयामीत्यनुभवा-ज्जिज्ञासानिवर्तकतया वा सिद्ध इति । पृ. ४९१ ,न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकारी

३१.अत्रोच्यते-तर्कत्वं ज्ञानत्वावान्तरजातिविशेषः । स एव लक्षणं तर्कस्य । न च तज्जात्यसिद्धिः,
अनुगतानुव्यवसायसाक्षिकत्वात्तस्याः । पृ. २५,न्यायरत्न

३२.यद्वा व्याप्यारोपत्वावच्छिन्नकारणताप्रतियोगिककार्यताश्रयव्यापकारोपत्वमेव तर्कत्वम्
पृ. २५,न्यायरत्न

३३.अथ कस्तर्कः? एकधर्माभ्युपगमे द्वितीयस्य नियतप्राप्तिरूपः ।
पृ.५१४-५१५,न्यायलीलावती

३४.तदयमात्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविध इति केचित् । तन्न, आत्माश्रयादीनामप्यनिष्टप्रसङ्गान्तर्भूतत्वात् । पृ. २७, न्यायरत्न

३५.अन्ये तु –आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाव्याघातप्रतिबन्दिभेदात् षट् तर्का इति वदन्ति। तदपि न , व्याघातस्य विरोधविशेषत्वात् , प्रतिबन्द्यास्त्वव्यापकतादोषतुल्यतया ऽनैकान्तिकाद्यन्तर्भावादतर्कत्वमेव । व्याप्त्यभावे तत्र प्रशिथिलमूलतया तर्काभासत्वं वा उभयथापि न सत्तर्कान्तर्भावः, अनिष्टप्रसङ्गस्याकथनाद्विभागन्यूनता चेति ।

पृ. २९–३०, न्यायरत्न

३६.अत्रोच्यते –आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदितरप्रकारभेदेन पञ्चविधत्वमेव ।

पृ. ३०, न्यायरत्न

३७.ये त्वन्येऽविनिगमोत्सर्गकल्पनागौरवकल्पनालाघवाख्यास्ते तर्कलक्षणाभावात्तर्का एव न भवन्ति । तेषु तर्कव्यपदेशस्तु यथाकथञ्चित् साधर्म्येण । पृ. ३६, न्यायरत्न

३८.यत्तु **खण्डन**कृतानौचित्यं तर्कान्तरं व्युत्पादितं तस्यानौचित्यमेव ।

पृ. ३९, न्यायरत्न

३९.तर्कश्च द्विविधः विषयपरिशोधको व्याप्तिग्राहकश्चेति । तत्र विषयपरिशोधको निर्वह्निः स्यान्निर्धूमः स्यादित्यादिः । धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद्वह्निजन्यो न स्यादित्यादिश्च व्याप्तिग्राहकः । पृ. ४९१, न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीदिनकरी

४०.व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलधूमादिविषयकः ;कथमन्यथा पर्वतीयधूमे व्याप्त्यग्रहे तस्मादनुमितिः । पृ. ७७१, त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

४१.धूमसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिवह्निसमानाधिकणवृत्तिधूमत्वम् , वह्निमदन्या-वृत्तित्वम् , वह्निसम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा व्याप्तिः । एकैव च सा सर्वधूमसाधारणीति भावः । पृ. ७७१, त. चि.दीधिति (अनुमितिगादाधरी)

४२.तदपरे न मन्यन्ते–तथाहि धूमत्वावच्छिन्ना व्याप्तिः सन्निकृष्टधूमविषये धूमत्वेन प्रत्यक्षेण ज्ञायते । ततः स्मृता सा तृतीयलिङ्गपरामर्शे पक्षनिष्ठधूमवृत्तितया ज्ञायते ततोऽनुमितिः तदनभ्युपगमेऽपि सन्निकृष्टधूमविषये धूमत्वेन धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवस्तथैव व्याप्तिस्मरणं ततो धूमवानयमिति व्याप्तिस्मृतिप्रकारेण धूमत्वेन पक्षवृत्तिधूमज्ञानादनुमितिः ; व्याप्त्यनुभव-तत्स्मरणपक्षधर्मताज्ञानानामेकप्रकारकत्वेनानुमितिदेतुत्वात् ।

पृ. ७७१ व ७९१, त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

४३.उच्यते यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदाऽनुकूलतर्कादिकं विना धूमादौ व्यभिचारसंशयो न स्यात् ; प्रसिद्धधूमे वह्निसम्बन्धावगमात् ;कालान्तरीयदेशान्तरीयधूमस्य मानाभावेनाज्ञानात्। सामान्येन तु सकलधूमोपस्थितौ धूमान्तरे विशेषादर्शनेन संशयो युज्यते ।

पृ. ८०८-८०९, त. चि.(अनुमितिगादाधरी)

४४.अत्र वदन्ति-प्रसिद्धधूमे धूमत्वेन व्याप्तिज्ञानमेतद्धूमत्वेन वा ? आद्ये संशयोऽसिद्धः द्वितीये धूमत्वावच्छेदेन व्याप्तिग्रहस्यैव तद्विरोधितया संशयो नानुपपन्नः ।

पृ. ८१०, त. चि.दीधिति (अनुमितिगादाधरी)

***

६
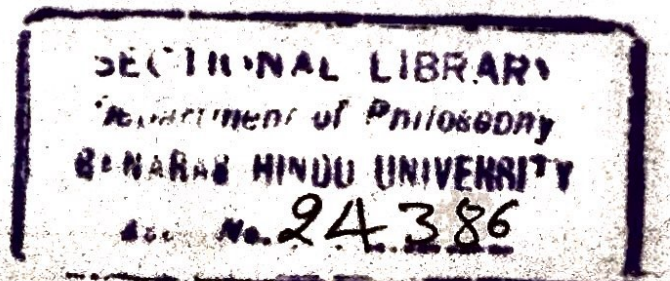
पक्ष,पक्षता और पक्षधर्मताज्ञान

केवल व्याप्ति का ज्ञान रहने से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । व्याप्तिज्ञान के सिवा पक्षता और पक्षधर्मताज्ञान रूपी कारणों की अपेक्षा भी होती है अनुमिति के लिए । पक्षधर्मताज्ञान होने के लिए पक्ष का ज्ञान होना भी आवश्यक होता है । परन्तु यह ध्यान दिया जाये कि पक्ष का पक्षत्वेन ज्ञान आवश्यक नहीं होता है । इसीलिए मणिकण्ठ मिश्र **न्यायरत्न** में कहते हैं कि "*धूमवानयं पर्वतः*"ऐसे ज्ञान से अनुमिति होती है "*धूमवानयं पक्षः*"ऐसे ज्ञान से अनुमिति नहीं होती है [१]। तो पक्ष का लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का सामान्यतया उत्तर दिया जा सकता है कि पक्षतावान ही पक्ष है । पक्षता ही पक्षपद की प्रवृत्ति की निमित्त बनती है । यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि पक्षपद का प्रवृत्तिनिमित्त बताया जा रहा है या लक्षण , इस पर गङ्गेश का कथन है कि पक्षपद का लक्षण बताने की वस्तुतः तो कोई भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि लक्षण का प्रयोजन होता है व्यावृत्ति कराना ,परन्तु संसार की समस्त वस्तुएँ ही किसी न किसी अनुमान में पक्ष बनती हैं । अतः पक्षत्व केवलान्वयी होता है । तो आख़िर व्यावर्तन किया किससे जायेगा ? अतः केवल पक्ष पद के प्रवृत्तिनिमित्त मात्र का निरूपण करने के लिए ऐसा कहा गया है [२]। पक्षपद का अर्थ तो इस तरह से स्पष्ट हो जाता है । परन्तु पक्षपद के अर्थ का जैसा निरूपण किया गया उससे तुरन्त ही पक्षता के विषय में सवाल उठ खड़ा होता है कि पक्षता क्या है ? इसके उत्तर में या तो पक्षता का स्वरूप बताया जा सकता है अथवा पक्षता का लक्षण बताया जा सकता है ।

पक्षता : स्वरूप और लक्षण

न्यायवैशेषिकपरम्परा में पक्षता का स्वरूप ही बताया जाता है लक्षण नहीं क्योंकि अनुमिति के लिए पक्षता के लक्षण का ज्ञान किसी भी तरह से उपयुक्त नहीं होता है । वस्तुतः तो पक्षता के स्वरूप का ज्ञान भी अनुमिति के लिए उपयोगी नहीं होता है क्योंकि पक्षता स्वरूपसती अनुमिति के प्रति कारण होती है ज्ञात होकर अनुमिति के प्रति कारण नहीं होती है । इसी कारण पक्षता के स्वरूप का निर्वचन तो अनुमिति के लिए आवश्यक होता है परन्तु पक्षता के लक्षण का निर्वचन अनावश्यक । इस विषय

पर नव्य और प्राच्य नैयायिकों में पर्याप्त मतवैभिन्य है , जिसको हम आगे देखने का प्रयास करेंगे ।

पक्षता के स्वरूप के विषय में प्राचीन नैयायिकों का अभिमत है कि साध्यसन्देह ही पक्षता है । इस विषय में **न्यायभाष्य**कार वात्स्यायन की पङ्क्ति बहुत उद्धृत की जाती है । वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र की व्याख्या के अवसर पर कहा है कि "*तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु संशयिते*" । यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि प्राचीन नैयायिकों के मत में साध्यसन्देह ही पक्षता है । इस मत के विवेचन में मैं बहुत विस्तार से नहीं जाना चाहता हूँ । इस मत के औचित्य और अनौचित्य पर अवश्य मैं चचा करूँगा । **न्यायरत्न**कार मणिकण्ठ मिश्र ने साधकबाधकमानाभाव के पक्षतात्व का व्यवस्थापन किया है। (द्रष्टव्य-पृ.११५,**न्यायरत्न**) गङ्गेश ने पूर्वपक्ष के रूप में चार मतों का उपस्थापन कर खण्डन कर दिया है ।

क्या साध्यसन्देह पक्षता है ?

साध्यसन्देह को पक्षता माननेवाले मत का गङ्गेश इस तरह से खण्डन करते हैं कि जो साध्यसन्देह को पक्षता मानते हैं उनका अभिमत क्या है? क्या वे साध्यसन्देह को विशेषण मानते हैं अथवा वे साध्यसन्देह को उपलक्षण मानते हैं । साध्यसन्देह को विशेषण मानना तभी सम्भव था अगर परामर्श के काल में नियमित रूप से साध्यसन्देह रहता , परन्तु हम पाते हैं कि परामर्श के काल में नियमित रूप से साध्यसन्देह रहता नहीं है क्योंकि लिङ्गदर्शन , व्याप्तिस्मरण आदि के द्वारा उसका विनाश हो जाया करता है । इसको समझने के लिए हम न्यायपरम्परा के इस सिद्धान्त को समझना प्रथमतः आवश्यक है कि ज्ञान क्षणिक होता है । ज्ञान एक क्षण में उत्पन्न होता है अगले क्षण में रहता है और उसके अगले क्षण में उसका विनाश हो जाता है । इस तरह हम पाते हैं कि किसी भी ज्ञान का जीवन वस्तुतः तीन क्षणों तक सीमित है । उसमें भी प्रथम क्षण उत्पत्ति का क्षण है और तृतीय क्षण विनाश का क्षण है । स्थिति का क्षण केवल एक है बीच का क्षण द्वितीयक्षण । अब यहाँ पर चार ज्ञान होने हैं १)साध्यसन्देह २)लिङ्गदर्शन ३)व्याप्तिस्मरण तथा ४)परामर्श । अगर इन चारों ज्ञानों की उत्पत्ति इसी क्रम से हो तो साध्यसन्देह व्याप्तिस्मरण की उत्पत्ति के काल में विनष्ट हो जायेगा निश्चय ही इस कारण परामर्श के समय में साध्यसन्देह नहीं रहेगा । अगर आप सोचें कि लिङ्गदर्शन और परामर्श के बीच में साध्यसन्देह उत्पन्न हो सकता है तो ऐसा सोचना भी अनुचित और असङ्गत होगा क्योंकि ऐसी परिस्थिति में तो परामर्श की उत्पत्ति ही असम्भव हो

जायेगी । इसका कारण यह है कि परामर्श की उत्पत्ति तभी हो सकती है अगर किसी एकक्षण में व्याप्ति का स्मरण भी रहे और उसी क्षण में पक्षधर्मताज्ञान यानी लिङ्गदर्शन भी रहे । अगर आपकी योजना के अनुसार लिङ्गदर्शन और परामर्श के बीच में साध्यसन्देह आ जाये तो किसी भी एक क्षण में व्याप्ति का स्मरण और उसी क्षण में पक्षधर्मताज्ञान यानी लिङ्गदर्शन भी रहेंगे नहीं । अतः परामर्श की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी । अगर व्याप्तिस्मरण के बाद में साध्यसन्देह को आप लाना चाहें तो इसमें भी यही मुश्किल आयेगी । इस परिस्थिति में भी परामर्श की उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी । इस कारण साध्यसन्देह विशेषण नहीं हो सकता है । साध्यसन्देह उपलक्षण भी नहीं हो सकता है क्योंकि साध्यसन्देह के उपलक्षण होने पर व्यावर्तन असम्भव होगा । व्यावर्तन का आशय है कि साध्यसन्देह को पक्षता माननेवाला चाहता है कि साध्यनिश्चयदशा में अनुमिति होती नहीं है । परन्तु जब वस्तुतः अनुमाता को साध्यसन्देह नहीं है उस समय भी किसी न किसी को साध्यसन्देह है ही । इस कारण पक्षता सम्पन्न हो जायेगी । आख़िर आपने पक्षता को उपलक्षण माना है विशेषण नहीं उसी व्यक्ति को भी कालान्तर में साध्यसन्देह था ही । अतः साध्यसन्देह को उपलक्षण मानने पर साध्यसन्देह परामर्श काल में न रहने पर भी अनुमिति होने लगेगी । अगर उसी व्यक्ति को आगे-पीछे साध्यसन्देह रहने पर पक्षता बनती है तो किसी अन्य को भी साध्यसन्देह रहने पर पक्षता बननी ही चाहिए । इस कारण साध्यसन्देह पक्षता नहीं हो सकता है [३]।

क्या साधकबाधकमानाभाव पक्षता है ?

मणिकण्ठ मिश्र के इस मत पर कि साधकबाधकमानाभाव पक्षता है ,गङ्गेश कहते हैं कि साधकबाधकमानाभाव का अर्थ क्या है ? १)अगर साधकबाधकमानाभाव का अर्थ साधकबाधकमानोभयाभाव है तब तो अगर केवल सिद्धि है तब भी साधकबाधकमानाभाव है और अगर केवल बाध है तब भी साधकबाधकमानाभाव है ही इस कारण हमेशा ही अनुमिति के प्रति कारणीभूत पक्षता की सम्पत्ति हो ही जायेगी । यह तो सर्वविदित है कि उभयाभाव एक के रहने पर भी रहता है । ऐसी परिस्थिति में साधकबाधकमानाभाव तभी नहीं आ सकता है अगर साधकमान (सिद्धि)भी रहे और बाधकमान (बाध) भी रहे । ऐसा तो कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि एक ही स्थल में सिद्धि भी रहे और बाध भी रहे क्योंकि सिद्धि और बाध के परस्पर विरहरूप होने के कारण एक के रहने पर दूसरे का नियम से अभाव रहेगा । २)अगर साधकबाधकमानाभाव का अर्थ साधकबाधकमानोभयाभाव न होकर साधकप्रमाणाभाव

और बाधकप्रमाणाभाव दोनों का सहभाव है तो यह पक्ष भी विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है । इसका कारण यह है कि ऐसी स्थिति में तो साधकप्रमाणाभाव को ही पक्षता मानने से काम चल सकता है बाधकप्रमाणाभाव का निवेश व्यर्थ ही है । बाधकप्रमाणाभाव का निवेश करने का आपका प्रयोजन यही है कि बाधस्थल में अनुमिति नहीं होती है अतः वहाँ पर पक्षता की सम्पत्ति न हो परन्तु यह प्रयोजन तो बाधकप्रमाणाभाव का निवेश किये विना ही पूरा हो सकता है । इस तरह से पक्षता की सम्पत्ति हो जाने पर भी बिगड़ता क्या है? आपका अभीष्ट है वहाँ पर अनुमिति की उत्पत्ति न होना । अगर वहाँ पर पक्षता हो भी जाये तो वहाँ पर या तो स्वरूपासिद्धि रहेगी अथवा वहाँ पर बाध होगा । तो पक्षता की सम्पत्ति हो जाने पर भी वहाँ पर बाध से अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाने से अथवा स्वरूपासिद्धि के द्वारा परामर्श का प्रतिबन्ध हो जाने से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इस कारण बाधस्थल में पक्षतानिवारण का कोई प्रयोजन दिखलायी नहीं देता है।
३) आपका कथन यह हो सकता है कि ठीक है तो केवल साधकप्रमाणाभाव को ही पक्षता मान लिया जाये ?तो इस पर गङ्गेश का कथन है कि यह पक्ष भी समुचित नहीं है क्योंकि "*आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः*" इस श्रुति के द्वारा समानविषयक श्रवण के बाद मनन का बोधन है । मनन का अभिप्राय अनुमिति से ही है । इसका तात्पर्य यह है कि शाब्दबोधात्मक सिद्धि रहने पर भी अनुमिति का विधान श्रुति के द्वारा किया जा रहा है । इसका मतलब यह है कि शाब्दबोधात्मक सिद्धि रहने पर भी अनुमिति होनी चाहिए । यह तभी सम्भव है अगर शाब्दबोधात्मक सिद्धि रहने पर भी अनुमिति के प्रति कारणीभूता पक्षता की सम्पत्ति हो सके । अगर आपके कथनानुसार साधकप्रमाणाभाव को पक्षता मानें तो उक्त स्थल में शाब्दबोधात्मक सिद्धिरूप साधकप्रमाण ही विद्यमान है । अतः पक्षता नहीं है । तो आप अनुमिति का सम्पादन किस तरह से कर सकेंगे ? आपके पक्ष में तो श्रुति के द्वारा समानविषयक श्रवण के बाद अनुमिति बाधित होने के कारण विहित नहीं हो सकती है । न केवल श्रुतिविरोध ही होगा अपितु अनुभवविरोध भी आपके पक्ष में है क्योंकि प्रत्यक्ष से दर्शन के उपरान्त भी अनुमिति की जाती है। यह प्रामाणिकों का अनुभव है कि हाथी के दिखायी पड़ते रहने पर भी अनुमिति की इच्छा के रहने पर चीत्कार से हाथी की अनुमिति होती है। इसके सिवा यह भी अनुभवगम्य है कि एक हेतु से साध्य की सिद्धि होने पर भी हेत्वन्तर से अनुमिति की जाती है । इस तरह हम पाते हैं कि प्रत्यक्षात्मक , अनुमित्यात्मक अथवा शाब्दबोधात्मक सिद्धि के रहने पर भी अनुमिति होती है । इस कारण साधकप्रमाणाभाव को पक्षता मानना सम्भव नहीं है।[४]

क्या सिसाधयिषा पक्षता है ?

साध्यसन्देह को पक्षता नहीं माना जा सकता है , उसी तरह साधकबाधक-प्रमाणाभाव को भी पक्षता नहीं माना जा सकता है। यह ऊपर व्यवस्थापित किया गया जो प्रश्न अभी उठाया गया गङ्गेश के द्वारा कि प्रत्यक्षात्मक , अनुमित्यात्मक अथवा शाब्दबोधात्मक सिद्धि के रहने पर भी पक्षता की सम्पत्ति होती है। उसके आलोक में यह विकल्प आता है कि क्या सिसाधयिषा तो पक्षता नहीं है। अगर सिसाधयिषा पक्षता हो तो प्रत्यक्षात्मक, अनुमित्यात्मक अथवा शाब्दबोधात्मक सिद्धि के रहने पर भी पक्षता को व्यवस्थापित किया जा सकता है क्योंकि सिसाधयिषा के रहने से उपर्युक्त सिद्धियों के रहने पर भी पक्षता की सम्पत्ति होती है ऐसा कहना सम्भव है ।

परन्तु गङ्गेश इस पक्ष का भी खण्डन यह कहकर कर देते हैं कि साध्यसन्देह को पक्षता मानने में जो समस्या थी वही समस्या सिसाधयिषा को पक्षता मानने में भी है। यहाँ पर भी यह सवाल होता है कि सिसाधयिषा विशेषण है या उपलक्षण। अगर सिसाधयिषा विशेषण हो तो परामर्श के पूर्व सिसाधयिषा को नियम से रहना चाहिए । परन्तु हम पाते हैं कि परामर्श के पूर्व में सिसाधयिषा नियम से रहती नहीं है । जिस तरह से अनुमिति के पूर्व में साध्यसन्देह का नियम से रहना सम्भव नहीं होता है ठीक उसी तरह से सिसाधयिषा का भी रह पाना असम्भव है। उसी तरह से हम कह सकते हैं कि अगर सिसाधयिषा लिङ्गदर्शन के पूर्व में हो तो परामर्श के काल में वह नहीं रह सकती है । अगर लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण के बीच में हो तो परामर्श ही नहीं उत्पन्न हो पायेगा । व्याप्तिस्मरण के उपरान्त सिसाधयिषा की उत्पत्ति स्वीकारने पर भी यही समस्या आती है । अतः सिसाधयिषा पक्षता नहीं हो सकती है । दूसरी बात ये है कि सिसाधयिषा के न रहने पर भी अनुमान किया जाता है , उदाहरण के तौर पर देखें तो रात्रि में सोते समय अचानक बादल के गरजने की आवाज़ को सुनकर हम अनुमिति कर लेते हैं कि आकाश में बादल हैं । यह अनुमिति विना पक्षता के तो नहीं हो सकती है । आपके अनुसार यहाँ पर भी सिसाधयिषा को रहना चाहिए । परन्तु यहाँ पर सिसाधयिषा तो नहीं है । हमारी सिद्धि करने की इच्छा ही तो सिसाधयिषा कहलाती है। ऐसी कोई भी इच्छा उक्त स्थल में अनुभवगम्य नहीं होती । कुछेक चीजें हमें पसन्द नहीं होती हैं हम उनके विषय में सोचना भी नहीं चाहते । उदाहरण के रूप में हम कभी भी ऐसी इच्छा नहीं करते हैं कि हमें अपने शत्रु के सम्पन्न होने की खबर मिले,या उसकी किसी उन्नति का पता चले । हम कभी भी ऐसी इच्छा नहीं करते हैं कि हमें अपने किसी

प्रियजन के मरण के विषय में अनुमिति हो या ज्ञान हो । परन्तु उपर्युक्त विषयिणी अनुमितियाँ होती तो हैं ही । हमारे न चाहने पर भी अपने कारणों से ऐसी अनुमितियाँ होती हैं । "*मम शत्रुः सम्पन्नः गजवाजिसमन्वितत्वात्*" मेरा शत्रु सम्पन्न है क्योंकि उसके पास घोड़े हाथी आदि हैं । इस तरह के अनुमितियों की सत्ता से आप इनकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि हमारा अनुभव है कि ऐसी अनुमितियाँ भी होती हैं । अतः सिसाधयिषा को पक्षता मानना सम्भव नहीं है ।[५]

क्या सिसाधयिषायोग्यता पक्षता है ?

नैयायिकों का एक वर्ग सिसाधयिषायोग्यता को पक्षता मानने का पक्षपाती है । इस पक्ष को माननेवालों काआशय शायद यह है कि उपर्युक्त स्थलों में जहाँ पर सिसाधयिषा नहीं वहाँ पर भी सिसाधयिषायोग्यता तो है ही उसी को आधार बनाकर वहाँ पर पक्षता सम्पन्न हो जायेगी । इस पक्ष को गङ्गेश यह कहते हुए खण्डित कर देते हैं कि सिसाधयिषायोग्यता का निर्वचन ही अशक्य है । आप यह नहीं बता पायेंगे कि आख़िर सिसाधयिषायोग्यता है क्या चीज़? अतः सिसाधयिषायोग्यता को भी पक्षता मानना सम्भव नहीं है ।[६]

सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव ही पक्षता है

सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि का अभाव ही पक्षता है ।[७] आइए इस निर्वचन को समझने की कोशिश करें । चार परिस्थितियाँ हो सकती हैं–

१)परामर्श के काल में सिद्धि भी रहे और सिसाधयिषा भी रहे ।

२)सिसाधयिषा भी न रहे और सिद्धि भी न रहे ।

३)सिसाधयिषा हो और सिद्धि न रहे ।

४)सिसाधयिषा न हो और सिद्धि रहे ।

इनमें से सिर्फ़ चौथी ही स्थिति ऐसी है जिसमें कि पक्षता नहीं होती है । शेष तीनों ही स्थितियों में पक्षता होती है । ऐसा किस तरह से सम्भव हो पाता है यह द्रष्टव्य है । अगर गङ्गेश के अभिमत को हम सरलता से समझने का प्रयास करें तो सिद्धि के अभाव को गङ्गेश ने पक्षता माना है परन्तु सिद्धि का एक विशेषण दे दिया है सिसाधयिषाविरह । इसका अभिप्राय यह है कि अगर सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि है तो पक्षता नहीं बनेगी और यदि सिसाधषिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि नहीं है तो पक्षता बनेगी ।

आइए प्रथम स्थिति को लेते हैं –अगर सिद्धि भी है और सिसाधयिषा भी है ता

ऐसी स्थिति में सिसाधयिषाविरह नहीं है , सिसाधयिषा का अभाव नहीं है अतः सिद्धि के रहने पर भी सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि नहीं है । अगर सिसाधयिषाविरह भी रहता और सिद्धि भी रहती तभी आप ऐसा कह सकते हैं कि सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि है ,अतः पक्षता नहीं हो सकेगी । परन्तु यहाँ पर तो सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि है ही नहीं । जो सिद्धि है वह सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट नहीं है अपितु सिसाधयिषा से ही विशिष्ट है । अतः पक्षता सम्पन्न हो जाती है ।

अब द्वितीय स्थिति को लेते हैं द्वितीय स्थिति में न तो सिद्धि ही है और न ही सिसाधयिषा । इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिसाधयिषाविरह रूप विशेषण तो है परन्तु सिद्धि रूप विशेष्य नहीं है । इस तरह सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि नहीं है अपितु सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि का अभाव आ जाता है तथा पुनः उपर्युक्त रीति से ही पक्षता सम्पन्न हो जाती है ।

अब तृतीय स्थिति को लेते हैं । तृतीय स्थिति में सिसाधयिषा है और सिद्धि नहीं है । इस परिस्थिति में क्या है कि सिसाधयिषाविरहरूप विशेषण नहीं है तथा सिद्धि रूप विशेष्य भी नहीं है । इस तरह से हम पाते हैं कि विशेष्य और विशेषण दोनों के ही नहीं रहने के कारण पुनः पक्षता सम्पन्न हो जाती है ।

अब हम चतुर्थ स्थिति को लेते हैं । चतुर्थ स्थिति में सिसाधयिषा नहीं है और सिद्धि है इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिसाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि ही है । इस कारण पक्षता नहीं सम्पन्न हो पाती है । एतद्विषयक पारम्परिक अभिप्राय को समझने के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि क्या विशेषण और विशेष्य दोनों ही हैं अथवा दोनों में से कोई एक नहीं है। अगर दोनों हैं तो पक्षता नहीं बन पायेगी और यदि दोनों में से कोई एक नहीं है अथवा दोनों ही नहीं हैं तो पक्षता बन जायेगी ।

इस तरह से हम देखते हैं कि सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव ही पक्षता है । हम यह पूर्व में ही कह चुके हैं कि यह पक्षता का स्वरूप है पक्षता का लक्षण नहीं । यद्यपि **दिनकरी** में इसको पक्षता का लक्षण कहा गया है । [८] तथापि हम इसको पक्षता का स्वरूप ही कहेंगे पक्षता का लक्षण नहीं । इसका कारण यह है कि प्रथमतः अगर यह पक्षता का लक्षण है तो इसका समन्वय पक्ष में न करके पक्षता में करना चाहिए था । परन्तु हम पाते हैं कि इसका समन्वय सभी ही पक्ष में ही करते हैं कोई भी इसका समन्वय पक्षता में नहीं करता है । यदि यह पक्षता का लक्षण होता तो इसका समन्वय पक्षता में किया जाना चाहिए था । द्वितीयतः यह लक्षण तभी हो सकता था अगर यह

इतरभेदसाधक होता परन्तु यह तो इतरभेदसाधक होता नहीं है । क्योंकि समस्त पदार्थ पक्ष हो सकते हैं तो उनसे इतर ही नहीं होने के कारण लक्षण किससे व्यावर्तन करेगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए गङ्गेश ने पक्षताप्रकरण में कहा है कि पक्षत्व के केवलान्वयी होने के कारण यह भेदक नहीं हो सकता है तथापि यह पक्षपद का प्रवृत्तिनिमित्तमात्र बताया जा रहा है [२]। वस्तुतः गङ्गेश का यहाँ पर आशय यह है कि सिसाधयिषाविरह से विशिष्ट सिद्धि का अभाव पक्ष का ही लक्षण हो सकता था परन्तु यह पक्ष का भी लक्षण नहीं है क्योंकि समस्त पदार्थों के ही पक्ष हो सकने के कारण यह इतरव्यावर्तक नहीं हो सकता है । तृतीयतः **कारिकावली** में भी जिस तरह से कहा गया है उससे यही प्रतीत होता है कि यह पक्ष का लक्षण बताया जा रहा है पक्षता का नहीं । **कारिकावली** में कहा गया है कि "*सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र* न विद्यते , स पक्षः" कारिका-७० । इस तरह हम पाते हैं कि हम इसको ज्यादा से ज्यादा पक्ष का लक्षण मान सकते हैं। पक्षता का लक्षण तो नहीं ही मान सकते हैं ।

पक्षधर्मताज्ञान

पक्ष का अर्थ विचारित हुआ धर्मता का अर्थ है वृत्तित्व । इस तरह पक्षधर्मता का अर्थ लब्ध होता है पक्षनिरूपितवृत्तित्व । तो पक्षधर्मताज्ञान का अर्थ होगा पक्षनिरूपितवृत्तित्व का ज्ञान । परन्तु इसमें किसके पक्षनिरूपितवृत्तित्व का ज्ञान अपेक्षित है यह छोड़ दिया गया है । यह स्वयमेव समझ लिया जाता है कि हेतु के पक्षनिरूपितवृत्तित्व का ज्ञान यहाँ पर अपेक्षित है । वह ज्ञान अनुमिति के प्रति कारण होता है[१०] । ऐसा ज्ञान दो तरह का हो सकता है एक तो "*पक्षः हेतुमान्*" और दूसरा "*पक्षे हेतुः*" इन दोनों ही ज्ञानों में पक्षनिरूपितवृत्तित्व का ज्ञान किसी न किसी तरह से हो ही रहा है ।

सन्दर्भसूची

१.धूमवानयं पर्वतः इति ज्ञानादनुमितिरुत्पद्यते , न तु धूमवानयं पक्ष इतिज्ञानात् ।

पृ.११५ ,न्यायरत्न

२.तत्र किं पक्षत्वम् ?यद्यपि पक्षत्वस्य केवलान्वयित्वादितरभेदसाधकत्वं नास्ति ;तथापि पक्षपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तमात्रं निरूप्यते । पृ.१०९ ,न्यायरत्न

३.तत्र न तावत् सन्दिग्धसाध्यधर्मत्वं पक्षत्वम् । सन्देहो न विशेषणम् ; परामर्शपूर्वं लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिना तस्य नाशात् । नोपलक्षणम् ; अव्यावर्तकतापत्तेः ।

पृ. १०७९, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

४.नापि साधकबाधकप्रमाणाभावः ; उभयाभावस्य प्रत्येकसत्त्वेऽपि सत्त्वात् । नापि अभावद्वयं तथा ; बाधकप्रमाणाभावस्य व्यर्थत्वात् ;ह्रदादेः पक्षत्वेऽपि बाधहेत्वसिद्ध्यादे-रावश्यकत्वेनानुमित्यनुत्पादात् । नापि साधकप्रमाणाभावः ;श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुत्या समानविषयकश्रवणानन्तरं मननबोधनात् , प्रत्यक्षदृष्टेऽप्यनुमानदर्शनात् ; एकलिङ्गावगतेऽपि लिङ्गान्तरेण तदनुमानाच्च । मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति स्मरणात् ।

पृ. १०८८, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

५.सन्देहवत्परामर्शपूर्वं सिसाधयिषाया अप्यभावात् ...सिसाधयिषाविरहेऽपि घनगर्जितेन मेघानुमानात् ;स्वकारणाधीनतृतीयगिङ्गपरामर्शबलेन अनपेक्षितानुमानदर्शनाच्चेति ।

पृ. १०८९, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

६.योग्यतायाश्चानिरूपणात् । पृ. १०८९, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

७.उच्यते-सिसाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभावो यत्रास्ति स पक्षः ।

पृ. १०९२, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

८.मूले पक्षतालक्षणस्य स्पष्टतयानुक्तेः पक्षतालक्षणं स्वातन्त्र्येण प्रदर्शयन् मूलार्थमाह – *सिसाधयिषाविरहेति* । पृ.३०९ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरी

९.यद्यपि पक्षत्वस्य केवलान्वयित्वात् नास्य भेदकत्वम् ;तथापि पक्षपदप्रवृत्तिनिमित्तमिदम् ।

पृ. १०९२, त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

१०.स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् । कारिका ७०, कारिकावली

***

७

परामर्श या तृतीयलिङ्गपरामर्श

परामर्श की अवधारणा विवाद का विषय है । अनेक दार्शनिक परामर्श के अस्तित्व से यह कहते हुए इनकार कर देते हैं कि अनुमिति की उत्पत्ति के लिए परामर्श की कोई भी आवश्यकता नहीं है । विना परामर्श का अस्तित्व स्वीकार किए भी अनुमिति की उत्पत्ति की व्याख्या करने में कोई असुविधा नहीं है क्योंकि व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मताज्ञान मिलकर अनुमिति को उत्पन्न करने में सक्षम हैं । इस कारण परामर्श का अस्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । इस विषय में न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय की अपनी खास विशेषता है परामर्श का अस्तित्व स्वीकार करना । यद्यपि यहाँ पर भी अनेक विद्वान परामर्श की कोई आवश्यकता अनुमिति के लिए मानना उचित नहीं समझते हैं ।

अगर हम सूत्रों से शुरुआत करें तो पाते हैं कि **न्यायसूत्र** में कहीं पर भी परामर्श के विषय में कोई चर्चा नहीं मिलती है । वात्स्यायन अनुमानसूत्र "*अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति*" **न्यायसूत्र** १.१.५ की व्याख्या करते हुए तत्पूर्वकं के घटक तत्पद से लिङ्गदर्शन और लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्धदर्शन को समझते हैं । लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्धदर्शन से लिङ्गिस्मृति अभिसम्बद्ध हो जाती है । इस कारण लिङ्गदर्शन से तथा लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मृति से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान कर लिया जाता है [1]। यहाँ पर वात्स्यायन के विवेचन में हम देखते हैं कि अनुमिति के लिए वात्स्यायन जिन चीजों की आवश्यकता महसूस करते हैं उनमें दो चीजें आती हैं एक तो लिङ्गदर्शन अर्थात् हेतुदर्शन अर्थात् पक्षधर्मताज्ञान दूसरा है लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धस्मरण यानी व्याप्तिस्मरण अब पक्षधर्मताज्ञान और व्याप्तिस्मरण के बाद क्या परामर्श की भी आवश्यकता होगी या नहीं होगी इस पर वात्स्यायन कुछ भी नहीं कहते हैं । दो बातें हो सकती हैं या तो वे अनुमिति के लिए परामर्श की ज़रूरत नहीं महसूस करते हैं अथवा उनका अभिप्राय अनुमान का इतना विस्तृत विवेचन करना नहीं था इस कारण उन्होंने इस विषय का परित्याग कर दिया हो । अब यदि हम **न्यायभाष्य** को परवर्ती व्याख्याकारों की नज़र से देखें तो वात्स्यायन की दृष्टि में भी परामर्श की आवश्यकता है ही परन्तु अगर हम वात्स्यायन की पङ्क्तियों पर ध्यान दें तो

यही लगता है कि वात्स्यायन परामर्श का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उपर्युक्त स्थल में वे अनुमिति के लिए अपेक्षित कारणों की व्यवस्थित चर्चा करते हैं परन्तु परामर्श का ज़िक्र करना भी वे अनावश्यक समझते हैं । इतना तो तय है कि जिस तरह से अन्य नैयायिकों के विषय में हम कह सकते हैं कि वे परामर्श को अनुमिति के लिए आवश्यक मानते हैं वैसी वात वात्स्यायन के विषय में कह पाना सम्भव नहीं है ।

वात्स्यायन का अभिमत तो इस विषय में एकदम स्पष्ट नहीं है परन्तु **प्रशस्तपादभाष्य** की **न्यायकन्दली** व्याख्या में श्रीधर तो परामर्श की कोई आवश्यकता अनुमिति की उत्पत्ति के लिए महसूस नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण इन दोनों से ही अनुमिति की उत्पत्ति सम्भव है तो परामर्श की क्या आवश्यकता? यहाँ पर हम श्रीधर को लिङ्गपरामर्श का सुस्पष्ट खण्डन करते हुए पाते हैं [२]। इस तरह हम पाते हैं कि न्यायवैशेषिक परम्परा में भी परामर्श का अस्तित्व स्वीकार करने के विषय में कम से कम ऐकमत्य नहीं है। यह अवश्य है कि जो लोग परामर्श को अनुमिति के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं ऐसे लोगों की सङ्ख्या न्यायवैशेषिकपरम्परा में काफी कम है ।

न्यायवैशेषिकपरम्परा में सबसे पहले परामर्श को स्वीकारनेवाले हैं **न्यायवार्तिक** के प्रणेता उद्योतकर "*अथ तत्पूर्वकं*" इस न्यायसूत्र पर किये गये वात्स्यायन के भाष्य की व्याख्या करते हुए *तत्पूर्वकं* पद की व्याख्या करते हुए वे लिङ्गपरामर्श को ले आते हैं। "*ते द्वे पूर्वे यस्येति*" वे दो प्रत्यक्ष पूर्व में हैं जिस प्रत्यक्ष के वही है तत्पूर्वक प्रत्यक्ष। वही है लिङ्गपरामर्श । आशय यह है कि तत्पूर्वक प्रत्यक्ष का विशेषण है । वही तत्पूर्वक प्रत्यक्ष ही अनुमान कहा जाता है। अनुमान पद से हम भ्रान्त न हों अनुमान पद यहाँ पर अनुमिति के लिए प्रयुक्त न होकर अनुमितिकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस तरह हम पाते हैं कि उद्योतकर का तात्पर्य लिङ्गपरामर्श को अनुमितिकरण बताने का था। अपने कथन की पुष्टि के लिए उद्योतकर अपने कथन को ख़ुद ही व्याख्यायित भी करते हैं –"कौन से वे दो प्रत्यक्ष ? लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शन है प्रथम प्रत्यक्ष। द्वितीय प्रत्यक्ष है लिङ्गदर्शन। अनुमिति की इच्छा रखनेवाले को द्वितीयलिङ्गदर्शन से संस्कार की अभिव्यक्ति के अनन्तर काल में स्मृति होती है तथा उस स्मृति के अनन्तर काल में पुनः लिङ्गदर्शन होता है कि यह धूम है। वह यह अन्तिम प्रत्यक्ष पूर्वकालीन दोनों प्रत्यक्षों से अनुगृहीत होकर लिङ्गपरामर्श रूपी अनुमान हो जाता है"।[३] उद्योतकर के कथन से कुछ चीजें स्पष्ट होती हैं परन्तु कुछेक अस्पष्ट रह जाती हैं ।

जो बातें उद्योतकर के कथन से स्पष्ट होती हैं वे ये हैं कि १)अनुमिति का करण होता है परामर्श तथा वह परामर्श प्रत्यक्षात्मक होता है । २)इस परामर्श के पूर्व में दो और प्रत्यक्ष हो चुके हैं । इससे हम समझ सकते हैं कि इस परामर्श को तृतीयलिङ्गपरामर्श क्यों कहा जाता है । परन्तु कुछेक बातें अस्पष्ट रह जाती हैं । उनमें प्रमुख ये हैं १) परामर्श का आकार क्या होगा ? २)आख़िर परामर्श को स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है ? इनमें प्रथम प्रश्न पर उद्योतकर ने कुछ उत्तर तो दिया है परन्तु उस उत्तर को कितना उचित माना जाये यह विचार का विषय हो सकता है क्योंकि उद्योतकर की पङ्क्ति से तो यही प्रतीत होता है कि परामर्श का आकार *अयं धूमः* है परन्तु परवर्ती नैयायिक परामर्श का आकार ऐसा तो नहीं मानते हैं । द्वितीय प्रश्न पर उद्योतकर ने कुछ उत्तर नहीं प्रस्तु किया है । शायद उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा। अथवा उनके आगे यह प्रश्न था ही नहीं । जो भी हो उद्योतकर के परवर्ती नैयायिकों को हम इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास करते पाते हैं । इसको हम आगे देखने का प्रयास करेंगे ।

इन प्रश्नों पर उद्योतकर के बाद वाचस्पति मिश्र और तदनन्तर उदयनाचार्य ने विचार किया है । उद्योतकर ने सिर्फ़ इतना कहा था कि पूर्व के दोनों दर्शनों से अनुगृहीत होकर परामर्श अनुमिति का करण होता है । वाचस्पति मिश्र इस विषय पर विचार करते हैं कि आख़िर इस तृतीयलिङ्गपरामर्श की आवश्यकता क्या है ? दर्शनद्वय के द्वारा ही ही अनुमिति का सम्पादन क्यों नहीं हो सकता है । पहले अगर व्याप्ति का ग्रहण हो चुका है और बाद में पक्षधर्मता का ज्ञान होकर व्याप्ति का स्मरण होता है तो पक्षधर्मता-ज्ञान और व्याप्तिस्मरण मिलकर ही अनुमिति को क्यों नहीं उत्पन्न कर सकते हैं । आख़िर परामर्श पक्षधर्मताज्ञान और व्याप्तिस्मरण के अलावा कुछ और तो विषय ही नहीं करता है । इन दोनों को ही विषय करता है । ये दोनों तो ज्ञात ही हो चुके हैं। फिर एक अतिरिक्त ज्ञान की आवश्यकता क्या है ? वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि द्वितीय लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण मिलकर अनुमिति को उत्पन्न कर सकते हैं परन्तु ये दोनों मिल कैसे सकते हैं ? इन दोनों का मिलन किसी अन्य ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है । इसका कारण यह है कि जिस समय में द्वितीय लिङ्गदर्शन उत्पन्न हुआ ,उसके अगले क्षण में व्याप्तिस्मरण उत्पन्न हुआ । जिस समय व्याप्तिस्मरण उत्पन्न हुआ उसके अग्रिम क्षण में अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा न ही उसके अग्रिमक्षण में ही अनुमिति की उत्पत्ति हो सकती है क्योंकि इन दोनों का यौगपद्य होने पर भी ये दोनों एक

दूसरे की वार्ता से अनभिज्ञ हैं । इसलिए इन दोनों का मिलन सामान्यतया नहीं हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि आत्मा इन दोनों ज्ञानों को मिला लेगा तथा इस कारण अनुमिति भी उत्पन्न हो जायेगी । परन्तु आत्मा इन दोनों ज्ञानों को मिलायेगा किस तरह से? वृत्ति से अर्थात् ज्ञान से ही इन ज्ञानों को मिला सकता है । तो इन ज्ञानों को मिलानेवाला एक तीसरा ज्ञान चाहिए । इस कारण इन दोनों ज्ञानों के द्वारा होनेवाला एक तीसरा ज्ञान स्वीकार करना चाहिए । वही तीसरा ज्ञान ही तृतीयलिङ्गपरामर्श है जो कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष है । [४]

उदयनाचार्य वाचस्पति मिश्र के कथन को और स्पष्ट करते हैं कि न तो केवल व्याप्तिस्मरण के द्वारा अनुमिति हो सकती है और न तो केवल लिङ्गदर्शन से ही अनुमिति हो सकती है। तो कैसे अनुमिति हो सकती है? व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग के दर्शन से अनुमिति हो सकती है या होती है। उक्त दोनों ही ज्ञानों में न तो एक-एक का और न तो दोनों का ही विषय व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग हो रहा है। यहाँ पर तो दोनों का विषय स्वतन्त्र रूप से दोनों हो रहे हैं। स्वतन्त्र रूप से दोनों का ज्ञान होने पर किस तरह से विशिष्ट ज्ञान अनुमिति हो सकती है । इस कारण परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान होना आवश्यक होता है।[५] इस तरह उदयन तक पहुँचते-पहुंचते हमारे सामने प्रायशः परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान की ज़रूरत, परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान का स्वरूप तथा परामर्शात्मक विशिष्टज्ञान की कल्पना का औचित्य सब कुछ सङ्क्षेप में स्पष्ट हो जाता है । सङ्क्षेप में पूर्वपक्ष भी आ जाता है परन्तु पूर्वपक्ष पर विस्तार से विचार परवर्ती नैयायिकों ने किया है। यहाँ पर यह ध्येय है कि नैयायिकों का ज्ञानपरप्रकाशवादी होना भी उनके द्वारा परामर्श की स्वीकृति प्रदान करने का आधार बनता है क्योंकि यहाँ पर कोई भी ज्ञान स्वतः प्रकाशित नहीं हो सकता है।

परवर्ती नैयायिकों को हम लिङ्गपरामर्श को स्वीकार करने के सवाल पर लम्बा वाद-विवाद करते पाते हैं । **न्यायसिद्धान्तदीप** में शशधर ,**न्यायरत्न** में मणिकण्ठ मिश्र तथा **तत्त्वचिन्तामणि** में गङ्गेशोपाध्याय विस्तार के साथ पूर्वपक्षों को उठाने के उपरान्त उनका खण्डन करके परामर्श की अनिवार्यता को व्यवस्थापित करते हैं । (द्रष्टव्य - परामर्शवाद,लिङ्गपरामर्शवाद व परामर्शप्रकरण **न्यायसिद्धान्तदीप** ,**न्यायरत्न** तथा **तत्त्वचिन्तामणि**) परामर्श की कल्पना नैयायिकों की अपनी कल्पना है तथा इस पर अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के विद्वान् सवाल उठाते हैं । मुख्य रूप से पूर्वपक्ष प्राभाकर मीमांसकों की ओर से है परन्तु अन्य विद्वानों की ओर से भी इस पर आक्षेप उठाये गये हैं। मैं यहाँ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की युक्तियों को सङ्क्षेप में उपस्थापित कर रहा हूँ ।

सारसरूप में पूर्वपक्ष यह है कि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक व्याप्तिस्मरण तथा लिङ्गदर्शन को ही अनुमिति के प्रति कारण मान लेना ज्यादा उपयुक्त है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में लाघव है । जो नैयायिक परामर्श को स्वीकारना चाहते हैं उनको भी तो व्याप्तिस्मरण तथा लिङ्गदर्शन को ही अनुमिति के प्रति कारण मानना ही पड़ेगा क्योंकि ये दोनों ज्ञान परामर्श के प्रति कारण होते हैं। तो ऐसी स्थिति में यही उचित जान पड़ता है कि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक व्याप्तिस्मरण तथा लिङ्गदर्शन को ही अनुमिति के प्रति कारण मान लिया जाये । इस कारण परामर्श का स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।[६] मणिकण्ठ मिश्र ने इस सवाल को बहुत परिष्कार के साथ उठाया है । वे सवाल करते हैं कि दो विकल्प सम्भव हैं १)क्या व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान इन दो ज्ञानों से अनुमिति होती है २)या व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले एक ज्ञान से अनुमिति होती है । अगर व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले एक ज्ञान से अनुमिति होती है तो सवाल ये है कि १)क्या व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले एक समूहालम्बनात्मक ज्ञान से अनुमिति होती है २)अथवा व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले एक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान से अनुमिति होती है । इसमें सवाल यह है कि अगर व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान इन दो ज्ञानों से अनुमिति सम्भव हो तो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही एक तीसरा ज्ञान स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ?आख़िर जो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही तीसरा परामर्शात्मक ज्ञान स्वीकार करेगा उसको भी तो व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान इन दो ज्ञानों की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी क्योंकि विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान विशेषणज्ञान से जन्य होता है । अतः परामर्शात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही होने के लिए ये तो आवश्यक है कि उसके पूर्व में व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान रहे । तो इन दोनों ज्ञानों से ही अनुमिति का स्वीकार कर लेना उचित जान पड़ता है [७]। परन्तु यहाँ पर ये प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी स्थिति में तो "*पक्षवृत्तिर्धूमो वह्निव्याप्यो न वा*" ऐसा सन्देह रहने पर भी तो अनुमिति उत्पन्न होनी चाहिए क्योंकि आपने कहा है कि व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले ज्ञान से अनुमिति होती है । उपर्युक्त सन्देह भी तो व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाला है । अगर व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले दो ज्ञानों से अनुमिति हो सकती है तो व्याप्ति तथा पक्षधर्मता को विषय करनेवाले एक ज्ञान से तो अनुमिति होनी ही चाहिए । जो विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान से अनुमिति का स्वीकार करता है उसके मत में तो उक्त स्थल में अनुमिति कि आपत्ति नहीं दी जा सकती है क्योंकि सन्देह के स्थल

में विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान सम्भव नहीं है । तो परामर्श का अस्तित्व न स्वीकार करनेवाले के मत में भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह कह सकता है कि विनश्यद् तथा अविनश्यद् अवस्थापन्न व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान से अनुमिति की उत्पत्ति होती है । नैयायिक ज्ञान को क्षणिक मानते हैं, किसी भी ज्ञान की स्थिति उत्पत्ति , स्थिति तथा विनाश इस तरह से तीन क्षण ही होती है । इस कारण व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान में से एक अगर द्वितीयक्षण में है तथा दूसरा तृतीयक्षण में है तभी ऐसी स्थिति बन सकती है । उपर्युक्त सन्देह के स्थल में तो व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान विनश्यद् तथा अविनश्यद् अवस्थापन्न नहीं हैं अतः वहाँ पर अनुमिति की आपत्ति अब नहीं आ सकती है [८]। पूर्वपक्षी यह भी कह सकता है कि उपर्युक्त सन्देह अनुपपन्न है क्योंकि अगर व्याप्ति का ग्रहण सर्वोपसंहारेण हुआ है तो "*सर्वैव धूमव्यक्तिर्वह्निव्याप्या*" ऐसा निश्चय रहने पर "*पक्षवृत्तिर्धूमो वह्निव्याप्यो न वा*" ऐसा सन्देह किस तरह से सम्भव हो सकता है ? यदि इस तरह से सन्देह ही अनुपपन्न है तो आपका प्रश्न तो अनुचित ही सिद्ध हो जाता है । आपके सन्देह को हम उपपन्न मान लें तो भी हम उपर्युक्त आपत्ति को समाहित कर सकते हैं । हम यह कहेंगे कि भेदज्ञानाभावसहकृत ज्ञानद्वय से अनुमिति का स्वीकार करते हैं । उक्त सन्देह के स्थल में धूम में वह्निव्याप्यभेद का संशयात्मक ज्ञान विद्यमान है । इस कारण व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान भेदज्ञानाभाव से सहकृत नहीं हो रहे हैं [९]। अतः यहाँ पर अनुमिति की आपत्ति नहीं दी जा सकती है

कुछ और प्रश्न नैयायिक के ऊपर उठाये जा सकते हैं १) इन्द्रिय से सन्निकृष्ट प्रत्यक्षयोग्य हेतु में संस्कारवश उत्पन्न व्याप्तिविषयक स्मृति तथा इन्द्रिय के समाहार से व्याप्य के साथ पक्षधर्म का अभेदग्रह ही परामर्श का उपपादन करने के लिए मानना पड़ेगा । तो योग्येन्द्रियसन्निकृष्ट पक्ष में संस्कार से उत्पन्न साध्यविषयक स्मृति तथा इन्द्रिय के समाहार से साध्यवत् का अभेदग्रह भी हो जाये अनुमिति की भी क्या आवश्यकता है[१०] । २) नैयायिक से यह भी पूछा जा सकता है कि प्राचीन इन्द्रियसन्निकर्ष आदि कारणों के रहने पर भी दुबारा परामर्श की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है । सामग्री का सद्भाव तो समान है । यह तो आप भी मानते हैं कि प्रत्यक्षसामग्री अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है । तो परामर्श की जो सामग्री है वह अनुमिति की प्रतिबन्धक हो जायेगी । अतः परामर्श की सत्ता स्वीकारने पर अनुमिति की सत्ता ही खतरे में पड़ जायेगी । नैयायिक का समाधान यहाँ पर यही होता है कि समानविषयकप्रत्यक्षसामग्री अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है तथा भिन्नविषयक अनुमितिसामग्री प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक

होती है । सामान्य रूप से यह नियम नहीं है कि प्रत्यक्षसामग्री ही अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है । तो पक्षतापरिच्छेदात्मक सहकारिसम्पत्ति से यहाँ पर अनुमितिसामग्री प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक होती है । परन्तु प्रश्न यह फिर से उठ खड़ा होता है कि अगर पक्षतापरिच्छेदात्मक सहकारिसम्पत्ति से अनुमितिसामग्री प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धक होती है तो परामर्शात्मक प्रत्यक्ष के प्रति भी अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धक हो जायेगी । अतः परामर्श की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं हो सकेगी क्योंकि व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान मिलकर अनुमितिसामग्री बनते हैं [११]।

इस पर मणिकण्ठ मिश्र का कथन है कि अगर भेदाभावसहकृतज्ञानद्वय से ही अनुमिति रूपी कार्य की उत्पत्ति आपको अभीष्ट है तो प्रत्यभिज्ञा का स्वीकार भी आप नहीं कर पायेंगे । वहाँ पर भी तत्ताविषयक स्मृति तथा इदन्ताविषयक अनुभव के द्वारा ही प्रत्यभिज्ञाजन्य कार्य का सम्पादन सम्भव है [१२]। अब हम मणिकण्ठ मिश्र के इस समाधान पर विचार करें तो पाते हैं कि यह समाधान तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है क्योंकि यह आपत्ति मीमांसकों पर तो लगती है परन्तु परामर्श की सत्ता का व्यवस्थापन इसके द्वारा तो सम्भव दिखायी नहीं देता है क्योंकि हमारे प्रतिपक्षी तो बौद्ध भी हैं वे तो प्रत्यभिज्ञा का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते हैं । हमारा परामर्श साधन के लिए किया गया प्रयोग उन पर लागू नहीं हो सकेगा । अनुमिति को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है इस पर भी मणिकण्ठ मिश्र का उत्तर बहुत ही निर्बल है । हम उस पर निर्भर नहीं कर सकते हैं । इस विषय पर एक लम्बा विवाद न्यायपरम्परा में चला है तथा अभी भी असका सर्वसम्मत उत्तर प्राप्त हो सका है मुझे इसमें पर्याप्त सन्देह है। अन्ततः मणिकण्ठ मिश्र यही व्यवस्थापित करते हैं कि प्रत्यक्षात्मक परामर्श की सत्ता स्वीकार करनी अनिवार्य है ।

मणिकण्ठ के समकालीन या कुछ पूर्वापरकालीन शशधर भी इस विषय पर **न्यायसिद्धान्तदीप** में विस्तार से चर्चा करते हैं तथा उपर्युक्त प्रश्नों को ही थोड़े विस्तार तथा परिष्कार के साथ उठाते हैं । मैं यहाँ पर उन प्रश्नों पर ज़्यादा विचार न करते हुए केवल उनके समाधानों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ क्योंकि पूर्वपक्ष के रूप में वे प्रश्न सङ्क्षेप में ही सही उठाये जा चुके हैं । शशधर अपने समाधान की शुरुआत इस तरह से करते हैं कि व्याप्तिस्मरण के उपरान्त सामान्यतया किसी रूप में धूमविशिष्टपर्वत का ज्ञान होने से अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है । तो इसमें सवाल ये है कि व्याप्तिस्मरण के उपरान्त सामान्यतया किसी रूप में धूमविशिष्टपर्वत का ज्ञान होने से

अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है तो किस कारण नहीं होती है ? क्या उक्त ज्ञान के धूमत्वप्रकारक न होने के कारण वह्नि की अनुमिति नहीं होती है अथवा उक्त ज्ञान के तद्व्याप्यत्वप्रकारक न होने के कारण वह्नि की अनुमिति नहीं होती है । अगर यहाँ पर धूमत्वप्रकारक न होने के कारण वह्नि की अनुमिति नहीं होती है ऐसा माना जाये तो इसमें गौरव होगा । इस कारण यही मानना उचित है कि तद्व्याप्यत्वप्रकारक न होने के कारण उससे अनुमिति नहीं होती है क्योंकि ऐसा स्वीकार कर लेने में लाघव है [१३]। अब यदि ऐसा माना गया तो ये मानना अनिवार्य हो जाता है कि अनुमिति का प्रयोजक तत्तद्व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान ही होता है । इस कारण अनुमिति के पूर्व में तत्तद्व्याप्यत्व-प्रकारकज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है । अब अगर आप परामर्श का स्वीकार न करना चाहें तो तत्तद्व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान सम्भव नहीं हो पायेगा । इस कारण अनुमिति के उपपादन के लिए तत्तद्व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान अर्थात् परामर्श का स्वीकार करना ही पड़ेगा । ज्ञानान्तर से उपनीत धूम में परामर्श की उत्पत्ति में ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति से मन ही कारण हुआ करता है [१४]। अनुमिति का प्रत्यक्ष से निर्वाह न हो पाने का भी शशधर ज़िक्र करते हैं । उनका कथन है कि ज्ञानान्तरोपनीत भान में अनुमिति का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में अतिप्रसङ्ग हो जायेगा[१५] ,अतिप्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि व्यभिचारी हेतु से भी साध्य का भान ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति से सम्भव है । इस विषय पर रघुनाथ शिरोमणि ने विस्तार के साथ परामर्श प्रकरण में विचार किया है । इसको वहीं पर देख लेना चाहिए । धूमादिव्याप्यत्वप्रकारक ज्ञान अनुमिति के प्रति कारण हुआ करता है इसमें शशधर कुछ और युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं । एक युक्ति यह है कि जिसका संशय जिसका प्रतिबन्धक होता है उसका निश्चय उसके प्रति कारण होता है [१६]। अगर पक्षधर्म के व्याप्यत्व का संशय हो तो अनुमिति नहीं होती है । अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पक्षधर्म के व्याप्यत्व का निश्चय अनुमिति में कारण होता है । इसके अतिरिक्त "*पर्वतो वह्निव्याप्यवान्*" ऐसा शाब्दबोधात्मक निश्चय होने पर अनुमिति का होना अनुभवगम्य है[१७] । अगर परामर्श अनुमिति के प्रति कारण नहीं होता है तो "*पर्वतो वह्निव्याप्यवान्*" ऐसा शाब्दबोधात्मक निश्चय होने पर अनुमिति नहीं होनी चाहिए । इस कारण व्याप्यत्वप्रकारक ज्ञान को यानी परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानना अनिवार्य हो जाता है । यहाँ पर यह कहना सम्भव नहीं है कि उक्त स्थल में व्याप्यत्व ही व्याप्ति का अवच्छेदक बनकर भासित होता है क्योंकि वह्निव्याप्यवत् होता है वह वह्निमत् होता है ऐसी अतिरिक्त

व्याप्ति का भान उपर्युक्त स्थल में होता नहीं है । अगर आप उक्त स्थल में व्याप्यत्व ही व्याप्ति का अवच्छेदक बनकर भासित होता है ऐसा मानते हैं तो हर जगह पर ऐसा मान लेना सम्भव है ।

गङ्गेशोपाध्याय ने मणिकण्ठ मिश्र तथा शशधर के द्वारा उठाये गये पक्षों की समालोचना के उपरान्त अपना मत प्रस्तुत किया है , जो कि इन दोनों के मतों से बहुत अलग नहीं दिखायी देता । गङ्गेशोपाध्याय ने कुछेक स्वोपज्ञ पूर्वपक्ष भी प्रस्तुत किये हैं। वे पूर्वपक्षी के मत को पहले भरपूर मज़बूती से उठाते हैं तथा तदनन्तर उसका खण्डन करते हैं। गङ्गेशोपाध्याय की युक्तियाँ ज्यादा परिष्कृत तथा समाधान ज्यादा सुविचारित है। शशधर की युक्तियों की भी गङ्गेशोपाध्याय ने प्रखर आलोचना की है। शशधर की इस युक्ति का कि "*जिसका संशय जिसका प्रतिबन्धक होता है उसका निश्चय उसके प्रति कारण होता है*" गङ्गेश ने खण्डन कर दिया है । गङ्गेश शशधर के मत को ज्यादा व्यवस्थित तरीके से उठाते हैं तथा कहते हैं कि जिसका व्यतिरेकज्ञान जिसकी उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है वह उसके निश्चय से साध्य होता है चूँकि पक्षधर्म का व्याप्यभेदज्ञान अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होता है अतः व्याप्याभेदज्ञान अनुमिति के प्रति कारण होगा। (ध्येय है कि शशधर ने व्यतिरेकज्ञान पद का प्रयोग नहीं किया था अपितु संशय पद का प्रयोग किया था)इस तरह परामर्श की अनुमिति के प्रति कारणता लब्ध हो जाती है। अगर ऐसा कहा जाये तो यह अनुचित है क्योंकि व्याप्यभेदज्ञान अनुमिति के प्रति कारण ही नहीं होता है । ऐसा इस कारण क्योंकि धूमत्वेन व्याप्तिस्मरण तथा पक्षधर्मताज्ञान दोनों ही अगर हैं तो विशेषदर्शन रहने के कारण धूम में व्याप्यभेदज्ञान हो ही नहीं सकता है। किन्तु अनुमिति की सामग्री रहने के कारण अनुमिति की उत्पत्ति ही होती है । तो परामर्शसाधन के लिए उपर्युक्त युक्ति ठीक नहीं है[१८]। और अगर आप सोचते हैं कि उपर्युक्त स्थल में संशय सम्भव है तो ठीक है व्याप्यतया तथा पक्षधर्मतया अवगत का भेदाग्रह ही अनुमिति के प्रति कारण माना जा सकता है [१९]। परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानने की तो फिर भी कोई ज़रूरत दिखलायी नहीं देती है ।

इसके बाद गङ्गेशोपाध्याय अपने मत से परामर्शसाधन की युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि अगर "*अयमालोको धूमो वा उभयथापि वह्निव्याप्यः*" यह चाहे आलोक हो अथवा धूम हो दोनों ही स्थितियों में पर्वत में वह्नि का व्याप्य है ही , इस तरह का ज्ञान हो तो अनुमिति होती है यह अनुभवसिद्ध है। यह अनुमिति परामर्श की कारणता अनुमिति के प्रति स्वीकार किये विना नहीं सम्भव है। आप अनुमिति के प्रति

व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को कारण मानते हैं , यहाँ पर व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान तो है ही नहीं । ऐसा इस कारण है क्योंकि व्याप्ति आलोक तथा वह्नि दोनों में रहनेवाली है परन्तु आलोकत्व व धूमत्व क्रमशः आलोक व धूम में ही रहते हैं । न तो आलोकत्व और न ही धूमत्व आलोक तथा वह्नि दोनों में रहते हैं । अतः व्याप्ति का अवच्छेदक न तो धूमत्व ही हो सकता है और न ही आलोकत्व । तो यहाँ पर व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान नहीं है । अतः परामर्श का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसको अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए[२०] । उक्त स्थल में भी व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान अर्थात् परामर्श तो है ही । इस कारण अनुमिति की उत्पत्ति में कोई भी असुविधा नहीं होती है । यहाँ पर यह कहना सम्भव नहीं है कि उक्त स्थल में धूमालोकान्यतरत्व ही व्याप्यतावच्छेदक होता है क्योंकि आलोक की वह्नि के साथ पृथक् व्याप्ति है तथा धूम की वह्नि के साथ पृथक् व्याप्ति है । धूमालोकान्यतरत्व को व्याप्यतावच्छेदक बनाने में मुश्किल यह है कि यह व्यर्थविशेषणयुक्त होने के कारण व्याप्यत्वासिद्ध हो जाता है । दूसरी बात यह है कि इसमें गौरव भी होगा क्योंकि धूमालोकान्यतरत्व के स्वरूप का विचार करें तो धूमभेद तथा आलोकभेद से अवच्छिन्नप्रतियोगिताक भेद ही धूमालोकान्यतरत्व है । तो इसके अन्तर्गत संसार की समस्त वस्तुएँ आ जाती हैं । इस कारण यह कहना कि धूमालोकान्यतरत्व ही व्याप्यतावच्छेदक होता है तथा उक्त स्थल में व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान विद्यमान है , गलत हो जाता है[२१]।

गङ्गेश की परामर्शसाधक दूसरी युक्ति यह है कि "*पर्वतो वह्निव्याप्यवान्*" इस तरह के शाब्दज्ञान के रहने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति देखी जाती है[२२] । यहाँ पर भी व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान विद्यमान नहीं है क्योंकि वह्नि का व्याप्य यहां पर क्या है यह पता ही नहीं चलता है । व्याप्यतावच्छेदक या तो आलोकत्व हो सकता है या तो धूमत्व । परन्तु यहाँ पर न तो आलोकत्व का ज्ञान है तथा न ही धूमत्व का ही भान है वह्निव्याप्यत्व को तो व्याप्यता का अवच्छेदक माना नहीं जा सकता है । इसका मतलब हुआ कि यहाँ पर व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान विद्यमान नहीं है । परन्तु व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान अर्थात् परामर्श तो है ही । अतः अनुमिति की उत्पत्ति हो सकती है । अतः परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए ।

गङ्गेश की परामर्शसाधक तीसरी युक्ति यह है कि जहाँ पर धूमत्व तथा व्याप्यत्व का वैशिष्ट्य एक साथ ही प्रत्यक्ष से धूम में भासित होता है , वहाँ पर व्याप्यत्वप्रकारक ज्ञान को ही अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित है क्योंकि उसमें लाघव है । ऐसी

स्थिति में व्याप्यत्वप्रकारकज्ञान अर्थात् परामर्श काअनुमिति के प्रति कारणत्व लब्ध हो जाता है । इस तरह परामर्श का अस्तित्व तथा अनुमिति के प्रति कारण मानना ही उचित दिखलायी पड़ता है[२३] ।

परामर्श का अस्तित्व स्वीकार कर लेने पर हर जगह पर परामर्श की कल्पना करनी पड़ेगी जहाँ पर परामर्श अनुभव में भी नहीं आता है । यह एक गौरव परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानने पर अवश्य होगा । इस गौरव के विषय में गङ्गेश कहते हैं कि यह गौरव दोषावह नहीं है क्योंकि यह सप्रमाणक है । दूसरी बात यह है कि कारणताग्रह की दशा में फलमुख गौरव दोषजनक नहीं होता है क्योंकि सिद्धि तथा असिद्धि दोनों ही दशाओं में यह व्याहत होता है [२४]।

सन्दर्भसूची

१.तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनञ्चाभिसम्बध्यते , लिङ्ग-लिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गिस्मृतिरभिसम्बध्यते , स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थो ऽनुमीयते । पृ. २८, न्यायभाष्य (न्यायदर्शन, सुनन्दाहिन्दीटीकासहित)

२.नन्वेवं द्वितीयो लिङ्गपरामर्शो न लभ्यते ? मा लम्भि न हि नस्तेन प्रयोजनम् , लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणाभ्यामेवानुमेयप्रतीत्युपपत्तेः । पृ.४९१ , न्यायकन्दली

३.यदापि विग्रहः ते द्वे पूर्वे यस्येति , ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति । कतरे द्वे प्रत्यक्षे ? लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम् , लिङ्गदर्शनञ्च द्वितीयम् । बुभुत्सावतो द्वितीयात् लिङ्गदर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्यनन्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति । तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वापराभङ्ग्यामुगृह्यमाणं लिङ्गपरामर्शरूपमनुमानं भवति । पृ.२९२, न्यायवार्तिक

४.विनश्यदवस्थस्य द्वितीयलिङ्गदर्शनस्य व्याप्तिस्मरणेन सह यौगपद्येऽपि तयोः परस्परवार्ता-नभिज्ञतया मिथो घटनायोगः । न चात्मा ते घटयतीति युक्तं , वृत्त्या खल्वयं घटयेत् न तु स्वरूपतः । तस्मादुभाभ्यामुत्पन्नं परामर्शज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं तृतीयमेषितव्यम् ।
पृ.३०४ , तात्पर्यटीका

५.न हि व्याप्तिस्मरणमात्रादनुमितिः नापि लिङ्गदर्शनमात्रात् । किं तर्हि ?व्याप्तिविशिष्टलिङ्ग-दर्शनात् । न च व्याप्तिविशिष्टं लिङ्गमेकैकस्योभयस्य वा गोचरः, किन्तु स्वतन्त्रमुभय-मुभयस्य । न च स्वतन्त्रोभयज्ञानेऽपि विशिष्टं ज्ञानं भवति । पृ.३३२ , तात्पर्यपरिशुद्धिः

६.ननु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारेण व्याप्तिस्मरणं पक्षधर्मताज्ञानं तथा, लाघवात् , परामर्श-हेतुत्वेनावश्यकत्वाच्च । पृ.११७७, त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

७.अथ किं व्याप्तिपक्षधर्मताविषयकं ज्ञानद्वयमनुमितिजनकम् ? उतैकमेव ज्ञानम् ? तदपि किं समूहालम्बनरूपम् ? उत विशिष्टवैशिष्ट्यविषयमिति निरूप्यते । तत्र व्याप्तिज्ञानपक्षधर्मताज्ञानाभ्यामेवानुमितिसम्भवे किमिति विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञानान्तरमङ्गीकर्तव्यम् ? भवतोऽपि तयोरङ्गीकर्तव्यत्वात् । कथमन्यथा तृतीयलिङ्गपरामर्शस्योत्पत्तिः ? विशेषणज्ञानजन्यत्वात्तस्य।

पृ.११६-११७ , न्यायरत्न

८.ननु ज्ञानद्वयकारणतापक्षे पक्षवृत्तिर्धूमो वह्निव्याप्यो नवेति सन्देहेऽप्यनुमितिरुत्पद्येत । मम तु विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानाभावादेव तन्निवृत्तिरिति चेत् , न । विनश्यदविनश्यदवस्थव्याप्तिज्ञानपक्षधर्मताज्ञानाभ्यामनुमितिरित्यस्माभिरङ्गीक्रियते । अन्तरा सन्देहे सति तयोरेव निवृत्त्या कुतोऽनुमितिः ?

पृ.११७-११८ , न्यायरत्न

९.यद्वा यदि सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहः , तदा सर्वैव वह्निव्यक्तिर्वह्निव्याप्या इति ज्ञाने विद्यमाने इयं धूमव्यक्तिर्वह्निव्याप्या न वेति कथं सन्देहः ? भवतु वा तथाप्येतादृशभेदज्ञानाभावसहकृतज्ञानद्वयादेवानुमितिः ।

पृ.११८ , न्यायरत्न

१०.अपि च योग्येन्द्रियसम्बद्धे हेतौ संस्कारजज्ञानेन्द्रियसमाहारात् व्याप्येन सह पक्षधर्मस्याभेदग्रहो वाच्यः । तथा च पक्षस्यापि साध्यवदभेदग्रहस्तत एवास्तु । किमनुमानेन ?

पृ.११८ , न्यायरत्न

११.किञ्च प्राचीनेन्द्रियसन्निकर्षादिकारणानुवृत्तौ परामर्शान्तरं किं नोत्पद्यते ? सामग्र्याः पूर्ववत् सद्भावाविशेषात् । पक्षधर्मतापरिच्छेदात्मकसहकारिसम्पत्त्यानुमितिसामग्र्याः स्फीतत्वात्तया प्रतिबन्धादिति चेत् , न , वैपरीत्यस्यापि सम्भवात् । कार्यदर्शनबलात् दृष्टकार्यसामग्रीप्रतिबन्धकत्वमेव कल्प्यत इति चेत् , परामर्शकाल एव तर्ह्यनुमितिरस्तु । एतत् सामग्रीबलवत्त्वस्य त्वयैव क्लृप्तत्वात् ।

पृ.११८-११९ , न्यायरत्न

१२.उच्यते यदि भेदज्ञानाभावसहकृतज्ञानद्वयादेवानुमितिलक्षणं कार्यं जनयितव्यं तदा प्रत्यभिज्ञायामप्येवमस्तु । तत्रापि तत्तेदन्ताविषयस्मृत्यनुभवाभ्यामेव प्रत्यभिज्ञाजन्यकार्यस्योत्पत्तिसम्भवात् किमिति प्रत्यभिज्ञानमङ्गीकर्तव्यम् ।

पृ.११९-१२० , न्यायरत्न

१३.व्याप्तिस्मरणानन्तरं किञ्चित्त्वादिना रूपेण धूमविशिष्टपर्वतज्ञानात् वह्निर्नानुमीयत इत्यविवादम् । तत्र किं धूमत्वप्रकारकत्वव्यतिरेकाद् वा कार्यव्यतिरेकः कल्प्यताम् , तद्व्याप्यत्वप्रकारकत्वव्यतिरेकाद् वा । तत्र प्रथमस्य गौरवकरत्वात् , द्वितीयस्य व्याप्तिज्ञाने स्वीकारात् लघुत्वाच्च द्वितीय एव ज्यायान् ।

पृ.६२ , न्यायसिद्धान्तदीप

१४.ज्ञानान्तरोपनीते धूमे संयुक्तसमवेतसमवायलक्षणया प्रत्यासत्त्या ज्ञानरूपया मन एव तत्र कारणम् ।

पृ.६३ , न्यायसिद्धान्तदीप

१५.न चैवमनुमित्युच्छेदः सर्वत्र ज्ञानान्तरेपनीतस्य वह्नेर्भानसम्भवादिति वाच्यम् । न हि ज्ञानान्तरोपनीते भानेऽनुमितिव्यवहारोऽतिप्रसङ्गात् ।   पृ.६३ , न्यायसिद्धान्तदीप

१६.किञ्च यत्संशयो यत्प्रतिबन्धको भवति तन्निश्चयस्तस्य कारणं भवतीति सामान्यतः सिद्धम् । अत्रापि पक्षधर्मस्य व्याप्यत्वसन्देहादनुमितिर्नोत्पद्यते इत्यवश्यं तत्र पक्षधर्मस्य व्याप्यत्वप्रकारकनिश्चयः कारणं वक्तव्यमिति ।   पृ.६४ , न्यायसिद्धान्तदीप

१७.किञ्च पर्वतो वह्निव्याप्यवानयमिति शाब्दज्ञानान्तरं वह्न्यनुमितिरुत्पद्यते इत्यविवादम्
पृ.६४ , न्यायसिद्धान्तदीप

१८.अथ यद्व्यतिरेकज्ञानं यदुत्पत्तिप्रतिबन्धकं तत् तन्निश्चयसाध्यम् , तथा च पक्षधर्मस्य व्याप्यभेदज्ञानमनुमितिप्रतिबन्धकम् , अतो व्याप्याभेदज्ञानं तद्धेतुः सिध्यतीति चेन्न । धूमत्व-पुरस्कारेण व्याप्तिस्मरणपक्षधर्मताज्ञाने सति विशेषदर्शनान्न धूमे व्याप्यभेदज्ञानम् । किन्त्वनुमितेरेव तत्रोत्पत्तिः तत्सामग्रीसत्त्वात् । अतो न व्याप्यभेदज्ञानम् अनुमितिप्रतिबन्धकं येन व्याप्याभेदज्ञानं तद्धेतुः स्यात् ।   पृ.१२०९-१२१०, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

१९.अस्तु वा व्याप्यतया पक्षधर्मतया चावगतस्य भेदाग्रह एवानुमितिहेतुः , परामर्शहेतुतया तस्यावश्यकत्वात् ।   पृ.१२११ , त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२०.अत्रोच्यते , अयमालोको धूमो वा उभयथापि वह्निव्याप्य इति ज्ञानं ततोऽनुमितिः । न च धूमत्वेनालोकत्वेन वा तत्र निश्चयः । पृ.१२०९-१२१०, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२१.नहि धूमालोकान्यान्यत्वं धूमान्यान्यत्वं वा व्याप्यतावच्छेदकं गौरवात् व्यभिचारा-वारकविशेषणवत्त्वाच्च । किन्तु धूमत्वादिकं तच्च सन्दिग्धमेव ।
पृ.१२१६, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२२..किञ्च वह्निव्याप्यवानयमिति शाब्दज्ञाने व्याप्यत्वज्ञानं कारणमित्यन्यत्रापि तथा ।
पृ.१२२२, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

२३.अपि च यत्र धूमत्वव्याप्त्योर्वैशिष्ट्यं प्रथममेव प्रत्यक्षेण युगपत् पक्षधर्मे भासते तत्र लाघवात् व्याप्यत्वज्ञानमेव कारणतावच्छेदकम् । पृ.१२२८-१२२९, त.चि.(अनु.गादा.)

२४.न चैवमतिरिक्तविशिष्टज्ञानकारणत्वे गौरवं दोषाय , सप्रमाणकत्वात् ,कारणताग्रहदशायां फलमुखगौरवस्य सिद्ध्यसिद्धिभ्यामदोषत्वात् । पृ.१२२९, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

***

८

साध्य , हेतु तथा हेतु के रूप

प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में साध्य तथा हेतु पदों का प्रयोग बहुत कम ही उपलब्ध होता है । इसकी जगह पर वहाँ लिङ्ग तथा लिङ्गी पदों का प्रयोग मिलता है । प्रतिज्ञा लक्षणसूत्र "*साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा*" न्यायसूत्र १-१-३३ पर भाष्यकार जैसी व्याख्या करते हैं उससे साध्य पद का अर्थ अभी प्रचलित अर्थों के अनुरूप न होकर पक्ष के आशय से साध्य पद का प्रयोग पता चलता है। वहाँ पर वात्स्यायन कहते हैं कि प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी को साध्य कहा जाता है तथा प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का जो परिग्रहवचन है , वही है साध्य का निर्देश तथा उसको ही प्रतिज्ञा कहते हैं [१]। **न्यायवार्तिक** में उद्योतकर इस पर प्रश्न खड़ा करते हैं कि आप प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी को साध्य कह रहे हैं अगर धर्मी प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट है तब तो वह सिद्ध हो गया , सिद्ध तो साध्य नहीं होता है। फिर आप उसको साध्य कैसे कह रहे हैं ? इस तरह से प्रश्न उठाकर उद्योतकर उसका समाधान करते हैं कि यह तो ठीक ही है कि प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी सिद्ध है परन्तु अगर आप ध्यान से विचार करें तो पायेंगे कि वस्तुतः केवल धर्मी ही सिद्ध है प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी सिद्ध नहीं है। इस कारण प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्य हो सकता है तथा इसी आशय से वात्स्यायन ने प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी को साध्य बताया है [२]। इस तरह हम पाते हैं कि प्राचीन न्याय में प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी को साध्य कहा जाता रहा है परन्तु परवर्ती काल में साध्य पद से प्रज्ञापनीय धर्ममात्र को साध्य कहा जाने लगा। जो धर्म साधनीय है , नव्य न्याय में उस धर्म को ही साध्य कहा जाता है । हेतु पद से उसको जाना जाता है जो कि प्रज्ञापनीय धर्म को सिद्ध कर सके । यह पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि वही हेतु साध्य को सिद्ध कर पाने में सक्षम होता है जिसमें कि व्याप्ति तथा पक्षधर्मता दोनों ही रहें। हेतु में रहनेवाली व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञापक होनेवाले तथा इस तरह हेतु की साध्यसाधनता के गमक होनेवाले पाँच तत्त्व हैं जिनको कि हेतु के पाँच रूप कहा जाता है। इनमें से अगर कोई भी रूप न रहे तो हेतु की सामर्थ्य नहीं रहती है कि वह साध्य को सिद्ध कर सके । इसी कारण ही अनेक नैयायिकों का कथन है कि पञ्चरूपोपपन्न ही हेतु साध्य का अनुमापक होता है [३]।

पञ्चरूपोपपन्नत्व

जिन पाँच रूपों से उपपन्न होकर हेतु साध्य को सिद्ध कर पाने में सक्षम होता है वे पाँच रूप हैं- १)पक्षसत्त्व २)सपक्षसत्त्व ३)विपक्षासत्त्व ४)अबाधितत्व व ५)असत्प्रतिपक्षितत्व[४] । इन पाँचों रूपों से उपपन्न होकर ही हेतु साध्य के सिद्ध कर पाता है । पक्षसत्त्व का आशय है कि हेतु पक्ष में रहे । अर्थात् हेतु को पक्ष में रहना ही चाहिए सपक्षसत्त्व का आशय यह है कि हेतु सपक्ष में रहे । विपक्षासत्त्व का आशय यह है कि हेतु विपक्ष में न रहे । पक्ष , सपक्ष तथा विपक्ष पदों के अर्थ तो प्रायशः सुस्पष्ट ही हैं पक्ष पद का आशय उस धर्मी से है जहाँ पर कि साध्य को सिद्ध करना अभीष्ट है । सपक्ष पद का आशय उस धर्मी से है जहाँ पर साध्य का रहना निश्चित हो । विपक्ष पद का आशय इसके विपरीत उस धर्मी से है जहाँ पर साध्य का न रहना निश्चित हो । अबाधितत्व का आशय यह है कि जहाँ पर साध्य बाधित न हो वहाँ पर आप साध्य को सिद्ध कर रहे हों । अर्थात् आप किसी ऐसे धर्मी को पक्ष न बनायें जहाँ पर साध्य का न रहना ही निश्चित हो । अगर आप किसी ऐसे धर्मी को पक्ष बनाते हैं जहाँ पर साध्य का न रहना ही निश्चित हो तो ऐसी स्थिति में हेतु में अबाधितत्व न रहने से हेतु की यह सामर्थ्य ही नहीं है कि वह साध्य को सिद्ध कर पाये । असत्प्रतिपक्षितत्व का आशय यह है कि जिस साध्य को सिद्ध करने के लिए आप हेतु का प्रयोग कर रहे हैं अगर उसी साध्य के अभाव को सिद्ध करने के लिए कोई प्रतिपक्ष है कोई विरोधी हेतु है तो ऐसा हेतु सत्प्रतिपक्षित होने के कारण साध्य को सिद्ध कर पाने में अक्षम हो जाता है । यद्यपि यह हर जगह पर सम्भव है कि साध्याभाव को सिद्ध करने के लिए किसी विपक्षी हेतु का प्रयोग कर दिया जाये , परन्तु केवल इससे ही हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं हो जायेगा । जैसा कि **सर्वदर्शनसङ्ग्रह** में माधवाचार्य ने एक जगह पर कहा है कि सिंह का प्रतिपक्ष सिंह ही हो सकता है हिरन का बच्चा नहीं "*न हि कठोरकण्ठीरवस्य कुरङ्गशावः प्रतिभटो भवति*" तो हर स्थल में कोई विपक्षी अनुमान प्रस्तुत कर पाना सम्भव भले ही हो परन्तु उससे हेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं होता है । हेतु तभी सत्प्रतिपक्षित हो सकता है अगर वह विपक्षी अनुमान समुचित तर्कबल से सम्पन्न हो । उदाहरण के माध्यम से इसको देखते हैं – "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर धूम हेतु इन उपर्युक्त पाँच रूपों से उपपन्न है क्योंकि यह धूम हेतु पक्ष में पर्वत में भी रहता है , जहाँ पर वह्नि का रहना सुनिश्चित है ऐसे महानस आदि में भी रहता ही है । साथ ही जहाँ पर वह्नि का न रहना निश्चित है ऐसे जलहृद आदि में धूम नहीं रहता है । इस तरह हम पाते हैं

कि धूम में पक्षसत्त्व , सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व विद्यमान हैं । इसके अतिरिक्त जहाँ पर पर्वत में हम वह्नि को सिद्ध करना चाह रहे हैं वहाँ पर वह्नि का न रहना निश्चित नहीं है , पर्वत में वह्नि का अभाव निश्चित नहीं है । अतः धूम हेतु बाधित भी नहीं होता है । इस तरह धूम में अबाधितत्व भी है । उक्त अनुमान के स्थल में वह्न्यभाव के साधन के लिए कोई द्वितीय हेतु भी प्रस्तुत नहीं किया गया है , इस कारण धूम हेतु सत्प्रतिपक्षित भी नहीं है । इस तरह धूम हेतु पाँचों ही रूपों से उपपन्न है और वह्नि के साधन में समर्थ होता है । अगर हम वह्नि को हेतु बनाकर धूम को सिद्ध करना चाहें तो वह्नि हेतु पाँचों रूपों से उपपन्न नहीं होता है और इस कारण धूम के साधन में समर्थ नहीं होता है । वह्नि में विपक्षासत्त्व नहीं है क्योंकि वह्नि धूमाभाव के निश्चत अधिकरण अयोगोलक (लोहे के तपाये हुए गोले) में भी रहता है । लोहे के तप्त गोले में वह्नि तो है ही , परन्तु वहाँ पर धूम नहीं रहा करता है । इस तरह हेतु वह्नि में पञ्चरूपोपन्नत्व नहीं है । अतः यह हेतु साध्य धूम के साधन में सक्षम नहीं होता है । इसी तरह से अन्य स्थलों में भी अगर हेतु पञ्चरूपोपन्न है तो वह साध्य के साधन में सक्षम होता है परन्तु अगर हेतु पञ्चरूपोपन्न नहीं है तो वह साध्य के साधन में सक्षम नहीं होता है । इस कारण हेतु का पञ्चरूपों से उपपन्न होना अनिवार्य हो जाता है । परन्तु यहीं पर यह सवाल भी उठता है कि क्या समस्त हेतु पञ्चरूपोपन्न होते हैं? अब हम ध्यान से विचार करें तो पाते हैं कि अनुमान का त्रैविध्य नैयायिकों को स्वीकार करना है । वे तीन भेद हैं केवलान्वयी , केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी । इन पाँचों रूपों से अन्वयव्यतिरेकी हेतु तो उपपन्न हो सकता है परन्तु केवलान्वयी व केवलव्यतिरेकी हेतु इन पाँचों रूपों से उपपन्न नहीं हो सकता है । इसका कारण यह है कि केवलान्वयी हेतु में विपक्षासत्त्व नहीं मिल पायेगा तथा केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं मिल पायेगा । ऐसा इस कारण क्योंकि जो हेतु केवलान्वयी है उस हेतु में विपक्ष ही अप्रसिद्ध होगा । आख़िर जिस साध्य का अभाव नहीं मिलता हो उस साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हेतु को ही तो केवलान्वयी हेतु कहा जाता है । अगर विपक्ष प्रसिद्ध ही नहीं है तो आप यह नहीं कह सकते हैं कि अमुक हेतु विपक्ष में नहीं रहता है । अगर विपक्ष प्रसिद्ध ही है नहीं तो अमुक हेतु विपक्ष में नहीं रहता है इस कथन का कोई मानी नहीं है । यह कथन निरर्थक है । सीधी सी बात है कि विपक्षासत्त्व का मतलब है विपक्षसत्त्व का अभाव । अभाव वही गृहीत या प्रतीत हो सकता है जिसका कि प्रतियोगी प्रसिद्ध हो । नैयायिक के लिए खरगोश का सींग नहीं है इस कथन

का आशय यह नहीं है कि खरगोश का सींग नहीं होता है अपितु इस कथन का आशय यह है कि खरगोश को सींग नहीं होता है । अर्थात् यहाँ पर हम अभाव खरगोश के सींग का नहीं लेते हैं क्योंकि खरगोश का सींग तो प्रसिद्ध ही नहीं होता है । इस अभाव का प्रतियोगी खरगोश का सींग नहीं होता है अपितु इस अभाव का प्रतियोगी सींग होता है और उस अभाव का अनुयोगी होता है खरगोश। तो विपक्षसत्त्व अगर कहीं पर प्रसिद्ध हो तो विपक्षसत्त्व का अभाव लिया जा सकता है । परन्तु केवलान्वयी हेतु के स्थल में विपक्षसत्त्व ही प्रसिद्ध नहीं होता है तो विपक्षासत्त्व किस तरह से प्रसिद्ध हो पायेगा ? इस तरह केवलान्वयी हेतु में विपक्षासत्त्व नहीं मिल पायेगा तथा इस तरह से हेतु पञ्चरूपों से उपपन्न नहीं होगा । परन्तु नैयायिक केवलान्वयी हेतु से साध्य का अनुमान स्वीकार करते हैं । ठीक इसी तरह से केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं मिल सकेगा क्योंकि केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्ष ही नहीं रहता है तो सपक्षसत्त्व किस तरह से उपलब्ध हो पायेगा ? तो यह यक्षप्रश्न उपस्थित होता है कि केवलान्वयी हेतु तथा केवलव्यतिरेकी हेतु में जब पञ्चरूपोपपन्नत्व नहीं है तो वे किस तरह से साध्य के अनुमापक हो सकेंगे ? यदि केवलान्वयी हेतु तथा केवलव्यतिरेकी हेतु में क्रमशः विपक्षासत्त्व व सपक्षसत्त्व न होने से पञ्चरूपोपपन्नत्व नहीं होने पर भी वे अनुमापक हो सकते हैं तो अन्य किसी रूप से पक्षसत्त्व , अबाधितत्व या असत्प्रतिपक्षितत्व से हीन होने पर भी हेतु अनुमापक क्यों नहीं हो जाता है ? इस सवाल का जवाब गङ्गेशोपाध्याय यह देते हैं कि अगर अन्वयव्याप्ति का निश्चय हो तो भी और अगर व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय हो तो भी दोनों ही परिस्थितियों में अनुमिति का अनुभव होता है । अब यदि किसी स्थल में एक साथ दोनों ही व्याप्तियों की उपस्थिति हो जाये तो प्रश्न यह है कि उस स्थल में होनेवाली अनुमिति के प्रति किस व्याप्ति को प्रयोजक समाना जाये । यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि उस स्थल में होनेवाली अनुमिति का प्रयोजक अन्वयव्याप्ति का ज्ञान होता है और यह कहना भी समुचित नहीं होगा कि उस स्थल में होनेवाली अनुमिति का प्रयोजक व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान होता है क्योंकि इसमें एक पक्ष को स्वीकार करने के लिए कोई युक्ति नहीं है । तो अनिवार्यतया ऐसी स्थिति में दोनों ही व्याप्तियों के ज्ञान को अनुमिति का प्रयोजक मानना ही समुचित जान पड़ता है । यदि दोनों ही व्याप्तिज्ञानों को अनुमिति का प्रयोजक मान लिया जाये जो कि मान लेना अनिवार्य हो जाता है तो अन्वयव्यतिरेकी हेतु के स्थल में व्यतिरेक की उपासना करनी पड़ती है । व्यतिरेक का उपयोग यह होता है कि वह विपक्षवृत्तित्वशङ्का के निरास के

द्वारा व्यतिरेकव्याप्ति में उपयुक्त होता है । इसी कारण व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान के लिए विपक्षासत्त्व की अपेक्षा होती है । परन्तु केवलान्वयी में तो विपक्ष ही नहीं होता है अतः विपक्षवृत्तित्वशङ्का का उदय ही नहीं होता है । अब यदि विपक्षवृत्तित्वशङ्का ही नहीं होती है तो किसलिए विपक्षासत्त्व की अपेक्षा होगी ? इसी कारण केवलान्वयी में बिना विपक्षासत्त्व के भी अनुमिति की उत्पत्ति सम्भव होती है । [4] उपर्युक्त रीति से ही केवलव्यतिरेकी में भी चार रूपों से ही अनुमापकता सम्भव है क्योंकि सपक्षसत्त्व का ज्ञान किसलिए अपेक्षित होता है ? सपक्षासत्त्व की आशङ्का का निवारण करने के लिए सपक्षसत्त्व का भान अपेक्षित होता है । केवलव्यतिरेकी में अनुमानकाल में साध्यवान ही प्रसिद्ध न होने के कारण सपक्षासत्त्व की आशङ्का ही उदित नहीं होती है । फलस्वरूप सपक्षासत्त्व की आशङ्का का निवारण करने के लिए सपक्षसत्त्व का भान अपेक्षित नहीं होता है । अतः चार रूपों से ही सम्पन्न होने पर भी केवलव्यतिरेकी में अनुमापकता सम्भव है ।

त्रिरूपोपपन्नत्व

त्रिरूपोपपन्न हेतु को अनुमापक मानने की भी परम्परा न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में रही है । प्रशस्तपाद त्रिरूपोपपन्न हेतु को ही अनुमापक मानने के पक्षपाती हैं । उनके मत में जो हेतु अनुमेय (पक्ष) में रहता हो , साध्यधर्मान्वित में रहता हो अर्थात् सपक्ष में रहता हो साथ ही साथ साध्याभाव के अधिकरण में न रहता हो , ऐसा ही हेतु अनुमापक होता है[5] ।परन्तु प्रशस्तपाद के मत से उनके व्याख्याकार ही सहमत नहीं दिखलायी देते हैं। **प्रशस्तपादभाष्य** की व्याख्या **न्यायकन्दली** में जिस तरह का विवेचन मिलता है, उसमें श्रीधर इस विषय पर विस्तृत विवेचन करते हैं कि क्या अनुमिति करने के लिए अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितत्व इन दो रूपों की सम्पत्ति भी अपेक्षित होती हे? अन्त में श्रीधर इसको कुछ इस तरह से व्यवस्थापित करते हैं कि पक्ष शब्द साध्य का पर्याय है। साध्य उसको कहा जाता है जो साधन की योग्यता रखता हो। जिसका प्रतिपक्ष सम्भावित हो वह साधन की अर्हता नहीं रखता है क्योंकि वस्तु के दो रूप नहीं हो सकते हैं वस्तु का एक ही रूप हो सकता है। या तो साध्य होगा या तो साध्याभाव होगा। इस कारण अगर कोई हेतु सत्प्रतिपक्षित हो तो ऐसी स्थिति में या तो वह हेतु सद्धेतु होगा अगर साध्य वहाँ पर रह रहा है तो। अथवा वह हेतु असद्धेतु होगा अगर साध्य वहाँ पर नहीं रह रहा है तो। इन स्थितियों से भिन्न स्थिति सम्भव नहीं है। इस तरह हम पाते हैं कि सत्प्रतिपक्षित में पक्षसत्त्व रूप की सम्पत्ति ही नहीं है। इसी तरह से अगर किसी स्थल

पर साध्याभाव सिद्ध हो अर्थात् वहाँ पर बाध हो तो उक्त स्थल में भी अनुमिति कर पाना सम्भव नहीं होगा । इसका कारण यह होता है कि जो रूपान्तर से , साध्याभाववत्तया सिद्ध है वह रूपान्तर से साधन की योग्यता नहीं रखता है । उसका रूपान्तर से साध्यवत्तया साधन सम्भव नहीं है । उसको आप रूपान्तर से किस तरह सिद्ध कर पायेंगे ?[५] सत्प्रतिपक्षित स्थल में तथा बाधित स्थल में इन दोनों ही स्थलों में पक्षसत्त्व ही नहीं बन पाता है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि प्रशस्तपाद ने अनुमिति के लिए त्रिरूपोपपन्नत्व को ही आवश्यक मानते हैं तथापि श्रीधर अबाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितत्व इन दो रूपों की सम्पत्ति को भी अनुमिति के लिए आवश्यक मानते हुए इनको भी त्रिरूपोपपन्नत्व में अन्तर्भूत करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन में ही सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व भी परिभाषित हो गये हैं । इन दोनों को आप बग़ैर सपक्ष तथा विपक्ष को जाने नहीं जान सकते हैं । यह अर्थ शास्त्रों में सुप्रसिद्ध है । जो साध्यवत्तया निश्चित है उसको ही सपक्ष कहा जाता है तथा जो साध्याभाववत्तया निश्चित है उसको विपक्ष कहा जाता है ।

सन्दर्भसूची

१.प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनम् प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः ।

पृ.६४ , न्यायभाष्य

२.सिद्धत्वाद्धर्मिणो न साध्यत्वमिति केचित् । धर्मो किल शब्दलक्षणः सिद्ध एव । सिद्धश्च साध्यो न भवतीति । नैष दोषः , प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टस्येति वचनात् । न ब्रूमो धर्मिमात्रं साध्यम् , अपितु प्रज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मो साध्यः । पृ.५१३-५१४, न्यायवार्तिक

३.स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते न त्वेकेनापि रूपेण हीनः । तानि पञ्चरूपाणि । पृ. २४, तर्कभाषा

४.तानि पञ्चरूपाणि तु पक्षधर्मत्वं , सपक्षे सत्त्वं , विपक्षाद्व्यावृत्तिः , अबाधितविषयत्वं असत्प्रतिपक्षितत्वञ्च । पृ. २४, तर्कभाषा

५.नन्वेकरूपविकलमिदं कथं गमकं तत्त्वे वा व्यतिरेकविकलवद्रूपान्तरविकलमपि गमकं स्यादिति चेन्न , अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्योरन्यतरनिश्चयेनानुमित्यनुभवात् , युगपदुभयव्याप्त्युपस्थितौ विनिगमनाभावेनोभयोरपि प्रयोजकत्वे व्यतिरेकोपासना । व्यतिरेकश्च विपक्षवृत्तित्व-शङ्कानिवृत्तिद्वारा व्यतिरेकव्याप्तावुपयुज्यते , अत्र तु विपक्षाभावेन शङ्कैव नोदेति ।

पृ.१३५९ , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

६.यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धञ्च तदन्विते ।

तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ।। पृ.४७८, प्रशस्तपादभाष्य

७. पक्षो नाम साध्यपर्यायः साध्यञ्च तद्भवति यत् साधनमर्हति । सम्भाव्यमानप्रतिपक्षश्चार्थो न साधनमर्हति , वस्तुनो द्वैरूप्याभावादित्यपक्षधर्म एव । तथा प्रत्यक्षादिविरुद्धबाधितोऽपि पक्षो न भवति , रूपान्तरेण सिद्धस्य रूपान्तरेण साधनानर्हत्वात् ।

पृ.४८५ , न्यायकन्दली

***

९

अनुमान के भेद

न्यायसूत्रों में अनुमान के तीन भेद बताये गये हैं पूर्ववत् , शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट [१]। इन तीनों ही पदों का अर्थ विवादित है । कम से कम इन पदों के दो- दो अर्थ तो परम्परा में प्रचलित तथा स्वीकृत हैं । स्वयं **न्यायभाष्य**कार वात्स्यायन इन तीनों पदों के दो-दो अर्थ करते हुए दिखलायी देते हैं । प्रथम अर्थ के अनुसार पूर्ववत् अनुमान उस अनुमान को कहा जाता है जहाँ पर कारण से कार्य का अनुमान किया जा रहा हो । कारण कार्य से पूर्वकाल में रहता हैं , इस कारण जहाँ पर कारण के द्वारा कार्य का अनुमान किया जा रहा हो उस अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है । इसके लिए उदाहरण के तौर पर मेघोन्नति को देखकर जब हम अनुमान करते हैं वृष्टि का तो उस अनुमान को पूर्ववत् अनुमान कहा जायेगा । यह बात सुस्पष्ट है कि मेघोन्नति वृष्टि के प्रति कारण हुआ करती है । ठीक इसके विपरीत अगर हम कार्य को देखकर कारण का अनुमान कर रहे हों तो उस अनुमान को शेषवत् अनुमान कहा जायेगा । उदाहरणस्वरूप पहले के जल के विपरीत नदी के जल को देखकर , पहले जिस जल में पूर्णत्व तथा शीघ्रत्व नहीं था उस जल में पूर्णत्व तथा शीघ्रत्व को देखकर अनुमान किया जाता है कि बरसात हुई है । यह अनुमान बरसात के कारण नदी के जल में उत्पन्न होनेवाले पूर्णत्व तथा शीघ्रत्व के आधार पर किया जा रहा है । ध्येय है कि नदी के पूर्णत्व तथा शीघ्रत्व का कारण होता है वृष्टि का होना । इसका तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ पर कार्य के द्वारा कारण का अनुमान किया जा रहा है । यही शेषवत् अनुमान है । अनुमान के एक तीसरे भेद की भी चर्चा ऊपर की गयी है सामान्यतोदृष्ट की । सामान्यतोदृष्ट अनुमान का तात्पर्य उस अनुमान से है जिस स्थल में साध्य तथा हेतु में कार्यकारणभाव न होने पर भी हेतु के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है । उदाहरण के रूप में वात्स्यायन कहते हैं कि जैसे आदित्य को दूसरी जगह पर देखकर आदित्य की गति का अनुमान । [२]

वात्स्यायन का कथन कुछ विचार की अपेक्षा करता है । वात्स्यायन द्वारा प्रस्तुत सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण तो निश्चय ही आज के हमारे भौतिकविज्ञान के ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ग़लत साबित हो चुका है । आदित्य की दूसरे जगह पर स्थिति को

देखकर यह अनुमान करना कि आदित्य में गति है , सिद्धान्ततः ग़लत है क्योंकि यहाँ पर गति तो आदित्य में नहीं है जिस गति के कारण आदित्य किसी अन्य स्थल पर दिखायी देता है । अपितु वह गति तो पृथ्वी में है जिसकी वजह से आदित्य किसी अन्य स्थल में दिखायी दे रहा है । वस्तुतः वात्स्यायन की यह पूर्वधारणा है कि पृथ्वी अचल है , गतिहीन है । अगर पृथिवी गतिहीन हो तो आदित्य का किसी अन्य स्थल में दर्शन सिर्फ़ आदित्य की गति के आधार पर हम व्याख्यायित कर सकते हैं । वात्स्यायन ने केवल आदित्य के अन्यत्र दर्शन को हेतु नहीं बनाया है परन्तु पृथिवी के अचलत्व को साथ मिलाकर उसको हेतु बनाया है । इस कारण वात्स्यायन का यह अनुमान असदनुमान होता है । प्रमाणबाधित होने से हेत्वाभास में ही आता है । अतः हमें किन्हीं अन्य उदाहरणों के विषय में विचार करना चाहिए । यह ध्येय है कि वात्स्यायन के उपर्युक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान के असदनुमान होने से सामान्यतोदृष्ट अनुमान को किसी भी स्थल पर सदनुमान न माना जाये यह अनुचित होगा । हम कुछ अन्य उदाहरणों के द्वारा इस बात को शायद ज़्यादा व्यवस्थित रूप में समझ सकते हैं –अगर हम वह्न्यार्द्रेन्धन-संयोग को हेतु बनाकर धूम का अनुमान करें तो यह अनुमान पूर्ववत् अनुमान कहा जायेगा क्योंकि इस स्थिति में हम वह्न्यार्द्रेन्धनसंयोग को हेतु बना रहे हैं और वह्न्यार्द्रेन्धनसंयोग धूम के प्रति कारण बना करता है । यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि नैयायिकों के द्वारा कारण से कार्य का अनुमान करने का आशय यह कतई नहीं है कि नैयायिक कारणसामान्य के द्वारा कार्यविशेष का अनुमान कर सकते हैं या करना चाहते हैं क्योंकि कारण अगर समग्र नहीं है तो उस कारण से कार्य का अनुमान करना सम्भव नहीं होता है । इसी कारण नैयायिक भी वह्नि के द्वारा धूम के अनुमान को सम्भव नहीं मानते हैं क्योंकि यदि वह्नि को हेतु बना कर हम धूम का अनुमान करें तो यह सदनुमान नहीं होता अपितु असदनुमान हो जाता है । इसका कारण यही है कि वह्नि धूम का समग्र कारण नहीं होता है । ऐसा नहीं है कि केवल वह्नि के रहने से ही धूम का रहना अनिवार्य हो । वस्तुतः धूम के प्रति वह्नि समग्र कारण नहीं होता है । इसी कारण वह्नि के द्वारा धूम का अनुमान अनुचित होता है । बौद्ध परम्परा में यही पूर्ववत् अनुमान स्वभावानुमान के नाम से प्रसिद्ध है । धर्मकीर्ति ने **प्रमाणवार्तिक** में कहा है कि -

"हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ।।" ३–७

अगर हम विचार करें तो पाते हैं कि नैयायिकों का जो पूर्ववत् अनुमान है वही

बौद्धों का स्वभावानुमान है । यद्यपि मेरे इस कथन से शायद बौद्धदर्शन के विद्वान सहमत नहीं होंगे परन्तु थोड़े से अन्तर को अगर हम छोड़ दें तो नैयायिकों का पूर्ववत् अनुमान बौद्धों के स्वभावानुमान से ज़्यादा भिन्नता नहीं रखता है । अगर धूम को हेतु बना कर वह्नि का अनुमान किया जाये तो यह शेषवत् अनुमान होगा । यहाँ पर इतनी छूट अवश्य है कि यहाँ पर यह आवश्यक नहीं है कि कार्य के द्वारा समग्र कारण का अनुमान ही किया जाये । शायद इसका कारण यह है कि अगर आप समग्र कारण का भी अनुमान करते हैं तो उसमें भी कारण का एकदेश तो आ ही गया । तो अगर कोई हेतु समग्र कारण का अनुमान करने में सक्षम है तो वह निश्चय ही समग्र कारण के अन्तर्गत आनेवाले किसी एक कारण का भी अनुमान करने में सक्षम होगा ही । इसी कारण धूम के द्वारा आप वह्नि का भी अनुमान कर पाते हैं क्योंकि धूम की सामर्थ्य धूमकारणीभूत वह्न्यार्द्रेन्धनसंयोग का भी अनुमान करा देने की है । अगर हम रस से रूप का अनुमान करें तो वह अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जायेगा । इस तरह के अनुमान हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दग़ी में आम हैं । उदाहरण के रूप में हम देखें तो अनेक बार अन्धेरे में किसी ख़ास स्वाद की वस्तु को चखकर हम उसके रूप के विषय में जान जाते हैं । तार्किक को उक्त अनुमान की भी प्रामाणिकता स्वीकार करनी चाहिए ऐसा नैयायिकों का मानना है । तो यह अनुमान न तो पूर्ववत् अनुमान में अन्तर्भूत हो सकता है और न ही यह अनुमान शेषवत् अनुमान में अन्तर्भूत हो सकता है । इसका कारण यह है कि रस न तो रूप के प्रति कारण ही होता है और न ही रूप का कार्य ही होता है । तो इस स्थिति में क्या इस अनुमान की प्रामाणिकता का ही स्वीकार न करें अथवा इसको किसी अन्य भेद में अन्तर्भूत करें ? बौद्धों के लिए भी इस अनुमान की प्रामाणिकता का अस्वीकार कर पाना मुश्किल रहा है । इसी कारण वे भी इस अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करने के लिए इसको स्वभावानुमान अथवा तदुत्पत्ति अनुमान में अन्तर्भूत करना चाहते हैं क्योंकि उनका मानना है अनुमान के ये दो भेद ही सम्भव हैं। मैं समझता हूँ कि यह बौद्धों का आग्रहमात्र है। अन्ततः धर्मकीर्ति कहते हैं कि –

> “*एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः ।*
> *हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ।।*”३-९

धर्मकीर्ति के व्याख्याकारों में कुछ तो इस तरह के अनुमानों का अन्तर्भाव स्वभावानुमान में करना चाहते हैं और कुछ इसतरह के अनुमानों का अन्तर्भाव तदुत्पत्ति अनुमान में करना चाहते हैं । उसी के अनुरूप उनकी व्याख्या भी है । परन्तु हम देखें तो

पाते हैं कि वस्तुतः न तो सामान्यतोदृष्टानुमान का अन्तर्भाव स्वभाव हेतु में किया जा सकता है और नही इसका अन्तर्भाव तदुत्पत्ति में ही सम्भव है । इस कारण इसके लिए कोई अलग विभाग ही होना चाहिए । इसी कारण नैयायिकों ने इसके लिए अलग विभाग माना है । इस तरह से प्रथम अर्थ के अनुसार वात्स्यायन ने अनुमान के तीन भेदों की चर्चा की है ।

न्यायभाष्यानुसारी द्वितीय अर्थ पर हम ध्यान दें तो उपर्युक्त पदों के अर्थों में पर्याप्त अन्तर हो जाता है । पूर्ववत् अनुमान का आशय द्वितीय अर्थ के अनुसार यह है कि जिन दो को पूर्व में साथ-साथ देखा गया हो उनमें से किसी एक को देखकर जब हम दूसरे के अप्रत्यक्ष रहने पर भी उसका अनुमान करते हैं तो यह अनुमान पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है । उदाहरण के तौर पर धूम के द्वारा किया जानेवाला वह्नि का अनुमान पूर्ववत् अनुमान माना जाता है । ध्येय है कि प्रथम अर्थ के अनुसार धूम के द्वारा किया जानेवाला वह्नि का अनुमान शेषवत् अनुमान के अन्तर्गत आया करता था परन्तु द्वितीय अर्थ के अनुसार यह पूर्ववत् अनुमान होता है । द्वितीय अर्थ के अनुसार शेषवत् का तात्पर्य है परिशेषानुमान , अर्थात् प्रसक्त का प्रतिषेध हो जाने पर अन्यत्र प्रसङ्ग ही सम्भव न होने के कारण बचनेवाले में जो सम्प्रत्यय होता है उसको ही परिशेषानुमान या शेषवत् अनुमान कहा जाता है । उदाहरण के रूप में सत् और अनित्य है शब्द इस तरह से शब्द का द्रव्य , गुण और कर्म से समानता लब्ध होती है क्योंकि द्रव्य , गुण और कर्म तीनों ही सत्तावान तथा अनित्य हो सकते हैं । सत्ता जाति इन तीनों में ही रहती है तथा यही तीन अनित्य भी हो सकते हैं ।[3] सामान्य , विशेष तथा समवाय तो अनित्य ही नहीं होते हैं तथा इनमें सत्ता जाति भी नहीं रहती है । इस कारण सन्देह होता है कि शब्द क्या है द्रव्य है , गुण है अथवा कर्म है ? इन तीनों सम्भावनाओं में से दो का निराकरण होने पर तीसरा ही शेष बचता है । "*शब्द द्रव्य नहीं है एकद्रव्य होने के कारण*" । एकद्रव्य होने के कारण का तात्पर्य निरवयव होने से है । जो भी निरवयव द्रव्य होता है वह अनित्य नहीं होता है । शब्द तो अनित्य सिद्ध है तो ऐसी स्थिति में वह निरवयव द्रव्य नहीं हो सकता है । तो शब्द चूँकि निरवयव भी है तथा अनित्य भी है इस कारण वह द्रव्य नहीं हो सकता है । "*शब्द कर्म भी नहीं हो सकता है शब्दान्तर का कारण होने के कारण*" कर्म अपने सजातीय कर्म का कारण नहीं बनता है , परन्तु शब्द तो अपने सजातीय शब्द का कारण बनता ही है । नैयायिकों तथा वैशेषिकों का यह मानना है कि मुख से उच्चरित शब्द श्रोता को सुनायी नहीं देता है , क्योंकि मुख से उच्चरित शब्द मुख देश में ही रहेगा

श्रोता के कर्णशष्कुलीदेश में नहीं रहेगा । जब तक शब्द कर्णशष्कुलीदेश में नहीं रहेगा तब तक उस शब्द का श्रवण सम्भव नहीं है । इस कारण श्रोत्रदेश में शब्द को होना ही चाहिए। इस कारण नैयायिकों का मानना है कि वीचीतरङ्गन्याय से अथवा कदम्बमुकुलन्याय से एक शब्द से समस्त दिशाओं में शब्द की धारा उत्पन्न होती है । जिस तरह से किसी शान्त तालाब में पत्थर फेंक देने पर पत्थर गिरने के स्थान से तरङ्गें निकलती हैं तथा उन तरङ्गों से पुनः दूसरी तरङ्गें निकलती हैं । इसी तरह एक शब्द जो मुख से उच्चरित हुआ है उस शब्द से दूसरा शब्द तथा दूसरे से तीसरा शब्द तथा तीसरे से चौथा इस रीति से श्रोत्रदेश पर्यन्त शब्दधारा उत्पन्न होती है । इस तरह श्रोता के कर्णशष्कुली देशावच्छेदेन जो शब्द उत्पन्न होता है उस शब्द का श्रोता प्रत्यक्ष करता है । इस तरह से हम पाते हैं कि शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करता है । परन्तु कर्म कर्मान्तर को उत्पन्न नहीं करता है । अगर करता भी हो तो भी अपने सजातीय कर्मान्तर को तो नहीं ही उत्पन्न करता है । तो हमारे सामने तीन सम्भावनाएँ थीं- शब्द द्रव्य है , गुण है या कर्म है । इनमें दो सम्भावनाएँ तो तिरस्कृत हो गयीं तो शेष रहती है केवल एक सम्भावना कि शब्द गुण है। यदि शब्द द्रव्य नहीं है तथा कर्म नहीं है तो वह गुण ही हो सकता है । इस तरह से शब्द के गुणत्व की प्रतिपत्ति होती है । तो यह परिशेषानुमान या शेषवत् अनुमान है । इस द्वितीय अर्थ के विवेचन में सवसे ज़्यादा मज़ेदार है सामान्यतोदृष्ट अनुमान के अर्थ का विवेचन । सामान्यतोदृष्ट का अर्थ इस पक्ष में है सामान्यतोऽदृष्ट। अर्थात् जो सामान्यतः दृष्ट नहीं है ऐसे अर्थ की सिद्धि तब हम करते हैं तो उसको सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है । सामान्यतोदृष्ट का प्रथम पक्ष में अर्थ होता है कि सामान्यतः दृष्ट अर्थात् जो सामान्यतः देखा गया है ऐसे अर्थ की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है । द्वितीय पक्ष में ठीक इसका विपरीत अर्थ लिया जाता है सामान्यतः अदृष्ट अर्थात् जो सामान्यतः देखा नहीं गया है ऐसे अर्थ की सिद्धि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होती है । प्रथम पक्ष में "*सामान्यतोदृष्टम*्" का समास है "सामान्यतः दृष्टम् सामान्यतोदृष्टम्" । द्वितीय पक्ष में "*सामान्यतोदृष्टम्*" का समास है "सामान्यतः अदृष्टम् सामान्यतोदृष्टम्" । तो जिस स्थल में लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध के अप्रत्यक्ष होने पर किसी अर्थ से लिङ्ग की समानता होने से अप्रत्यक्ष लिङ्गी का अनुमान कर लिया जाता है उसको सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं । जैसे इच्छा आदि को हेतु बनाकर किया जानेवाला आत्मा का अनुमान ।[४] **न्यायमञ्जरी** में जयन्त भट्ट ने भाष्यकार का अनुसरण करते हुए ही इन अर्थों को परिष्कृत किया है । परन्तु जयन्त भट्ट प्रथम अर्थ की अपेक्षा द्वितीय अर्थ में

वैशिष्ट्य समझते हैं तथा उसको ही प्रथम अर्थ के परित्याग का कारण मानते हैं । उनका कथन है कि पूर्ववत् तथा शेषवत् पदों का जो अर्थ प्रथम पक्ष में वर्णित है वह अर्थ पूर्ववत् तथा शेषवत् पदों में मतुप् प्रत्यय[५] के द्वारा उपवर्णित है तथा यह प्रायशः व्यर्थ है क्योंकि लिङ्ग साध्य का अनुमापक इस कारण नहीं होता है कि लिङ्ग साध्य का कारण है या लिङ्ग साध्य का कार्य है । वस्तुतः अगर लिङ्ग में नियमात्मक सम्बन्ध है अर्थात् व्याप्ति है तो वह अनुमापक होगा और अगर नहीं है तो वह अनुमापक नहीं होगा । जिस चीज को आधार बनाकर आप विभाग कर रह हैं अगर उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है तो उसको आधार बना कर विभाग करना अनुपयुक्त तथा अनुचित है । वस्तुतः जयन्त भट्ट के निशाने पर बौद्ध हैं , बौद्ध आग्रह के साथ यह कहते हैं कि लिङ्ग साध्य का अनुमापक तभी हो सकता है अगर साध्य के साथ उसका तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो । अगर इनमें से कोई सम्बन्ध नहीं है तो लिङ्ग साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है । बौद्धों का यह कथन नैयायिकों की इस मान्यता को चुनौती देता है कि लिङ्ग तथा लिङ्गी में अगर कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं है तो भी लिङ्ग से साध्य का अनुमान सम्भव है बशर्ते लिङ्ग में लिङ्गी का नियमात्मक सम्बन्ध हो । जयन्त भट्ट ने उपर्युक्त रीति से व्यङ्ग्य रूप में बौद्धों का खण्डन करते हुए कहा है कि चूँकि मतुप् के आधार पर पूर्ववत् तथा शेषवत् पदों के अर्थों का निर्धारण कर अनुमान के त्रैविध्य का कथन अनुचित है । अतः पूर्ववत् तथा शेषवत् पदों में वति प्रत्यय के द्वारा अर्थान्तर किया जा रहा है[६] ।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर पूर्ववत् , शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट पदों के तीन अर्थ करते हैं । प्रथम अर्थ जो उद्योतकर करते हैं वह यह कि अनुमान अन्वयव्यतिरेकी ,अन्वयी तथा व्यतिरेकी के भेद से तीन तरह का होता है । [७] इस तरह से उद्योतकर पूर्ववत् , शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट पदों के अन्वयव्यतिरेकी ,अन्वयी तथा व्यतिरेकी अर्थ तो करते हैं परन्तु यह सुस्पष्ट नहीं करते हैं कि किस पद का कौन सा अर्थ है । यह दृष्टि नहीं देते हैं कि अन्वयव्यिरेकी किस पद का अर्थ है , अन्वयी किस पद का अर्थ है व व्यतिरेकी किस पद का अर्थ है । इस अर्थ के सिवा उद्योतकर उन दोनों अर्थों को भी प्रस्तुत करते हैं जिनको वात्स्यायन ने प्रस्तुत किया था ।

तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र उद्योतकर द्वारा प्रस्तुत प्रथम अर्थ के विषय में कहते हैं कि "*त्रिविध*" इस सूत्रावयव की व्याख्या **वार्तिक**कार ने अर्थगौरव का आदर करते हुए **भाष्य** से ऊपर उठकर की है । [८]

वाचस्पति मिश्र ने **भाष्य**कार द्वारा प्रतिपादित शेषवत् अनुमान के उदाहरण शब्द के गुणत्वानुमान का खण्डन करते हुए कहा है कि यह परिशेषानुमान का उदाहरण नहीं है , अपितु यह तो अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का उदाहरण है । परिशेषानुमान व्यतिरेकी अनुमान का ही नामान्तर है ।[९] इस तरह से हम देख सकते हैं कि यदि वात्स्यायन के द्वारा प्रदर्शित दूसरे अर्थ को ही कुछ परिवर्तन के साथ विचार करें तो पूर्ववत् का अर्थ अन्वयी , शेषवत् का अर्थ व्यतिरेकी तथा सामान्यतोदृष्ट का अर्थ अन्वयव्यतिरेकी हो सकता है क्योकि उक्त पदों का द्वितीय अर्थ करते समय वात्स्यायन ने पूर्ववत् का अर्थ किया है-पूर्व में साथ-साथ प्रत्यक्षीकृत दो में से एक को देखकर अप्रत्यक्ष दूसरे का अनुमान ही पूर्ववत् अनुमान है । यह अर्थ अन्वयी में घटित होता है । सामान्यतोदृष्ट का जो अर्थ वात्स्यायन ने बताया है कि सामान्यतः दृष्ट ही सामान्यतोदृष्ट है । इसका अर्थ भी इस तरह से समझा जा सकता है कि साध्य और साधन का सहचारदर्शन तथा साध्याभाव और साधनाभाव का सहचारदर्शन ही सामान्यतः दर्शन कहा जाता है । इस तरह से सामान्यतोदृष्ट पद का अर्थ अन्वयव्यतिरेकी अनुमान लब्ध हो सकता है ।

प्रशस्तपाद ने **प्रशस्तपादभाष्य** में अनुमान के दो भेद बताये हैं -दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट[१०] । प्रसिद्ध और साध्य का अत्यन्त जात्यभेद होने पर किया जानेवाला अनुमान दृष्टानुमान कहलाता है । जैसे गाय में ही सास्ना (गलकम्बल- गाय के गले से लटकनेवाला चर्मविशेष) होती है किसी अन्य में नहीं होती है । ऐसा देखकर देशान्तर में भी केवल सास्ना को देखकर सास्नावाले को गाय समझ लिया जाता है । यह अनुमान से ही सम्भव है तथा यह अनुमान दृष्टानुमान है[११]। प्रसिद्ध और साध्य का अत्यन्त जातिभेद होने पर लिङ्ग से अनुमेय धर्मसामान्य की अनुवृत्ति से किया जानेवाला अनुमान सामान्यतोदृष्टानुमान कहलाता है । जैसे किसान , बनिया तथा राजपुरुषों की प्रवृत्ति के फलवत्त्व को देखकर वर्णाश्रमियों की जो दृष्टप्रयोजन को उद्देश्य न कर के प्रवृत्ति होती है , उस प्रवृत्ति के सफलत्व का अनुमान सामान्यतोदृष्टानुमान है । यहाँ पर किसान , बनिया तथा राजपुरुषों की प्रवृत्ति दृष्टफल धनादिप्राप्ति को उद्देश्य बनाकर होती है तथा वह प्रवृत्ति सफल भी होती है । परन्तु वर्णाश्रमियों की जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति दृष्टप्रयोजन को उद्देश्य कर के नहीं होती है अपितु अदृष्टफल स्वर्गादिप्राप्ति को उद्देश्य कर के होती है । ऐसी स्थिति में दोनों प्रवृत्तियों में अत्यन्त जातिभेद है तथा दोनों के फलों में भी अत्यन्त जातिभेद है । एक प्रवृत्ति दृष्टफलोद्देश्यक है दूसरी प्रवृत्ति अदृष्टफलोद्देश्यक है । तो ऐसी स्थिति में दृष्टफलोद्देश्यक प्रवृत्ति को सफल देखकर आप अदृष्टफलोद्देश्यक

प्रवृत्ति के सफलत्व का अनुमान करना चाह रहे हैं । दृष्टफलोद्देश्यक प्रवृत्ति का सफलत्व और चीज है तथा अदृष्टफलोद्देश्यक प्रवृत्ति का सफलत्व और चीज है । इन दोनों का अत्यन्त जातिभेद है । अदृष्टफलोद्देश्यक प्रवृत्ति भी सफल होती है यह तो पूर्व में विशेष रूप में दृष्ट नहीं है । सामान्य रूप में प्रवृत्ति का सफलत्व ही दृष्ट है । इस कारण यह सामान्यतोदृष्टानुमान माना जाता है [१२]।

परवर्ती न्यायवैशेषिक साहित्य में अन्वयव्यतिरेकी , केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी ये तीन अनुमानभेद ही प्रचलित तथा मान्य हैं । इन तीनों की भी विवेचना तीन दृष्टियों से की गयी है -साध्य की दृष्टि से , व्याप्तिग्रहकारणीभूत सहचार की दृष्टि से और व्याप्ति की दृष्टि से ।

साध्य की दृष्टि से अनुमानभेद

कुछ विद्वान साध्य के नज़रिये से अन्वयव्यतिरेकी , केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी अनुमान का भेद स्वीकार करते हैं । इन विद्वानों का मानना है कि साध्य ही निर्धारित करता है कि किसी हेतु को हम अन्वयव्यतिरेकी कहेंगे , अथवा केवलान्वयी कहेंगे अथवा केवलव्यतिरेकी कहेंगे । अगर साध्य का सिर्फ़ अन्वय ही मिल रहा हो कहीं पर भी व्यतिरेक(अभाव) नहीं मिल रहा हो तो हेतु को हम केवलान्वयी कहेंगे । इसी आधार पर गङ्गेशोपाध्याय ने केवलान्वयी अनुमान का लक्षण बताया है कि विद्यमान अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी साध्य हो जिसका ऐसे हेतु को केवलान्वयी कहते हैं [१३]। उदाहरण के तौर पर हम एक केवलान्वयी हेतुक अनुमान लेते हैं -*"घटो अभिधेयः प्रमेयत्वात्"* घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है। इस अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। इस अनुमान में घट है पक्ष , अभिधेयत्व है साध्य तथा प्रमेयत्व है हेतु । यहाँ पर साध्य अभिधेयत्व का अभाव किसी भी स्थल में उपलब्ध नहीं होता है । आख़िर उपलब्ध हो तो कैसे ? क्योंकि संसार की समस्त वस्तुएँ तो किसी न किसी अभिधान से सम्बद्ध हैं ही। अतः समस्त वस्तुएँ अभिधेय हैं । किसी भी स्थल में अभिधेयत्व का अभाव नहीं मिल सकता है। अभिधेयत्व अगर किसी अभाव का प्रतियोगी हो सकता है तो अभिधेयत्व के अभाव का ही प्रतियोगी हो सकता है । परन्तु अभिधेयत्व का अभाव तो अप्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभिधेयत्व किसी भी ऐसे अभाव का प्रतियोगी नहीं हो रहा है जोकि वृत्तिमान हो । तो यहाँ अभिधेयत्व को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयी हेतु और तद्धेतुक अनुमान केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है। न्यायमत में अभिधेयत्व के हर जगह पर विद्यमान रहने से अभिधेयत्व का

अभाव किसी भी तरह से किसी भी स्थल में उपलब्ध नहीं हो सकता है । इस कारण अभिधेयत्व को सिद्ध करने के लिए हम चाहे जिस हेतु का प्रयोग करें वह हर एक हेतु केवलान्वयी हेतु कहा जायेगा क्योंकि हेतु के ऊपर हेतु का केवलान्वयी , केवलव्यतिरेकी या अन्वयव्यतिरेकी होना निर्भर नहीं है । किन्तु यह निर्भर है साध्य पर । इस कारण इस मत के अनुसार जिस साध्य का अभाव कहीं पर उपलब्ध नहीं होता है ऐसे साध्य को सिद्ध करने के लिए आप चाहे जिस हेतु का प्रयोग करें । वह केवलान्वयी हेतु ही कहा जायेगा ।

अगर किसी स्थल पर भी अनुमानदशा में साध्य का अन्वयसहचार गृहीत न हुआ हो और साध्य व्यतिरेकी गृहीत हुआ हो तो ऐसे अनुमान को केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा[१४] । उदाहरण के तौर पर "*पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्*" पृथिवी पृथिवीतर से भिन्न है क्योंकि वह गन्धवाली है । इस अनुमान के स्थल में साध्य है पृथिवीतरभेद उसको सिद्ध करने के लिए हेतु बनाया गया है गन्ध को । पृथिवी पक्ष है, सिर्फ़ पृथिवी में ही पृथिवीतरभेद रह सकता है । परन्तु पृथिवी के पक्ष होने के कारण उसमें भी अभी पृथिवीतरभेद सिद्ध नहीं है । अन्यत्र तो कहीं पर पृथिवीतरभेद है नहीं क्योंकि अन्य तो पृथिवीतर ही हैं । उन सब में पृथिवीतरभेद का अभाव ही है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनुमान के काल में कहीं पर भी साध्य पृथिवीतरभेद का अन्वयसहचार गृहीत नहीं हो पाया है साथ ही साध्य का व्यतिरेक ही गृहीत हुआ है । इसी कारण इस अनुमान को केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जाता है । यहाँ पर भी उपर्युक्त रीति से हेतु का परिवर्तन कर देने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि यह भेद इस मत में साध्य के आधार पर किये गये हैं ।

यदि साध्य का अन्वय गृहीत हुआ हो अर्थात् साध्य का भाव कहीं पर गृहीत हो चुका हो , साथ ही साथ साध्य व्यतिरेकी हो तो हम हेतु को अन्वयव्यतिरेकी और तद्धेतुक अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं[१५]। उदाहरण के रूप में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" पर्वत वह्निमान है क्योंकि धूमवान है । इस अनुमान में धूम से वह्नि का अनुमान किया जा रहा है और यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होता है । देखें--यहाँ पर साध्य वह्नि का अन्वय भी महानस आदि में गृहीत है और वह वह्नि व्यतिरेकी भी है क्योंकि साध्य वह्नि का व्यतिरेक भी ह्रद आदि में गृहीत हो चुका है । अतः यह धूम हेतु अन्वयव्यतिरेकी होता है और धूमहेतुक यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होता है ।

व्याप्तिग्राहक सहचार के भेद से अनुमान का भेद

कुछ नैयायिक व्याप्तिग्राहक सहचार के भेद से अनुमान का भेद स्वीकार करते हैं उन विद्वानों का मानना है कि व्याप्ति एक ही तरह की होती है अन्वयव्याप्ति । परन्तु उस अन्वयव्याप्ति का ग्रहण किसी स्थल में अन्वयसहचार के द्वारा होता है और किसी स्थल में व्यतिरेकसहचार के द्वारा होता है क्योंकि व्याप्ति के ग्राहक सहचार दो तरह के होते हैं । अन्वयसहचार का तात्पर्य साध्य और साधन के सहचार से तथा व्यतिरेकसहचार का तात्पर्य साध्याभाव और साधनाभाव के सहचार से है । सरल शब्दों में कहा जाये तो जहाँ-जहाँ हेतु है वहाँ-वहाँ साध्य का रहना अन्वयसहचार है और जहाँ-जहाँ साध्य नहीं है वहाँ-वहाँ हेतु का न रहना व्यतिरेकसहचार है । अगर कहीं पर व्याप्ति का ग्रहण सिर्फ़ अन्वयसहचार को आधार बनाकर हो रहा हो तो उस अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहा जायेगा [१६]। ऊपर जो उदाहरण केवलान्वयी अनुमान का बताया गया है उस अनुमान "*घटो अभिधेयः प्रमेयत्वात्*" घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है को देखा जाये यहाँ पर अभिधेयत्व की प्रमेयत्व में व्याप्ति केवल अन्वय सहचार से गृहीत हो रही है । इसका कारण यह है कि इस स्थल पर अभिधेयत्व का तो व्यतिरेक होता ही नहीं है । अगर अभिधेयत्व का व्यतिरेक ही नहीं है तो मजबूरन व्याप्ति का अगर ग्रहण होगा तो अन्वयसहचार से ही होगा । इसकारण इस अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहा जाता है ।

अगर किसी स्थल में ऐसा हो कि व्याप्ति का ग्रहण केवल व्यतिरेक सहचार से हो रहा हो तो ऐसे अनुमान को व्यतिरेकी अनुमान या केवलव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं। उदाहरण के तौर पर "*पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्*" पृथिवी पृथिवीतर से भिन्न है क्योंकि वह गन्धवाली है । इस अनुमान के स्थल में साध्य पृथिवीतरभेद की गन्ध में व्याप्ति का ग्रहण सिर्फ़ व्यतिरेक सहचार के द्वारा ही होता है । यहाँ पर अन्वयसहचार से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि अन्वयसहचार के लिए आवश्यक है कि साध्य का कोई स्थल अनुमिति के पूर्व में निश्चित हो , परन्तु हम जानते हैं कि इस अनुमान के स्थल में साध्य पृथिवीतरभेद का कोई भी अधिकरण प्रसिद्ध नहीं है । इस कारण यहाँ पर सिर्फ़ व्यतिरेकसहचार जहाँ-जहाँ साध्य पृथिवीतरभेद नहीं है वहाँ-वहाँ साधन गन्ध भी नहीं है से व्याप्ति का ग्रहण सम्भव हो पाता है । इसी व्यतिरेक सहचार से यहाँ पर व्याप्ति गृहीत होती है । इस कारण इस अनुमान को हम केवलव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं ।

अगर किसी स्थल में साध्य और हेतु की व्याप्ति अन्वयसहचार तथा व्यतिरेकसहचार दोनों ही सहचारों से गृहीत हुई हो तो उस अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा [१८]। उदाहरण के रूप में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" पर्वत वह्निमान है क्योंकि धूमवान है । इस अनुमान में धूम में वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण अन्वयसहचार से भी होता है और व्यतिरेकसहचार से भी होता है । धूम में वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण जहाँ -जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि है इस अन्वयसहचार से भी सम्भव होता है और जहाँ-जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है ऐसे व्यतिरेकसहचार से भी सम्भव होता है । इस लिए वह्निसाध्यक धूमहेतुक इस अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा ।

इस मत में पूर्वमत की अपेक्षा यह अन्तर है कि एक ही साध्य को सिद्ध करनेवाला एक ही हेतु किसी स्थिति में केवलान्वयी हो सकता है और किसी स्थिति में केवलव्यतिरेकी हो सकता है और किसी स्थिति में अन्वयव्यतिरेकी हो सकता है । उदाहरण के रूप में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" पर्वत वह्निमान है क्योंकि धूमवान है । इस अनुमान में धूम में वह्नि की व्याप्ति का ग्रहण अगर सिर्फ़ अन्वयसहचार से हुआ है तो ऐसी स्थिति में उसको केवलान्वयी और अगर व्याप्ति का ग्रहण सिर्फ़ व्यतिरेक सहचार से हुआ है तो उसको केवलव्यतिरेकी और यदि व्याप्ति का ग्रहण अन्वयसहचार और व्यतिरेक सहचार दोनों से हुआ है तो उसको अन्वयव्यतिरेकी कहा जायेगा । यह मत उदयनाचार्य का है ऐसा जगदीश भट्टाचार्य मानते हैं [१९]।

व्याप्ति की दृष्टि से अनुमान का भेद

अनुमान का भेद व्याप्ति के भेद से होता है ऐसा भी कुछेक आचार्य मानते हैं । इन आचार्यों का मानना है कि व्याप्ति दो तरह की होती है अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इन व्याप्तियों के कारण अनुमान का त्रैविध्य होता है । अगर किसी स्थल में केवल अन्वयव्याप्तिविशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श से अनुमिति हो रही है तो उस स्थल में अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहा जायेगा । अगर केवल व्यतिरेकव्याप्ति-विशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श से अनुमिति हो रही है तो उस स्थल में अनुमान को केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा । ठीक इसी तरह अगर अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति उभयव्याप्तिविशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श से अनुमिति हो रही है तो उस स्थल में अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा । यह मत **तत्त्वचिन्तामणि**कार गङ्गेशोपाध्याय का है ऐसा माना जाता है क्योंकि गङ्गेश का मत है कि अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों ही व्याप्तियों से अनुमिति होती है [२०]।

यहाँ पर यह ध्येय है कि अन्वयव्याप्तिविशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श से आशय उस परामर्श से है जिसको सामान्यतया परामर्श समझा जाता है । वह्निसाध्यक धूमहेतुक स्थल में "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*" यह इस परामर्श का आकार होगा । इसमें पक्ष पर्वत विशेष्य है और उसमें धूम प्रकार है , विशेषण है । धूम सामान्यतया प्रकार न हो कर वह्नि की अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट धूम यहाँ पर पर्वत में प्रकार हो रहा है। उक्त स्थल में व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श का आकार होगा–"*पर्वतो वह्न्यभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिधूमवान्*" इस परामर्श में भी पक्ष पर्वत विशेष्य है और उसमें धूम प्रकार है । परन्तु अन्तर यह है कि वह्नि की अन्वयव्याप्ति से विशिष्ट धूम यहाँ पर पर्वत में प्रकार नहीं हो रहा है अपितु वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति से विशिष्ट धूम प्रकार हो रहा है। जब यह भान हो रहा है कि पर्वत वह्न्यभाव के व्यापकीभूत धूमाभाव के प्रतियोगी धूम का अधिकरण है तो इसमें धूम में वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति ही भासित हो रही है । उभयव्याप्तिविशिष्टहेतुप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श इन दोनों को मिलाकर बन जायेगा । तो इसका तात्पर्य यह है कि अगर "*पक्षः साध्यव्याप्यवान्*" इस तरह के परामर्श से अनुमिति हो रही है तो अनुमान को केवलान्वयी कहा जायेगा। अगर "*पक्षः साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिमान्*" इस तरह के परामर्श से अनुमिति हो रही है तो अनुमान को हम केवलव्यतिरेकी अनुमान कहेंगे । अगर परामर्श में उपर्युक्त दोनों ही व्याप्तियाँ भासित हो रही हों अथवा उभयव्याप्तिविषयक समूहालम्बनात्मक परामर्श से अनुमिति हो रही हो तो अनुमान को अन्वयव्यतिरेकी कहा जायेगा ।

दीधितिकार ने और उनके व्याख्याता गदाधर और जगदीश ने अनेक अव्याप्ति , अतिव्याप्ति दोषों की आशङ्का उठाते हुए लक्षण को परिष्कृत कर इस तरह से प्रस्तुत किया है कि "*प्रकृतसाध्यानुमितिकारणीभूतज्ञानविषयव्याप्तित्व का व्यापक प्रकृतसाध्यान्वय-व्याप्तित्व*" जिस अनुमान का हो उस अनुमान को केवलान्वयी अनुमान कहा जायेगा [२१]। "*घटो अभिधेयः प्रमेयत्वात्*" घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है । इस अनुमान में प्रकृतहेतुक प्रकृतसाध्यानुमिति के प्रति कारण होनेवाले परामर्श की विषय बनती है केवल अन्वयव्याप्ति क्योंकि साध्य अभिधेयत्व का व्यतिरेक ही अप्रसिद्ध होने के कारण व्यतिरेकव्याप्ति तो इस स्थल में मिल ही नहीं सकती है । इस कारण प्रकृतसाध्यानुमितिकारणीभूतज्ञानविषयव्याप्तित्व का व्यापक हो जायेगा प्रकृतसाध्यान्वय-व्याप्तित्व । तथा इस कारण यहाँ पर लक्षण का समन्वय हो जायेगा । इस अनुमान को

हम केवलान्वयी अनुमान कह सकते हैं । केवलव्यतिरेकी अनुमान का लक्षण इस तरह से रघुनाथ शिरोमणि करते हैं कि "*प्रकृतसाध्यानुमितिकारणीभूतज्ञानविषयव्याप्तित्व का व्यापक प्रकृतसाध्यव्यतिरेकव्याप्तित्व*" जिस अनुमान का हो उस अनुमान को केवलव्यतिरेकी अनुमान कहा जायेगा [२२]। "*पृथिवी स्वेतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्*" पृथिवी पृथिवीतर से भिन्न है क्योंकि वह गन्धवाली है। इस अनुमान में पृथिवी स्वेतरभिन्ना इस अनुमिति के प्रति कारण बनता है "*पक्षः साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिमान्*" इस तरह का परामर्श "*पृथिवी स्वेतरभेदाभावव्यापकीभूतगन्धाभावप्रतियोगिगन्धवती*" ऐसा परामर्श। इस परामर्श की विषय बनती है व्यतिरेकव्याप्ति। इस कारण प्रकृतसाध्यानुमिति-कारणीभूतज्ञानविषयव्याप्तित्व की व्यापक होती है प्रकृतसाध्यव्यतिरेकव्याप्तित्व । इसलिए ऐसे अनुमान का केवलव्यतिरेकित्व व्यवस्थापित हो जाता है। "*प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यक अन्वय व व्यतिरेक दोनों परामर्शों से जन्य प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यक अनुमिति का करण अन्वयव्यतिरेकी अनुमान होता है*"[२३]। अन्वयव्यतिरेकी अनुमान की ख़ासियत यह है कि इस स्थल में अन्वयपरामर्श और व्यतिरेकपरामर्श दोनों ही परामर्शों से एक ही अनुमिति उत्पन्न होती है। उदाहरण के तौर पर "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्* और "*पर्वतो वह्न्यभावव्यापकीभूता-भावप्रतियोगिधूमवान्*" इन दोनों ही परामर्शों से एक ही "*पर्वतो वह्निमान्*" इस तरह की अनुमिति उत्पन्न होती है।

उपयोग की दृष्टि से अनुमान के भेद

उपयोग को दृष्टिगत रखते हुए भी न्यायवैशेषिक परम्परा में अनुमान के भेद किये गये हैं । इस तरह से अनुमान के दो भेद स्वीकृत हैं –स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अपनी अनुमिति के लिए जो कारण होता है उस अनुमान को स्वार्थानुमान कहा जाता है। जो अनुमान पर की अनुमिति के लिए होता है उसको परार्थानुमान कहा जाता है । यही उपयोग के आधार पर भेद है। उपर्युक्त समग्र विवेचन स्वार्थानुमान के विषय में ही है । परार्थानुमान न्याय से साध्य होता है [२४]।

न्याय या पञ्चावयव

स्वयं हेतु से साध्य का अनुमान करने के बाद दूसरे को साध्य को बोधित करने के लिए पञ्चावयववाक्यों का प्रयोग न्यायवैशेषिकपरम्परा में स्वीकृत है । यद्यपि इस विषय में दर्शनों की आपसी विप्रतिपत्तियाँ हैं । द्व्यवयव ,त्र्यवयव ,पञ्चावयव से लेकर दशावयव तक दर्शनों में स्वीकृत हैं । **न्यायभाष्य** में ही दशावयववाद का खण्डन करके

पञ्चावयववाद व्यवस्थापित किया गया है ।(द्रष्टव्य-१-१-३२ न्यायसूत्र का भाष्य)न्यायपरम्परा में प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण , उपनय और निगमन ये पाँच अवयव स्वीकार किये गये हैं[२५] । इन पाँच अवयवों का समुदाय ही न्याय कहा जाता है और एक-एक को अवयव कहा जाता है [२६]। अगर इन पाँच अवयवों में हम जिज्ञासा , संशय , शक्यप्राप्ति , प्रयोजन और शङ्काव्युदास को मिला दें तो दश अवयव हो जाते हैं । ऐसे दश अवयव स्वीकारनेवाले किन्हीं तार्किकों का ज़िक्र वात्स्यायन ने किया है [२७]परन्तु इनके अवयवत्व का **भाष्यकार** ने खण्डन कर दिया है । इसका जो मूलभूत कारण है वह यह है कि जिज्ञासा आदि निश्चयजनक होते हैं इसमें कोई सन्देह यद्यपि नहीं है परन्तु ये तत्त्वार्थसाधक नहीं होते हैं । इस लिए जो तत्त्वार्थसाधक होते हैं उन प्रतिज्ञा आदि साधक वाक्यों के एकदेश को हो अवयव कहते हैं [२८]। तत्त्वार्थसाधक होने पर ही इनका अवयवत्व (न्यायाङ्गत्व) हो सकता है । इसी बात को इस तरह से समझा जा सकता है प्रतिज्ञा, हेतु , उदाहरण , उपनय और निगमन ये पाँचों मिलकर एक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। नैयायिक मानते हैं कि अनुमिति तो परामर्श से ही उत्पन्न होती है परन्तु परार्थानुमान के स्थल में जब पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग परप्रत्यायनार्थ वक्ता करता है तो प्रतिज्ञादि पञ्च वाक्यों के द्वारा जो शाब्दबोध होता है । उस शाब्दबोध से एक महावाक्यार्थबोध तथा तदुपरान्त परामर्श की उत्पत्ति होती है । वह परामर्श ही परार्थानुमान के स्थल में अनुमिति का कारण होता है । इसी कारण गङ्गेशोपाधायाय ने न्याय का लक्षण किया है कि - "*अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्य को ही न्याय कहा जाता है ।*" [२९]इस कारण इनको एक-एक कर अवयव और इनके समुदाय को न्याय कहा जाता है । परन्तु जिज्ञासा आदि इस तरह से मिलकर एक अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं इस लिए उनको अवयव नहीं कहते हैं और वे न्यायनामक समुदाय के अन्तर्गत भी नहीं आते हैं । इस कारण न्याय के अन्तर्गत पाँच अवयव ही स्वीकारे जाते हैं । कुछ प्राचीन नैयायिक कहते हैं कि "*समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकवाक्य ही न्याय है*" । परन्तु गङ्गेशोपाध्याय इस मत से स्वयं को असहमत बताते हैं गङ्गेश का कथन है कि इस लक्षण की तो इसी वाक्य में अतिव्याप्ति हो जायेगी [३०]। इस कारण इसको न्याय का लक्षण नहीं माना जा सकता है ।

गङ्गेश के व्याख्याता रघुनाथ शिरोमणि गङ्गेश से खुद को असहमत बताते हैं और न्याय का दूसरा ही परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करते हैं- "*उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादि-पञ्चकसमुदायत्व ही न्याय का लक्षण है ।*" इसका आशय यह है कि उचित आनुपूर्वी में

आनेवाले प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण ,उपनय और निगमन का जो समुदाय है उस समुदाय को ही न्याय कहा जाता है[३१] । रघुनाथ का इस तरह से न्याय का लक्षण करने का विशिष्ट प्रयोजन है । गङ्गेश के लक्षण में समस्या यह थी कि प्रतिज्ञा और निगमन तो स्वयं भी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । ऐसी स्थिति में पाँचों अवयवों का मिलकर एकार्थप्रतिपादकत्व तो नहीं ही हो सकता है । इस कारण इस लक्षण की अव्याप्ति न्याय में होगी । दूसरी समस्या यह थी कि यह परामर्शप्रयोजकत्व जिसका निवेश लक्षण में किया जा रहा है उसका तात्पर्य क्या है ? अगर उसका तात्पर्य यह है कि परामर्शविषयीभूतसकलपदार्थोपस्थापकत्व ही परामर्शप्रयोजकत्व है तो इस तरह का परामर्शप्रयोजकत्व तो उदाहरण और उपनय इन्हीं दोनों को में घटित हो जायेगा क्योंकि इन्हीं दोनों के द्वारा ही परामर्शविषय होनेवाले समस्त पदार्थों की उपस्थिति हो जाती है । इस कारण इन्हीं दोनों में लक्षण का समन्वय हो जाने के कारण अतिव्याप्ति होगी । अगर परामर्शप्रयोजकत्व का अर्थ परामर्शानुकूलत्व है तो न्याय में लक्षण का समन्वय होने में तो कोई असुविधा नहीं है परन्तु "*को वह्निमान्, पर्वतो वह्निमान्*" "*कुतः धूमवत्त्वात्*" इत्यादि वाक्यसमूहों का भी जिज्ञासाज्ञापनद्वारा परामर्शानुकूलत्व या परामर्शप्रयोजकत्व तो हो ही सकता है। ऐसी परिस्थिति में इनमें अतिव्याप्ति होने लगेगी। इसी कारण रघुनाथ ने गङ्गेश के लक्षण का परित्याग कर अपना नवीन लक्षण प्रस्तुत किया है। रघुनाथ के इस परिष्कार को परवर्ती व्याख्याकारों गदाधर तथा जगदीश ने अपने अनुसार परिष्कृत किया है। गङ्गेशकृत अवयवलक्षण से भी रघुनाथ सहमत नहीं हैं । वे उसको इस तरह से परिष्कृत करते हैं कि "*न्यायान्तर्गत होते हुए प्रतिज्ञाद्यन्यतम होना ही अवयव का लक्षण है*"[३२] । इन पर भी परवर्ती व्याख्याकारों ने अनेक परिष्कार करते हुए लक्षणों का स्वरूप निर्धारित किया है। उनको मैं विस्तार के भय से छोड़ रहा हूँ ।

प्रतिज्ञा

साध्य का निर्देश ही प्रतिज्ञा है । साध्य के निर्देश से तात्पर्य प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी के बोधक वचन से है। अर्थात् प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी के बोधक वचन ही प्रतिज्ञा है [३३]। जैसे अगर कहा जाये कि "*पर्वतो वह्निमान्*" पर्वत वह्निमान है तो यहाँ पर पर्वत में ज्ञापनीय धर्म है वह्नि , उस वह्नि से विशिष्ट धर्मी का प्रतिपादन किया जा रहा है उपर्युक्त वाक्य के द्वारा । इस लिए यह प्रतिज्ञा का यही उदाहरण होता है। परन्तु गङ्गेशोपाध्याय प्रतिज्ञा के इस लक्षण से सहमत नहीं हैं वे कहते हैं कि "*साध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा नहीं माना जा सकता है क्योंकि साध्यनिर्देश को प्रतिज्ञा मानने पर*

साध्यादि पदों में अतिव्याप्ति हो जायेगी "।[३४] रघुनाथ शिरोमणि यहाँ पर भी गङ्गेश के मत का अनुगमन न करते हुए सूत्रकार के मत को निर्दुष्ट बतलाते हैं । रघुनाथ का मानना है कि सूत्र में साध्य पद अनुमितिविधेय का वाचक नहीं है अपितु साध्यविशिष्ट धर्मी का वाचक है । अगर साध्य पद अनुमितिविधेय का वाचक होता तो गङ्गेश द्वारा प्रदर्शित दोष की सम्भावना हो सकती थी । परन्तु चूँकि साध्यपद साध्यविशिष्ट धर्मी का वाचक है । यहाँ पर "*साध्यतेऽस्मिन् इति साध्यम्*" इस व्युत्पत्ति से साध्य पद का अर्थ साध्यविशिष्ट धर्मी होता है । साध्यपद का भी अर्थ केवल साध्यविशिष्ट धर्मी नहीं होता है अपितु प्रकृतसाध्यविशिष्ट धर्मी होता है । तो इस तरह से पक्षतावच्छेदकपर्वतत्वादिविशिष्ट पर्वतादि पक्ष में साध्यतावच्छेदकवह्नित्वादिविशिष्ट साध्य के वैशिष्ट्य के ज्ञान का जनक जो न्यायावयव हो रहा है उसी को प्रतिज्ञा कहते हैं । इस प्रकार प्रज्ञापनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का बोधक वचन ही प्रतिज्ञा है , ऐसा स्वीकार करें तो दोषों से मुक्ति मिल जाती है क्योंकि इस तरह के परिष्कार कर देने पर कहीं पर कोई दोष नहीं है । (द्रष्टव्य--पृ.१४८४ , तत्त्वचिन्तामणिदीधिति)

परन्तु उक्तसूत्रकारीय प्रतिज्ञालक्षण को दूषित कर गङ्गेशोपाध्याय प्रतिज्ञा का लक्षण करते हैं कि "*उद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजक वाक्यार्थज्ञान का जनक होते हुए उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनक वाक्य ही प्रतिज्ञा है*"।[३५] आशय यह है कि जो वाक्य उद्देश्यानुमिति के प्रति कारणीभूत लिङ्गपरामर्श का प्रयोजक होनेवाले वाक्यार्थज्ञान का जनक हो तथा उद्देश्यानुमिति से न तो कम और न ही ज़्यादा को विषय करनेवाले शाब्दज्ञान का जनक हो उस वाक्य को ही प्रतिज्ञा कहते हैं । "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" इस स्थल में अगर कोई परप्रत्यायनार्थ पञ्चावयववाक्यों का प्रयोग करे तो "*पर्वतो वह्निमान्*" प्रतिज्ञावाक्य होता है । इस स्थल में अनुमिति भी ठीक ऐसी ही स्वीकारी जाती है । इस कारण हम पाते हैं कि उद्देश्यभूत अनुमिति के समानविषयक अन्यूनानतिरिक्तविषयक शाब्दवोध को उत्पन्न करानेवाला है यह प्रतिज्ञावाक्य। इस कारण उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनक वाक्य तो यह हो ही रहा है । साथ ही साथ उद्देश्यानुमिति के प्रति कारण होनेवाले लिङ्गपरामर्श के प्रति प्रयोजक होनेवाले वाक्यार्थज्ञान का भी जनक यह होता है क्योंकि इस प्रतिज्ञावाक्य से घटित न्याय का (पञ्चावयव का) प्रयोग करने पर उनसे मिलकर लिङ्गपरामर्श के प्रति कारणीभूत वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति होती है । इस कारण इस लक्षण का समन्वय होने में कोई भी असुविधा नहीं रहती है । उपर्युक्त लक्षण में घटकीभूत अन्यूनानतिरिक्तविषयकत्व पद के

अर्थ पर बहुत विस्तार से टीकाकारों ने विचार किया है । गङ्गेश स्वयं इस लक्षण को छोड़कर अन्यूनानतिरिक्तविषयकत्व के स्थान पर हेत्वविषयकत्व का निवेश करने के विषय में अभिमत देते हैं [३५]। अन्यूनानतिरिक्त पद को छोड़कर लिङ्गाविषयकत्व का निवेश करने पर भी अनुमितिसमानविषयकत्व का निवेश तो करना आवश्यक ही है क्योंकि अन्यूनानतिरिक्त पद का परित्याग कर देने पर "*उद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजक वाक्यार्थज्ञान का जनक होते हुए उद्देश्यानुमितिविषयकशाब्दज्ञानजनक वाक्य ही प्रतिज्ञा है*" ऐसा प्रतिज्ञा का लक्षण होता है । इस लक्षण में असुविधा यह है कि *पर्वतो वह्निमान्* यह प्रतिज्ञावाक्य उद्देश्यभूत "*पर्वतो वह्निमान्*" इस अनुमिति को विषय नहीं करता है। फलतः प्रतिज्ञा का लक्षण इस प्रतिज्ञा में घटित नहीं हो सकेगा । इस अव्याप्ति का निवारण करने के लिए **दीधिति**कार "*उद्देश्यानुमितिविषयकत्व*" का अर्थ "*उद्देश्यानुमितिसमान-विषयकत्व*" करते हैं [३७]। गदाधर भट्टाचार्य रघुनाथ के आशय को इस तरह से परिपुष्ट करते हैं कि "*उद्देश्यानुमितिविषयकत्व*" यहाँ पर "*अनुमितिविषयो विषयो यस्य*" इस तरह से मध्यमपदलोपी समास के अभिप्राय से ऐसा अर्थ किया गया है [३८]। उदाहरण आदि तो हेतुविषयक नियम से होते हैं ,इस कारण उदाहरण आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती है । लिङ्गाविषयकत्व का निवेश करने में कुछेक असुविधायें हैं, समस्या यह है कि अगर किसी स्थल पर पक्षतावच्छेदक ही हेतु बनाया जा रहा हो तो नियमतः प्रतिज्ञावाक्य हेतुविषयक ही होगा , कभी भी ऐसे स्थल में प्रतिज्ञा में लिङ्गाविषयकत्व नहीं आ सकेगा । उदाहरण के तौर पर अगर हम अनुमान करें कि "*पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वात्*" तो यहाँ पर हेतु भी पृथिवीत्व है और वही पृथिवीत्व ही पक्षतावच्छेदक भी है , अतः प्रतिज्ञा के लिङ्गाविषयक न होने के कारण एतत्स्थलीय प्रतिज्ञा में अव्याप्ति होगी [३९]। कुछ अन्य परिष्कारों की सम्भावना पर विचार करने के उपरान्त रघुनाथ कहते हैं कि "*पक्षतावच्छेदकविशिष्ट पक्ष में जो साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्य के वैशिष्ट्य का अवगाहित्व है ,उसके बहिर्भावेन लिङ्गविषयकत्व नहीं आना चाहिए*" यही लिङ्गाविषयकत्व का अर्थ है [४०]। गङ्गेशोपाध्याय और रघुनाथ कुछेक अन्य लक्षणों को भी प्रस्तुत करते हैं । परन्तु हम उनको यहाँ पर नहीं प्रस्तुत कर रहे हैं । विशेष जिज्ञासा रखनेवाले जिज्ञासुओं को अवयवप्रकरण से एतद्विषयिणी जिज्ञासा की पूर्ति करनी चाहिए ।

हेतु

सूत्रकार ने हेतु का लक्षण इस तरह से प्रस्तुत किया है कि उदाहरण के साधर्म्य से

साध्य का साधन और उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य का साधन हेतु है [४१]। इसका तात्पर्य यह है कि प्रज्ञापनीय धर्म को ज्ञापित करनेवाला हेतु होता है और उस हेतु का कथन ही हेतु कहा जाता है । जैसे "*धूमात्*" ऐसा कथन ही हेतु कहा जायेगा । इसको हम देख सकते हैं कि धूम हेतु महानसादि के साधर्म्य से वह्नि का साधक होता है । महानसादि में धूम है और वह्नि भी है । इस कारण धूम हेतु महानसादि के साधर्म्य के कारण वह्नि का अनुमापक होता है । साथ ही साथ धूम हेतु वैधर्म्य से भी वह्नि का अनुमापक होता है क्योंकि वह्नि जिस स्थल पर नहीं है ऐसे ह्रदादि में धूम नहीं रहता है । तो वैधर्म्य उदाहरण भी यहाँ पर है । इस कारण महानसादि के साधर्म्य और ह्रदादि के वैधर्म्य दोनों से ही धूम हेतु वह्नि का अनुमापक होता है । इस कारण उक्त धूम हेतु के कथन को हेतु कहा जाता है ।

गङ्गेशोपाध्याय ने **चिन्तामणि** में हेतु के छह लक्षण प्रस्तुत किये हैं । वे समस्त लक्षण संस्कृतभाषा में न्यायप्रयोग को आधार बनाकर प्रस्तुत किये गये हैं । उनमें एक दो लक्षण ऐसे भी हैं जिनको अन्य भाषाओं में न्यायप्रयोग करने पर भी संगमित किया जा सकता है । जैसे हेतु का एक लक्षण किया गया है –"*उदाहरणप्रयोजकजिज्ञासाजनक-शाब्दज्ञानजनकन्यायावयवत्व ही हेतु का लक्षण है*" अब यह लक्षण किसी भी भाषा में हेतुवाक्य का प्रयोग करने पर समन्वित हो सकता है । किसी भी भाषा में अगर न्यायप्रयोग किया जा रहा है तो हेतुवाक्य का प्रयोग करने के उपरान्त उदाहरणवाक्य का प्रयोग किया जाये ऐसी जिज्ञासा अवश्य होती है । इस कारण उदाहरणप्रयोजकजिज्ञासा-जनकशाब्दज्ञानजनकन्यायावयवत्व हेतुवाक्य में आ जाता है । विस्तृत जानकारी के लिए **तत्त्वचिन्तामणि** का अवयवप्रकरण द्रष्टव्य है ।

उदाहरण

साध्य के साधर्म्य से तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरण है । इसी प्रकार साध्य के वैधर्म्य से अतद्धर्मभावी दृष्टान्त भी उदाहरण होता है [४२]। सूत्रकार के द्वारा उक्त रीति से उदाहरण का लक्षण किया गया है । परन्तु वस्तुतः ये उदाहरण का लक्षण नहीं हो सकता है । यहाँ पर अपेक्षित है उदाहरणवाक्य का लक्षण करना , यह तो उदाहरण का लक्षण होगा उदाहरणवाक्य का नहीं । यह कहा जा सकता है कि ऐसे उदाहरण का प्रतिपादक वाक्य ही उदाहरणवाक्य का लक्षण हो जायेगा । जैसे वह्नि को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त धूम हेतु से वह्नि के साधनार्थ दोनों तरह के उदाहरण दिये जा सकते हैं । महानस का उदाहरण भी दिया जा सकता है और ह्रद का उदाहरण भी दिया जा सकता है । महानस

में साध्य और साधन का सहचार है इस कारण महानस का उदाहरण साधर्म्य उदाहरण और चूँकि ह्रद में साध्याभाव और साधनाभाव का सहचार है इस कारण ह्रद का उदाहरण वैधर्म्य उदाहरण होगा । साधर्म्य उदाहरण का प्रयोग इस तरह से किया जाता है- "*यो यो धूमवान् स वह्निमान् यथा महानसम्*" जो जो धूमवान् है वह वह वह्निमान् है । इसके विपरीत वैधर्म्य उदाहरण का प्रयोग इस तरह से होता है कि "*यो यो न वह्निमान् स न धूमवान् यथा जलह्रदः*" जो जो वह्निमान् नहीं है वह वह धूमवान् नहीं है । इस रीति से साधर्म्य उदाहरण तथा वैधर्म्य उदाहरण का प्रयोग किया जा सकता है ।

गङ्गेशोपाध्याय ने उदाहरण का लक्षण करते हुए कहा है कि "*अनुमितिहेतुलिङ्ग-परामर्शपरवाक्यजन्यज्ञानजनकव्याप्यत्वाभिमतवन्निष्ठनियतव्यापकत्वाभिमतसम्बन्ध-बोधजनकशब्दत्व ही उदाहरण का लक्षण है*" [४३] । इसका आशय यह है कि अनुमिति के प्रति कारण होनेवाले लिङ्गपरामर्श को बोधित करनेवाले वाक्य से जन्य ज्ञान का जनक जो व्याप्यत्वेन अभिमतवत् में रहनेवाले नियतव्यापकत्वाभिमत का सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के बोध का जनक जो शब्द है उस शब्द को ही उदाहरण कहा जाता है । अनुमिति के प्रति कारण होता है परामर्श इसमें तो कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है । परामर्श को बोधित करनेवाला वाक्य होता है उपनयवाक्य , उपनयवाक्य से जन्य ज्ञान का जनक होता है व्याप्यत्वेन अभिमत धूमादिवाले महानसादि में रहनेवाले नियतव्यापकत्वाभिमत वह्नि आदि का सम्बन्ध , उस सम्बन्ध के बोध को उत्पन्न करनेवाला शब्द है उदाहरणवाक्य । अब देखें-"*पर्वतो वह्निमान्*" इस अनुमिति का कारण होनेवाला परामर्श होता है *पर्वतो* "*वह्निव्याप्यधूमवान्*" यह परामर्श , इस परामर्श को बोधित करनेवाला वाक्य होता है "*वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्*" ऐसा उपनयवाक्य । इस वाक्य से जन्य ज्ञान का जनक होता है व्याप्यत्वेन अभिमत जो धूम , उस धूमवत् महानसादि में रहनेवाले व्यापकत्वाभिमत वह्नि का सम्बन्ध। उसी सम्बन्ध का बोधक होता है उदाहरण वाक्य । अगर सामान्यतया उदाहरण का लक्षण करना हो तो "*साध्यसाधनसम्बन्धबोधजनकत्व* "ही उदाहरण का लक्षण है [४४] । अगर साधर्म्य और वैधर्म्य उदाहरणों का एक-एक कर लक्षण करना हो तो "*साध्यसाधनसम्बन्धबोधजनकत्व*" ही साधर्म्य उदाहरण का लक्षण है तथा "*साध्याभावसाधनाभावसम्बन्धबोधजनकत्व*" वैधर्म्य उदाहरण का लक्षण है [४५] । यहाँ पर जो गङ्गेशोपाध्याय ने लक्षण किया है वह थोड़ा अस्पष्ट है । **दीधिति**कार रघुनाथ शिरोमणि ने यहाँ पर स्वयं व्याख्या नहीं की है । केवल मथुरानाथ तर्कवागीश की व्याख्या उपलब्ध होती है । गदाधर भी यहाँ सङ्क्षिप्त हैं । परन्तु गदाधर भट्टाचार्य की प्रतिपत्ति

परिष्कारपद्धति का अनुसरण करते हुए इसको समुचित रीति से परिष्कृत किया जा सकता है ।

उपनय

उदाहरण की अपेक्षा से किया जानेवाला "*तथा चायम्*" यह भी ऐसा ही है ,"*तथा चायम्*" का आशय यह है कि यह भी उसी तरह से (दृष्टान्त की तरह से) साध्यव्याप्यहेतुमान् है । इस तरह का उपसंहार और "*न चायं तथा*" यह वैसा नहीं है , "*न चायं तथा*" का आशय यह है कि यह वैधर्म्य दृष्टान्त की तरह साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगिमान् नहीं है इस तरह का उपसंहार ही उपनय कहलाता है [४६]। इस रीति से दोनों तरह के उपनयों का लक्षण कर लिया जाता है । उदाहरण के रूप में अगर हमने "*यो यो धूमवान् स वह्निमान्*" ऐसे साधर्म्य उदाहरण का प्रयोग किया है तो हमको "*तथा चायम्*" ऐसे साधर्म्य पर आधारित उपनय का प्रयोग करना पड़ेगा । इसका अर्थ है "*वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्*" क्योंकि हमने उदाहरण के द्वारा धूम में वह्नि की व्या प्ति का प्रतिपादन किया है । यदि हमने "*यो यो न वह्निमान् स न धूमवान्*" इस वैधर्म्य उदाहरण का प्रयोग किया है तो हमको "*न चायं तथा*" ऐसे वैधर्म्य पर आधारित उपनय का प्रयोग करना पड़ेगा । इसका अर्थ है "*पर्वतो न वह्न्यभावव्यापकीभूतधूमाभाववान्*" क्योंकि हमने उदाहरण के द्वारा वह्न्यभाव में धूमाभाव की व्याप्ति का प्रतिपादन किया है ।

गङ्गेशोपाध्याय उपनय का लक्षण करते हैं कि "*अनुमितिकारणतृतीयलिङ्गपरामर्शजनकावयवत्व*" ही उपनय का लक्षण है [४७]। जितने अवयवों का प्रयोग हम करते हैं उनमें उपनय ही ऐसा है जो साक्षात् लिङ्गपरामर्श का जनक होता है क्योंकि लिङ्गपरामर्श के विषय ही उपनय के भी विषय होते हैं । यह ध्येय है कि परामर्श का आकार दो तरह का है एक तो अन्वयपरामर्श "*वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः*" इस तरह का होता है । द्वितीय व्यतिरेकपरामर्श जिसका आकार "*पर्वतो वह्न्यभावव्यापकीभूतधूमाभावप्रतियोगिमान्*" ऐसा होता है । अब अगर साधर्म्याधारित उदाहरण और उपनय का प्रयोग किया गया है तो अन्वयपरामर्श "*वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः*" का जनक उपनय वाक्य होगा और इस परामर्श का जनक होने से लक्षण का समन्वय हो जायेगा । अगर वैधर्म्याधारित उदाहरण और उपनय का प्रयोग किया गया है तो व्यतिरेकपरामर्श "*पर्वतो वह्न्यभावव्यापकीभूतधूमाभावप्रतियोगिमान्*" का जनक उपनय वाक्य होगा और इस परामर्श का जनक होने से लक्षण का समन्वय हो जायेगा ।

निगमन

हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनः वचन ही निगमन है सूत्रकार निगमन का ऐसा लक्षण करते हैं [४८]। उदाहरण के रूप में "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" इस अनुमान प्रयोग के स्थल में "*पर्वतो वह्निमान्*" इस तरह से प्रतिज्ञा का वचन होता है । हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनः वचन इस तरह से किया जाता है कि "*वह्निव्याप्यधूमवत्त्वात् पर्वतो वह्निमान्*" । प्रतिज्ञा में हेतु का अपदेश करने से निगमन हो जाता है । ध्येय है कि प्रतिज्ञा में हेतु का निर्देश नहीं किया गया था निगमन में हेतु का अपदेश भी होता है ।

गङ्गेशोपाध्याय निगमन का लक्षण करते हैं कि "*अनुमितिहेतुलिङ्गपरामर्श-प्रयोजकशाब्दज्ञानकारणव्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्तसाध्यधीजनकवाक्यत्व*" ही निगमन का लक्षण है [४९]। साध्यधीजनकवाक्यत्व तो प्रतिज्ञा और निगमन दोनों में ही समान है परन्तु प्रतिज्ञा के द्वारा व्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्त साध्यज्ञान नहीं उत्पादित होता है । निगमन के द्वारा ही अनुमिति के प्रति कारण होनेवाले लिङ्गपरामर्श का प्रयोजक होनेवाली व्याप्ति और पक्षधर्मता के ज्ञान से प्रयुक्त साध्यज्ञान का उपपादन होता है । इस कारण यह निगमन का लक्षण निगमन में ही सङ्गमित होता है । गङ्गेश के व्याख्यात' रघुनाथ और रघुनाथ के व्याख्याता जगदीश तथा गदाधर ने इन अवयव के लक्षणों का अत्यन्त विचार और प्रखरता के साथ परिष्कार किया है । अगर उन पर हम विचार करें तो उसके लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी शायद पूरा नहीं पड़े , इस कारण इस प्रसङ्ग को यहाँ पर हमने अत्यन्त सङ्क्षेप में ही वर्णित करना उचित समझा है ।

क्या पाँच से कम अवयव नहीं हो सकते हैं ?

अनेक दर्शनसम्प्रदाय इस विषय में अपना अलग मत रखते हैं । कुछ पाँच से ज्यादा अवयव मानने के पक्षपाती हैं और कुछेक पाँच से कम अवयव मानना चाहते हैं जो लोग पाँच से ज़्यादा अवयव मानना चाहते हैं उनका मत प्रायः शुरुआत में ही निदर्शन केरूप में हमने प्रस्तुत कर दिया है । ऐसे लोगों की सङ्ख्या अत्यन्त कम है जो पाँच से ज़्यादा अवयव मानना चाहते हैं और उनके तर्क भी सतही हैं बहुत मजबूत नहीं हैं। परन्तु पाँच से कम अवयव माननेवालों की सङ्ख्या भी ज़्यादा है और उनके तर्क भी प्रखर हैं । इस कारण इस पर विचार कर लेना अत्यन्त आवश्यक लगता है कि क्या पाँच से कम अवयव नहीं माने जा सकते हैं जो नैयायिक पाँच ही अवयव मानने के लिए आग्रही हैं ? आइए इस विषय पर विचार करें । प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण , उपनय और निगमन में अगर हम देखें तो पाते हैं कि निगमन प्रायशः प्रतिज्ञा का ही पुनः कथन है । इस

कारण सबसे ज़्यादा सवाल निगमन और प्रतिज्ञा दोनों की आवश्यकता पर ही उठाये जाते हैं। सीधी सी बात है कि अगर निगमन और प्रतिज्ञा दोनों में से एक ही का अस्तित्व स्वीकार कर लेने से काम चल सकता हो तो फिर दोनों को क्यों स्वीकार किया जाये? इसके अलावा भी सवाल हैं कि भई इन दोनों की भी क्या ज़रूरत है ? प्रतिज्ञा का लाभ तो विप्रतिपत्ति से भी हो ही सकता है । निगमन की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है । इसके अतिरिक्त अगर प्रतिज्ञा , हेतु व उदाहरण से अथवा हेतु व उदाहरण से अथवा उदाहरण व उपनय से ही काम चल सकता हो तो पाँच अवयवों की आवश्यकता किसलिए ? ध्येय है अन्य अनेक दार्शनिक दो या तीन अवयवों की सत्ता मानने के पक्षपाती हैं । ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि आख़िर किस आधार पर नैयायिक पाँच अवयव मानते हैं । यहाँ पर मैं प्रतिपक्षियों की युक्तियों को प्रतिपक्षियों के ग्रन्थों से न देकर न्याय के ग्रन्थों के आधार पर ही दे रहा हूँ क्योंकि मेरा मानना है कि इस विषय में नैयायिकों द्वारा पूर्वपक्ष का अनुवाद भली प्रकार से किया गया है । कितने अवयवों का प्रयोग करना उचित होगा यही मूलभूत सवाल है । चूँकि परार्थानुमान के लिए ही अवयवों का प्रयोग किया जाता है अतः इस विषय में जयन्त भट्ट का उत्तर सही प्रतीत होता है कि *"यहाँ पर ख़ुद जाने हुए अर्थ को अनुमान से दूसरे के लिए प्रतिपादन करते हुए साधनीय अर्थ की सिद्धि जितने शब्दसमूह में परिसमाप्त हो ,उतने का ही प्रयोग करना चाहिए । उसी को ही परार्थानुमान कहते हैं"* ।[५०] मैं समझता हूँ कि प्रतिपक्षी भी जयन्त भट्ट के इस कथन से सहमत होंगे क्योंकि उनकी भी सम्मति इसीमें है कि कम अवयवों के प्रयोग से ही साधनीय अर्थ की सिद्धि परिसमाप्त हो जाती है । ऐसी स्थिति में हेतु और उदाहरण तक तो ठीक है क्योंकि हेतु कथन न होने पर किसके द्वारा साध्य की सिद्धि सम्भव हो सकेगी और उदाहरण का कथन न होने पर व्याप्ति का प्रदर्शन किस तरह से सम्भव होगा ? परन्तु अन्य अवयवों की क्या आवश्यकता है ? तो पहला सवाल है कि प्रतिज्ञा को क्यों स्वीकारते हो ? आप यह कह सकते हैं कि साध्य का ज्ञापन करने के लिए प्रतिज्ञा को स्वीकारते हैं । परन्तु साध्य का ज्ञापन तो विवाद से ही विप्रतिपत्ति से ही हो जाता है । तो आख़िर प्रतिज्ञा को क्यों स्वीकारते हो ? कथा के प्रारम्भ में मध्यस्थ विप्रतिपत्तिवाक्य का कथन तो करते ही हैं , उसके द्वारा ही प्रतिज्ञार्थ लब्ध हो जायेगा । तो इस पर जयन्त भट्ट कहते हैं कि परार्थानुमान का उद्देश्य है दूसरे में समझ पैदा करना । इसी के लिए अवयवों का प्रयोग किया जाता है। तो हम दूसरे को कैसे समझायेंगे , जिस तरह खुद समझते हैं उसी का अनुसरण करते हुए दूसरे को समझाना होगा । अपनी

का अनुसरण करते हुए ही हमको परप्रतिपत्ति को उत्पादित करना होगा । हमारी अपनी समझ में तो धर्मी प्रथमतया आख्येय ही होता है । आख़िर जब तक धर्मी का ज्ञान नहीं होगा तब तक किस तरह से आप अनुमान कर सकेंगे क्योंकि अनुमिति के लिए पक्षात्मक धर्मी का ज्ञान होना तो अनिवार्य होता है । जब तक धर्मी का उद्देश्य नहीं किया गया तब तक हेतु किस अधिकरण में अपने साध्य को सिद्ध करेगा ? इस कारण धर्मी का आख्यान करना तो अनिवार्य है । धर्मी से अनवच्छिन्न केवल धर्म के विषय में तो अनुमान करने की ही कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवल धर्म तो विना विवाद के ही सिद्ध है [५१]। शायद इसी कारण प्राचीन न्याय में हम पक्ष के लिए साध्यपद का प्रयोग पाते हैं क्योंकि केवल धर्म अर्थात् जिसको नव्यन्याय में साध्य कहा जाता है वह तो सामान्यतया सिद्ध ही है । पक्ष भी सामान्यतया सिद्ध ही है परन्तु साध्यविशिष्ट पक्ष ही असिद्ध है । उसको ही सिद्ध करना है । इसी कारण प्राचीन नैयायिक साध्य से विशिष्ट पक्ष को ही साध्य पद से सम्बोधित करते हैं । प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा ही धर्म से अवच्छिन्न धर्मी का उद्देश्य सम्भव होता है , अतः प्रतिज्ञावाक्य आवश्यक होता है । इस तरह से प्रतिज्ञा , हेतु और उदाहरण का प्रयोग सार्थक है । हेतु और उदाहरण की सार्थकता पर प्रश्न तो नितान्त अनुचित है क्योंकि इनका सार्थक्य तो प्रायशः समस्त दार्शनिकों को स्वीकारना ही है । अब शेष बचते हैं उपनय और निगमन । इन्हीं के विषय में ज़्यादा विवाद भी है । तो इन दोनों को स्वाकारने का क्या औचित्य है ? इस सवाल का जयन्त भट्ट यह उत्तर देते हैं कि "*इतना आप बतायें हम आपसे पूछते हैं कि क्या अपनी समझ की पद्धति या क्रम के अनुसार हम दूसरे को प्रतिपादित करने के लिए वाक्यरचना करते हैं या दूसरे के हृदय को समझ कर के हम दूसरे को प्रतिपादित करने के लिए वाक्यरचना करते हैं? इसमें से द्वितीय पक्ष तो सम्भव ही नहीं होता है क्योंकि दूसरे के अभिप्राय तो विचित्र होते हैं । कोई एक वाक्य से भी समझ लेता है और कोई पूरा का पूरा ग्रन्थ पढ़कर भी नहीं समझ पाता है । दूसरी बात यह है कि पर का अभिप्राय तो परोक्ष होता है हम दूसरे के मन की बात तो देखकर नहीं जान सकते हैं । इस कारण पराभिप्राय तो दुरवगम होने के कारण जाना नहीं जा सकता है । तो समस्या यह है कि हम क्या करें ? क्या धरती को उठाकर फेकें ,दूसरे को मुक्के से मारें या हाथ के इशारे से समझायें ? क्या केवल हेतुवाक्य का प्रयोग करें या तीन अवयवों का प्रयोग करें या पाँच अवयवों से ज़्यादा की कहानी कहें ? इस तरह से दूसरे के अभिप्राय के अनवस्थित होने के कारण अपनी समझ की पद्धति का अनुसरण करते हुए दूसरे को समझाना*

चाहिए। तो हमारी समझ के अनुसार हमें पहले पर्वतादि धर्मी दिखायी देते हैं , इस कारण हम प्रथमतः उसी को प्रतिज्ञा के द्वारा परार्थानुमान में कहते हैं । पर्वतादि धर्मी की उपलब्धि हो जाने के उपरान्त धूमादि हेतुओं की उपलब्ध होती है, इस कारण हम द्वितीयतः हेतु को हेतुवाक्य के द्वारा परार्थानुमान में कहते हैं। स्वार्थानुमान में हमें इसके उपरान्त जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है जैसे महानस इस तरह का व्याप्ति का स्मरण होता है , इसी कारण परार्थानुमान में हम हेतुवाक्य के उपरान्त उदाहरण वाक्य के द्वारा व्याप्ति का अभिधान करते हैं । व्याप्ति का स्मरण हो जाने के उपरान्त हमें परामर्श की उत्पत्ति होती है , इसी कारण परार्थानुमान में हम उदाहरण के द्वारा व्याप्ति का प्रतिपादन कर लेने के उपरान्त ***"तथा चायम्" "वह्निव्याप्यधूमवांश्चायम्"*** *इस तरह के उपनय के द्वारा परामर्श का ही प्रतिपादन करते हैं । स्वार्थानुमान में इसके उपरान्त यहाँ अग्नि है ऐसी अनुमिति की उत्पत्ति होती है । इसी कारण परार्थानुमान में हम निगमन के द्वारा उसी को कहते हैं"* ।[५२] इस तरह से हम देखते हैं कि जयन्त भट्ट मनोवैज्ञानिक आधार पर पाँच अवयवों की सत्ता व्यवस्थापित करने में अपने आपको सक्षम पाते हैं।

नव्यन्याय के प्रवर्तक आचार्यों में से एक मणिकण्ठ मिश्र ने इस विषय पर बहुत ही मौलिक दृष्टि से विचार किया है । मणिकण्ठ मिश्र का कहना है कि जो ज्ञान अनुमिति का साक्षात् जनक होता हो उसीका प्रतिपादन करना उचित है क्योंकि अगर परम्परया जनक ज्ञानों का भी प्रतिपादन करने लगोगे तो अनवस्था होने लगेगी । तो हम देखते हैं कि व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट अर्थ हेतु का ज्ञान ही अनुमिति का साक्षात् जनक होता है । अतः केवल व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट अर्थ हेतु के ज्ञान का ही प्रतिपादन युक्तिसङ्गत दिखायी देता है । इस कारण "*एतत्साध्यव्याप्यहेतुमान् अयम्*" इस तरह से अथवा "*एतद्वृत्तिरयंधर्मः साध्यव्याप्यः*" इस तरह से अथवा "*एतद्वृत्त्येतद्धर्मव्यापकं साध्यम्*" इस तरह से अवयव का प्रयोग करना चाहिए[५३] । हम देखते हैं कि मणिकण्ठ मिश्र यहाँ पर न्यायवैशेषिक परम्परा से विरुद्ध बात करते हुए दिखायी देते हैं । मणिकण्ठ मिश्र ने अपनी बात के समर्थन में महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं । जयन्त भट्ट की समस्त युक्तियों का खण्डन करते हुए उन्होंने अपने मत के व्यवस्थापित किया है । जयन्त भट्ट के समग्र मत का अनुवाद करते हुए मणिकण्ठ मिश्र ने कहा है कि जिस क्रम से स्वार्थानुमान की उत्पत्ति होती है उसी क्रम से परार्थानुमान की भी उत्पत्ति होती है। इसमें विशेष यही है कि स्वार्थानुमान में शब्द का प्रयोग नहीं होता है। परार्थानुमान में शब्द का प्रयोग होता है । तो पहले पक्ष का ज्ञान होता है और उसके उपरान्त पक्ष में वृत्ति धूम

का ज्ञान होता है । इसके बाद व्याप्ति का स्मरण होता है । इसके बाद परामर्श की उत्पत्ति होती है । उसके बाद अनुमिति होती है । उसी तरह से परार्थानुमान में भी होता है । तो यह कहना अनुचित है क्योंकि अगर स्वार्थानुमान में अलग क्रम से व्याप्ति का स्मरण होने के बाद परामर्श की उत्पत्ति होती है तो भी अनुमिति की उत्पत्ति होती ही है । इस कारण यह क्रम का उदाहरण नहीं हो सकता है ऐसा भी नहीं है कि पर्वतज्ञान के उपरान्त ही हेतु का ज्ञान होता है । यहाँ पर तो आप साध्य का निर्देश कर रहे हैं"[४] ।

अगर आप कहते हैं कि आकाङ्क्षा के क्रम से अभिधान करना है तो (उदाहरण के रूप में) "*शब्दो नित्यो न वा*" ऐसी विप्रतिपत्ति के बाद कहाँ पर किसका ज्ञापन करना है ऐसी आकाङ्क्षा होने पर शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध करना है इस आशय से ज्ञानलक्षणा वृत्ति से "*शब्दोऽनित्यः*" ऐसी प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाता है । इसके बाद आकाङ्क्षा होती है कि किस हेतु के द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना है । ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कृतकत्व के ज्ञान से इस आशय से ज्ञानलक्षणा से ही "*कृतकत्वात्*" इस तरह से हेतु का प्रयोग किया जाता है। इसी तरह से आगे भी अवयवों का प्रयोग किया जाता है। नहीं तो अनाकाङ्क्षित का अभिधान होने के कारण परप्रतिपत्ति सम्भव नहीं हो सकेगी"[५]। तो इस तरह से कहना भी अनुचित है क्योंकि "*शब्दो नित्यो न वा*"ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर "*गौतममत का आश्रय लेकर मुझको शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना है और उसके दूषणों का निराकरण करना है*" ऐसा एक स्वीकार करेगा। दूसरा भी "*जैमिनिमत को लेकर मुझको शब्दानित्यत्व में दूषण दिखाने हैं और शब्दनित्यत्व की स्थापना करनी है*" ऐसा स्वीकार करेगा । इसके बाद "*अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्वाश्रयः शब्दः*" इतना कह देने से ही आकाङ्क्षा पूरी हो जाती है क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग का प्रतिपादन कर दिया गया। इसलिए उससे अतिरिक्त का अभिधान अनुपयुक्त ही है । अगर व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग का प्रतिपादन कर देने पर भी अतिरिक्त का अभिधान करना है तो दूषणाभाव की प्रतिज्ञा भी करनी पड़ेगी । अगर आप यह कहते हैं कि "*नायमसिद्धो न वा बाधितः*" इस तरह से कण्टकोद्धरण के व्याज से दूषणाभाव की प्रतिज्ञा भी की ही जाती है। तो फिर तो पाँच अवयव नहीं रहे पाँच से ज़्यादा अवयव हो गये क्योंकि कण्टकोद्धरण भी तो आ गया। तो पाँच अवयव होते हैं आपका यह कथन आपके द्वारा ही खण्डित हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि कण्टकोद्धारवाक्य तो सार्वत्रिक नहीं होता है। इस कारण पाँच अवयव होते हैं यह मानना अनुचित हो जाता है"[६] ।

चलिए मान लेते हैं कि अन्य अवयवों की आवश्यकता है । परन्तु यह बताइए कि निगमन का कहाँ पर उपयोग होगा ? अगर कारणीभूतविज्ञानविषय का अभिधान करने के लिए निगमन की आवश्यकता है तो चार अवयवों की ही आवश्यकता होती है , यह सुस्पष्ट हो जाता है । यहाँ पर अन्ततः यही कहा जा सकता है कि अयोग और अन्ययोग का व्यवच्छेद करने के लिए निगमन का भी उपयोग है ही , तो पक्षसत्त्व , सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व का अभिधान भी करना आवश्यक होगा । अगर कहो कि इतर अवयवों के द्वारा यह कर दिया गया है तो यह कथन अनुपयुक्त है क्योंकि विपक्षव्यावृत्ति (विपक्षासत्त्व) का अभिधान किसी भी अवयव के द्वारा नहीं किया गया है । उसका अभिधान किसी न किसी के द्वारा होना ही चाहिए । अगर किसी भङ्गी से विपक्षव्यावृत्ति (विपक्षासत्त्व) के अभिधान में तात्पर्य हो भी तो केवलान्वयी में और केवलव्यतिरेकी में पाँच अवयवों का प्रयोग नहीं ही किया जाना चाहिए क्योंकि पाँच रूपों का अभिधान करने के लिए पाँच अवयवों का प्रयोग किया जा रहा है , परन्तु केवलान्वयी में और केवलव्यतिरेकी में तो पाँच रूप रहते ही नहीं हैं ,चार ही रूप रहते हैं । इस कारण केवलान्वयी में और केवलव्यतिरेकी में पाँच अवयवों का प्रयोग तो निरर्थक ही हो जाता है [५७]। इस तरह से नैयायिकों के पञ्चावयववाद का खण्डन कर देने के उपरान्त मणिकण्ठ मिश्र कहते हैं कि इसी करह से दो अवयव माननेवालों के मत में भी दूषण समझने चाहिए [५८]। इस प्रकार मणिकण्ठ मिश्र सिर्फ एक अवयव मानने के पक्ष में अपना अभिमत देते हैं ।

गङ्गेशोपाध्याय के सामने चुनौतियाँ बहुत ही विकट थीं । उनको न केवल अन्य दार्शनिकों द्वारा उपस्थापित मतों का खण्डन करना था । अपितु अग्रणी नैयायिक मणिकण्ठ मिश्र के मत का भी खण्डन करना था । गङ्गेश ने इन दोनों ही कार्यों को बख़ूबी निभाया । उन्होंने अन्य दार्शनिकों के मतों का खण्डन करते हुए मणिकण्ठ मिश्र के मत का भी खण्डन कर न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय के परम्परागत मत को ही परिपुष्ट किया । सबसे पहला सवाल था प्रतिज्ञा के विषय में । गङ्गेश प्रतिज्ञाविषयक पूर्वपक्ष को भलीभाँति उठाया और उसका समाधान दिया । प्रतिज्ञाविषयक यह पूर्वपक्ष है कि प्रतिज्ञा साधनाङ्ग नहीं है । विना प्रतिज्ञा के भी विप्रतिपत्ति से ही पक्ष का परिग्रह हो जाने के कारण उसमें प्रमाण की आकाङ्क्षा होती है । प्रमाण की आकाङ्क्षा होने पर हेतु का अभिधान ही प्रधानता को प्राप्त करता है । इस कारण हेतु का अभिधान ही सीधे-सीधे करना चाहिए । प्रतिज्ञा का अभिधान करने का क्या प्रयोजन है ? इस सवाल पर गङ्गेश

का उत्तर है कि "*शब्दोऽनित्यो न वा* इस विप्रतिपत्ति के उपरान्त "*मुझे न्यायरीति से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना है* और "*प्रतिपक्षी को मीमांसामत से शब्द का नित्यत्व सिद्ध करना है* इस तरह से समयबन्ध हो जाने के उपरान्त "*ठीक है तुम शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करो* इस तरह की वादी की या मध्यस्थ की आकाङ्क्षा होने पर शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करना है । इस कारण हेतु का प्रयोग ही करना है परन्तु विना साध्यनिर्देश के निष्प्रतियोगिक हेतुवाक्य किससे अन्वित होगा ? ऐसा तो सम्भव नहीं है कि वादिवाक्य में अनुपस्थित भी अन्वित हो सकता है क्योंकि अगर वादिवाक्य में अनुपस्थित का भी अन्वय होने लगे तो अतिप्रसङ्ग होने लगेगा , साध्य से अतिरिक्त अन्य अबाधितों का भी भान होने लगेगा । आख़िर आप किस आधार पर साध्य का अन्वय करेंगे और किस आधार पर साध्यातिरिक्त अबाधितों के अन्वय का वारण करेंगे? कोई आधार तो दिखाई नहीं दे रहा है । आप अगर कहें कि विप्रतिपत्ति से साध्य की उपस्थिति हो जायेगी तो आपका यह कथन भी अनुचित ही है क्योंकि विप्रतिपत्ति के बाद प्रतिवादिविप्रतिपत्ति आती है और प्रमाणादिव्यवस्था आती है । ऐसा इस कारण होता है क्योंकि परविप्रतिपत्ति और समयबन्ध के विना स्थापना सम्भव नहीं है । तो क्या हुआ कि विप्रतिपत्ति के बाद पक्ष का परिग्रह हुआ । पक्षपरिग्रह से विप्रतिपत्तिवाक्य निराकाङ्क्ष हो गया । निराकाङ्क्ष विप्रतिपत्तिवाक्य से हेतुवाक्य का अन्वय आख़िर किस तरह से सम्भव हो सकेगा ? इस कारण अगर आप कहते हैं कि विप्रतिपत्ति से हेतुवाक्य अन्वित हो जायेगा तो आपको विप्रतिपत्तिवाक्य की आवृत्ति करनी पड़ेगी । यदि आपने विप्रतिपत्तिवाक्य की आवृत्ति कर ली तब तो वही आवृत्ति ही प्रतिज्ञा हो जायेगी । आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि अवयवान्तर से हेतु के साथ अन्वययोग्य साध्योपस्थिति होती है और यह भी नहीं कह सकते हैं कि अवयवान्तर से आक्षेप से साध्योपस्थिति हो जाती है क्योंकि साध्य का अन्वय होने पर ही उसका अभिधान होगा और उसका अभिधान होने पर ही साध्य का अन्वय हो सकेगा । इस कारण अन्योन्याश्रय होने लगेगा । इस कारण साध्य की उपस्थिति प्रतीति की अनुपपत्ति से या प्रतीत की अनुपपत्ति से यहाँ पर आक्षेप के द्वारा सम्भव नहीं है । इस कारण आपको साध्य का निर्देश तो करना ही पड़ेगा । वही तो प्रतिज्ञा है [५९]। इस कारण प्रतिज्ञा आवश्यक है ।

प्रतिज्ञा के द्वारा साध्य का निर्देश कर देने पर *किस तरह से* ऐसी आकाङ्क्षा होती है । ऐसी आकाङ्क्षा होने पर साधनता को व्यक्त करनेवाले लिङ्ग का वचन ही उचित है। अगर लिङ्ग का वचन उक्त परिस्थिति में न किया जाये तो अनाकाङ्क्षित का अभिधान

होने के कारण निग्रह की आपत्ति आयेगी, वादी निगृहीत होने के कारण पराजित हो जायेगा। लोक में उसी क्रम से आकाङ्क्षा की निवृत्ति होती है । इस कारण प्रतिज्ञा के उपरान्त हेतु का उपन्यास किया जाता है । इस कारण हेतुवाक्य की भी अपेक्षा है ही [६०]।

हेतु का कथन कर देने के बाद *"यह हेतु साध्य का गमक किस तरह से होता है"* ऐसी आकाङ्क्षा होने पर दो का प्रदर्शन प्राप्त होता है व्याप्ति का और पक्षधर्मता का क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त हेतु ही अनुमापक हो सकता है । इस कारण इन दोनों का प्रदर्शन करना है । परन्तु सवाल यह है कि इनमें से हम किसका प्रदर्शन पहले करें तो इसमें प्राथम्य है व्याप्ति का । इस कारण व्याप्ति का प्रदर्शन करने के लिए प्रथमतया उदाहरण का प्रयोग किया जाता है[६१] । इस तरह उदाहरण की भी अपेक्षा होती ही है ।

उदाहरण के बाद आकाङ्क्षा होती है कि *"ठीक है व्याप्ति रहे परन्तु क्या व्याप्त पक्ष में है या नहीं "* अगर व्याप्त पक्ष में नहीं है तो साध्य की सिद्धि ऐसे हेतु से सम्भव नहीं है । इस कारण व्याप्त के पक्षधर्मत्व का प्रदर्शन करने के लिए उपनय का प्रयोग किया जाता है[६२] । अगर हम उपनय का प्रयोग न करें तो पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं सम्भव हो सकेगी क्योंकि व्याप्त के पक्षधर्मत्व का प्रतिपादन नहीं हुआ । इस कारण उपनयवाक्य का प्रयोग भी आवश्यक है । अगर आप कहें कि उदाहरण तक ही तीन अवयवों का ही प्रयोग किया जाये , तो यह कथन अनुचित है क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता का अवगाहन करनेवाले तृतीयलिङ्गपरामर्श का किसी भी दूसरे अवयव से लाभ नहीं हुआ है । उसके लाभ के लिए उपनयवाक्य का प्रयोग करना अनिवार्य है । अगर परामर्श का अस्तित्व न स्वीकार करें तो भी पक्षधर्मता का लाभ किसी अन्य अवयव से नहीं हो सका है । अतः पक्षधर्मता के लाभ के लिए उपनय का प्रयोग आवश्यक हो जाता है[६३] । यहाँ पर कोई यह कह सकता है कि हेतुवाक्य से पक्षधर्मता का लाभ हो जायेगा । परन्तु यह कथन भी अनुचित है क्योंकि साध्य का साधक हेतु क्या है ऐसी आकाङ्क्षा में हेतुवाक्य का प्रयोग होने के कारण हेतुवाक्य केवल हेतु के स्वरूप का उपस्थापक होता है[६४] । हेतु के पक्षधर्मत्व का बोधक नहीं होता है । इस कारण पक्षधर्मता के लाभ के लिए उपनयवाक्य का प्रयोग आवश्यक होता है ।

इस तरह से उपनयपर्यन्त अवयवों का प्रयोग अनिवार्य है । परन्तु सवाल यह है कि निगमन की क्या ज़रूरत है? आख़िर निगमन का प्रयोग किसलिए किया जाये क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु का ज्ञान होने जाने मात्र से अनुमिति की उत्पत्ति

होती है । व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु का प्रतिपादन तो प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण और उपनय से ही सम्पन्न हो गया । इस कारण निगमन की कोई आवश्यकता तो नहीं प्रतीत होती है । इस पर गङ्गेश का कहना है कि जब तक अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का लाभ नहीं होगा तब तक चारों ही अवयवों का पर्यवसान नहीं हो सकता है [६५]। अर्थात् जब तक अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का लाभ नहीं होगा तब तक व्याप्ति और पक्षधर्मता का लाभ हो जाने पर भी अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी ।

इसी प्रसङ्ग में गङ्गेश मणिकण्ठ मिश्र के मत को भी खण्डनार्थ उपस्थापित करते हैं कि अभिधान और अभिधेय दोनों का ही पर्यवसान व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग के प्रतिपादन से हो जाता है । तो केवल उपनय ही पर्याप्त है अन्य अवयवों की क्या आवश्यकता है? अन्य अवयवों का निराकाङ्क्षत्व ही है । विपरीतशङ्का की निवृत्ति का लाभ भी उसी से हो जाता है । अगर उपनय के द्वारा व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग के प्रतिपादन से भी विपरीतशङ्का की निवृत्ति का लाभ नहीं होता है तो निगमन के द्वारा भी विपरीतशङ्का की निवृत्ति का लाभ नहीं हो सकेगा क्योंकि निगमन भी विना विशेषदर्शन का आदर किए विपरीतशङ्का का निवर्तक नहीं हो सकता है। अतः विपरीतशङ्का की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें विशेष का दर्शन हो। उपनय के द्वारा जब व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग का प्रतिपादन हो रहा है तो विशेषदर्शन तो लब्ध ही हो गया । ऐसी स्थिति में अगर उपनय के द्वारा व्याप्ति और पक्षधर्मता से विशिष्ट लिङ्ग के प्रतिपादन से भी विपरीतशङ्का की निवृत्ति का लाभ नहीं हा रहा है , तो आख़िर किस तरह से निगमन के द्वारा भी विपरीतशङ्का की निवृत्ति का लाभ हो सकेगा ? यहाँ पर यह कहा जा सकता था कि निगमन सिद्ध का निर्देश करता है, परन्तु उपनय साध्य का निर्देश करता है । इस कारण उपनय के द्वारा विपरीतशङ्का का वारण नहीं सम्भव होने पर भी निगमन के द्वारा विपरीतशङ्का की निवृत्ति हो जायेगी। परन्तु यह कथन भी अनुचित है क्योंकि निगमन के द्वारा भी सिद्ध का निर्देश नहीं किया जाता है , स्वरूपमात्र का निर्देश किया जाता है अगर निगमन के द्वारा सिद्ध का निर्देश किया जाये तो समस्या यह भी है कि फिर तो निगमनघटक तस्मात् पद के अर्थ का अन्वय ही सम्भव नहीं होगा । तस्मात् पद में हेतुविभक्ति है हेतुविभक्ति का अर्थ साध्य में ही अन्वित हो सकता है सिद्ध में नहीं । इस कारण अगर उपनय के द्वारा विपरीतशङ्का का वारण सम्भव नहीं है तो निगमन के द्वारा भी विपरीतशङ्का का वारण सम्भव नहीं

होगा । तो ऐसी स्थिति में निगमन की कोई आवश्यकता तो दिखायी नहीं देती है [६६]।

मणिकण्ठ मिश्र के प्रश्न को इस रीति से परिष्कृत और परिमार्जित कर उठाने के उपरान्त गङ्गेश अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं कि निगमन की आवश्यकता इस कारण है क्योंकि व्याप्ति और पक्षधर्मता का ज्ञान रहने पर भी बाध और सत्प्रतिपक्षज्ञान से अनुमिति का प्रतिबन्ध देखा जाता है । इस कारण जब तक अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व का बोधन नहीं किया जायेगा , तब तक समीहितार्थ का निर्वाह यानी अनुमिति की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो पायेगी [६७]। यहाँ पर गङ्गेश का आशय यह है कि बाध और सत्प्रतिपक्षज्ञान साक्षात् अनुमिति के प्रतिबन्धक होते हैं । स्वार्थानुमान के स्थल में इसी कारण अगर किसी को बाध या सत्प्रतिपक्ष है तो अनुमिति की उत्पत्ति नहीं हो पाती है । परार्थानुमान में हम पर को अनुमिति का उत्पादन करना चाहते हैं । परन्तु अगर पर को बाध या सत्प्रतिपक्ष का ज्ञान है तो अनुमिति नहीं हो सकती है । इस कारण जब तक बाध और सत्प्रतिपक्ष का अभाव भी बोधित नहीं किया गया तब तक पर को अनुमिति का उत्पादन सम्भव नहीं होगा ।

यहाँ पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनुमिति के लिए बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है अपितु बाध और सत्प्रतिपक्ष का अभाव होना ही आवश्यक है । अनुमिति के लिए बाध और सत्प्रतिपक्ष का अभाव प्रयोजक होता है बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है , तथा असिद्धि भी है ,यह सिद्ध नहीं है कि बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान अनुमिति के प्रति कारण होता है । इस कारण किस लिए बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का बोध कराना चाहिए ? इस प्रश्न पर गङ्गेश का कथन है कि जिसका ज्ञान रहने पर जो नहीं होता है वह उसके अभाव के ज्ञान से साध्य होता है । चूँकि बाध और सत्प्रतिपक्ष के रहने पर अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है , इस कारण अनुमिति को बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव के ज्ञान से साध्य होना चाहिए । ऐसी स्थिति में परार्थानुमान के स्थल में बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान होना आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि बाध और सत्प्रतिपक्ष का ज्ञान रहने पर अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है इस कारण अनुमिति बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव के ज्ञान से साध्य होगी । तो बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव को बोधित कराना अनिवार्य हो जाता है । इस कारण निगमन के द्वारा बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान कराया जाता है [६८]। इस तरह से गङ्गेश निगमन की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं । अगर हम ध्यान से विचार करें तो पाते

कि निगमन की आवश्यकता का प्रतिपादन करने में गङ्गेशोपाध्याय का प्रयास उतना विश्वसनीय नहीं दिखायी दे रहा है, जितना विश्वसनीय गङ्गेश का कथन सामान्यतया हुआ करता है। बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान अनुमिति के लिए होना चाहिए यह कथन विचित्र और अविश्वसनीय सा है । **चिन्तामणि** की उपलब्ध समस्त टीकाओं में सबसे प्राचीन **प्रभा** टीका के लेखक यज्ञपति उपाध्याय गङ्गेश के इस कथन से अपने आपको असहमत बताते हैं । उनकी सम्मति इसी में है कि अनुमिति के लिए बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान आवश्यक नहीं है केवल बाध और सत्प्रतिपक्ष का अभाव ही कारण है। क्योंकि बाध और सत्प्रतिपक्ष अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होते हैं। प्रतिबन्धक के अभाव को ही कारण मानना उचित है, प्रतिबन्धक के अभाव के ज्ञान को कारण मानना उचित नहीं है। इसी कारण यज्ञपति उपाध्याय गङ्गेश के इस कथन से भिन्न मत रखते हुए यह सिद्धान्तित करते हैं कि बाध और सत्प्रतिपक्ष का अभाव अनुमिति के प्रति कारण होता है बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान अनुमिति के प्रति कारण नहीं होता है। यज्ञपति उपाध्याय इस विषय में अनेक युक्तियाँ भी प्रस्तुत करते हैं । उन युक्तियों का हम यहाँ पर विस्तारभय से प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं । परन्तु मूलभूत युक्ति यह है कि जब स्वार्थानुमान में बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव का ज्ञान कारण नहीं होता है तो परार्थानुमान में बाध और सत्प्रतिपक्ष के अभाव के ज्ञान को कारण क्यों माना जाये? गङ्गेश के मत का खण्डन करने में अनेक अन्य युक्तियों का प्रदर्शन भी यज्ञपति उपाध्याय के द्वारा किया गया है । इस विषय में लेखक ने एक विस्तृत विचार किया है, जिसको **चिन्तामणि** की **प्रभा** व्याख्या का सम्पादन करते हुए भूमिका में उपनिबद्ध किया है । उक्त ग्रन्थ श्रीकामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय से शीघ्र प्रकाश्य है।

कण्टकोद्धारवाक्य

परार्थानुमान के स्थल में प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण ,उपनय और निगमन का प्रयोग करने के उपरान्त कहीं-कहीं कण्टकोद्धारवाक्य का भी प्रयोग करना होता है । कण्टकोद्धारवाक्य से "*नायमसिद्धस्तल्लक्षणरहितत्वात्*" इस तरह के वाक्य से आशय है । अगर प्रतिज्ञादि के कथन के उपरान्त भी यह आशङ्का बनी रहे कि प्रस्तुत हेतु हेत्वाभास हो सकता है तो कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग पाँचों अवयवों का प्रयोग करने के उपरान्त करना अनिवार्य हो जाता है । अगर ऐसी स्थितित में कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग न किया जाये तो पाँचों अवयवों का प्रयोग कर देने के उपरान्त भी अनुमिति की

उत्पत्ति नहीं सम्भव हो पायेगी । इसी कारण कुछेक स्थलों पर कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग भी प्रतिज्ञा , हेतु , उदाहरण ,उपनय और निगमन का प्रयोग करने के उपरान्त करना पड़ता है । परन्तु इस कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग हर जगह पर नहीं किया जाता है । जिस स्थल में पञ्चावयवों का प्रयोग करने के उपरान्त भी हेतु के हेत्वाभासत्व की आशङ्का बनी रहे उस स्थल में कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग किया जाता है । अथवा जिस स्थल में वादी और प्रतिवादी में यह निश्चय हुआ हो कि कण्टकोद्धारवाक्य के साथ ही अनुमान का प्रयोग करना है , उस स्थल में कण्टकोद्धारवाक्य का प्रयोग किया जाता है । इसी क़ारण पाँच अवयवों से ज़्यादा अवयव नहीं होते हैं [६१]।

सन्दर्भसूची

१.अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्चेति । न्यायसूत्र १.१.५

२.पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते , यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति । शेषवत्-तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति । सामान्यतोदृष्टम्-व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य , तस्मादस्त्यादित्यस्य व्रज्येति । पृ.२८-२९ , न्यायभाष्य

३.सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्याः । का.१४ , कारिकावली

४.अथवा- पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति शेषवत् नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः । यथा सदनित्यम् इत्येवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसंशये न द्रव्यम् एकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात् । यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः । सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यात् अप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा ।
पृ.२८-२९ , न्यायभाष्य

५.तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा.सू. ५.२.९४

६.तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । पा.सू, ५.१.११५

७.त्रिविधमिति । अन्वयव्यतिरेकी , अन्वयी , व्यतिरेकी चेति । पृ. २९४ , न्यायवार्तिक

८.त्रिविधमिति सूत्रावयवगौरवादरात् वार्तिककार उद्भाष्यं व्याचष्टे- त्रिविधमितीति ।
ता. टी. पृ.३१३

९.इदं तु परिशेषस्य उदाहरणं नादरणीयम् । व्यतिरेकिणो हि नामान्तरमिदं परिशेष इति । एष पुनरन्वयव्यतिरेकी द्रव्यकर्मान्यत्वे सति सदाद्यभेदस्य सपक्षे रूपादौ सत्त्वात् विपक्षे

सामान्यादावभावात् ।   ता. टी. पृ.३२२

१०.तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टञ्च ।   पृ.५०७ , प्रशस्तपादभाष्य

११.तत्र दृष्टं प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजात्यभेदेऽनुमानम् । यथा गव्येव सास्नामात्रमुपलभ्य देशान्तरेऽपि सास्नामात्रदर्शनात् गवि प्रतिपत्तिः ।   पृ.५०७ , प्रशस्तपादभाष्य

१२.प्रसिद्धसाध्ययोरत्यन्तजातिभेदे लिङ्गानुमेयधर्मसामान्यानुवृत्तितोऽनुमानं सामान्यतोदृष्टम् । यथा कर्षकवणिग्राजपुरुषाणां च प्रवृत्तेः फलवत्त्वमुपलभ्य वर्णाश्रमिणामपि दृष्टं प्रयोजनमनुद्दिश्य प्रवर्तमानानां फलानुमानमिति । पृ.५०८-५०९ , प्रशस्तपादभाष्य

१३.वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगितवं केवलावन्वयित्वम् । पृ.१३५३ , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकं केवलान्वयि ।

पृ.५,दीधिति (केवलान्वयिप्रकरणम् नारायणीजागदीशीयुतम्)

१४.एवमगृहीतान्वयव्यतिरेकिसाध्यकं केवलव्यतिरेकि । पृ. १३ , तत्रैव

१५.गृहीतान्वयव्यतिरेकिसाध्यकमन्वयव्यतिरेकि । पृ. १३ , तत्रैव

१६.व्याप्तिग्राहकसहचारभेदाद्भेदे तु अन्वयसहचारमात्रगृहीतव्याप्तिकत्वं केवलान्वयित्वम्

पृ. २१ , तत्रैव

१७.सहचारभेदाद्भेदे व्यतिरेकसहचारमात्रगृहीतान्वयव्याप्तिकत्वं केवलव्यतिरेकित्वम् ।

पृ.८७, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

१८.एवमुभयसहचारगृहीतान्वयव्याप्तिकत्वमन्वयव्यतिरेकत्वम् ।

पृ.८८, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

१९.दशाविशेषे वह्निसाध्यकधूमादिहेतोरपि केवलान्वयित्वमङ्गीकुर्वतामाचार्याणां मतमाह-व्याप्तिग्राहकेति ।   पृ.२१, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

२०.अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्योद्व्योरेव ज्ञानमनुमितिहेतुः न तु व्यतिरेकसहचारान्वयसहचाराभ्यामेव अन्वयव्याप्तिमवगत्यैवानुमितिरिति चिन्तामणिकृतां मतमवलम्ब्याह–गृहीतेति ।

पृ.५८, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

२१.गृहीतव्याप्तिभेदाद्भेदे तु प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यानुमितिहेतुज्ञानविषयव्याप्तित्वव्यापक-प्रकृतसाध्यान्वयव्याप्तित्वकत्वं तत्त्वम् । पृ.५८-७२, दीधिति (जागदीशीकेवलान्वयिप्रकरणम्)

२२.गृहीतव्याप्तिभेदाद्भेदे तु प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यकानुमित्यौपयिकव्याप्तित्व-व्यापकव्यतिरेकव्याप्तित्वकत्वम् । पृ.८८-९०, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

२३.अन्वयव्यतिरेकित्वन्तु प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यकान्वयव्यतिरेकोभयपरामर्शजन्य प्रकृतहेतुकप्रकृतसाध्यकानुमितिकरणत्वम् । पृ.९१-९२, जागदीशी(केवलान्वयिप्रकरणम्)

२४.स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । ... यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं

प्रयुज्यते तत् परार्थानुमान् । तर्कसङ्ग्रह (अनुमितिप्रकरणम्)
न्यायप्रयोज्यानुमान् परार्थानुमान् । न्यायबोधिनी तत्रैव
२५.प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः । न्यायसूत्र १.१.३२
२६.न्यायत्वञ्च प्रतिज्ञाद्यवयवपञ्चकसमुदायत्वम् । अवयवत्वञ्च प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम् ।
तर्कसङ्ग्रहन्यायबोधिनी(अनुमितिप्रकरणम्)
२७.दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते –जिज्ञासा , संशयः , शक्यप्राप्तिः , प्रयोजनं ,संशयव्युदास इति । पृ.६२ , न्यायभाष्य
२८.प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था अवधारणीयार्थोपकारात् तत्त्वार्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागाः एकदेशाः अवयवा इति । पृ.६३ , न्यायभाष्य
२९.अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यं न्यायः ।
पृ.१४६०, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
३०.तत्र न समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकवाक्यं न्यायः –अत्रैव वाक्येऽतिव्याप्तेः ।
पृ.१४६०, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
३१.उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादिपञ्चकसमुदायत्वं न्यायत्वम् । पृ.१४६०, त.चि.दीधिति
३२.अवयवत्वन्तु न्यायन्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञाद्यन्यतमत्वम् । पृ.१४७०, त.चि.दीधिति
३३.साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । न्यायसूत्र १.१.३३
प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः । पृ.६४, न्यायभाष्य
३४.तत्र प्रतिज्ञा न साध्यनिर्देशः –साध्यपदेऽतिव्याप्तेः । पृ.१४८४, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
३५.किन्तूद्देश्यानुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वे सत्युद्देश्यानुमित्य-न्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजकं वाक्यम् । पृ.१४८४, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
३६.अन्यूनानतिरिक्तपदं विहाय लिङ्गाविषयकत्वं वा ज्ञानविशेषणम् ।
पृ.१५१५, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
३७.*अन्यूनेत्यादि*। तथा चोद्देश्यानुमितिसमानविषयकशाब्दज्ञानजनकन्यायावयवत्वमर्थः ।
पृ.१५१५, त.चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)
३८.अनुमितिविषयो विषयो यस्येति मध्यमपदलोपिसमासाभिप्रायेण समुदितलक्षणपर्यवसि-तार्थमाह–*तथा चेति* । पृ.१५१६, अनुमितिगादाधरी
३९.यद्यपि प्रकृतलिङ्गाविषयकत्वं पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वात् गन्धवती तथा गन्धात् इत्यादावव्यापकम् । पृ.१५१५, त.चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)
४०.तथापि पक्षतावच्छेदकविशिष्टपक्षे यत्साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यवैशिष्ट्यावगाहित्वं

तद्बहिर्भावेन लिङ्गविषयत्वस्याभावो वाच्यः । पृ.१५१६, त.चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)
४१.उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः । तथा वैधर्म्यात् । न्यायसूत्र १.१.३४-३५
४२.साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । न्यायसूत्र १.१.३६
तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् । न्यायसूत्र १.१.३७
४३.अनुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शपरवाक्यजन्यज्ञानजनकव्याप्यत्वाभिमतवन्निष्ठनियत-व्यापकत्वाभिमतसम्बन्धबोधजनकशब्दत्वमुदाहरणत्वम् ।

पृ.१५७१, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

४४.सामान्यलक्षणे साध्यसाधनसम्बन्धबोधकत्वम् । पृ.१५७१, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
४५.साध्यसाधनाभावसम्बन्धबोधकत्वञ्च विशेषलक्षणद्वयम् । पृ.१५७१, त.चि.तत्रैव
४६.उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः । न्यायसूत्र १.१.३६
४७.अनुमितिकारणतृतीयलिङ्गपरामर्शजनकावयवत्वमुपनयत्वमिति सामान्यलक्षणम् ।

पृ.१५७२, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

४८.अनुमितिहेतुलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानकारणव्याप्तिपक्षधर्मताधीप्रयुक्तसाध्यधीजनकं वाक्यम् । पृ.१५७३, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
४९.हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् । न्यायसूत्र १.१.३९
५०.इह हि स्वयमवगतमर्थमनुमानेन परस्मै प्रतिपादयता साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते , तावान् प्रयोक्तव्यः । तमेव च परार्थानुमानमाचक्षते नीतिविदः ।

पृ.८३ , न्यायमञ्जरी तृतीयखण्ड

५१.अपि च विवादादेव प्रतिज्ञार्थो लभ्यत इति किं कण्ठोक्तेन तेन प्रयोजनम् ? उच्यते , स्वप्रतिपत्तिमनुसरता परस्य प्रतीतिरुत्पादनीयेति स्वप्रतिपत्तौ प्रथममुपलब्धो धर्मी तावदाख्येय एव । अनुद्देश्यमाने धर्मिणि निरधिकरणो हेतुः क्व साध्यं साधयेत् ? धर्म्यनवच्छिन्ने च धर्ममात्रेऽनुमानमनर्थकमविवादसिद्धत्वात् । पृ.८४ , न्यायमञ्जरी तृतीयखण्ड
५२.इदं तावद् भवान् पृष्टो व्याचक्षाम् , किं स्वप्रतिपत्तिमनुसरन्तः परप्रतिपादनाय वाक्यरचनां कुर्म उत परहृदयानुवर्तनेनेति । तत्र पराभिप्रायस्य वैचित्र्यात् परोक्षत्वाच्च दुरवगमत्वेन न विद्मः किं विददमहे ? किं भुवमुत्क्षिपामः , किमरत्निना परं पीडयामः , उत हस्तसंज्ञया व्यवहरामः , आहो हेतुमात्रमेव केवलं प्रयुज्महे , किं वा त्र्यवयवं वाक्यमभिदध्मः , उत पञ्चावयवादपि वाक्यदधिकव्याख्यानकमस्मै वर्णयामः , इत्येवमनवस्थिततत्वात् पराभिप्रायस्य स्वप्रतिपत्तिमनुसरता परः प्रत्याय्यः । तत्र स्वप्रतिपत्तौ पर्वतादिधर्मी प्रथमं दृष्ट इति स प्रतिज्ञया कथ्यते । ततो धूमलिङ्गमुपलब्धमिति हेतुवचनेन तदावेद्यते । ततो यत्र यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानस इति व्याप्तिस्मरणमभवदिति दृष्टान्तवचसा तदभिधीयते । ततस्तथा

चायं धूम इति परामर्शज्ञानमुदपादीति तदुपनयवचनेन प्रतिपाद्यते । अतस्तस्मादत्राग्नि-रित्यनुमेयज्ञानमुपजायत इति निगमनेन तदुच्यते । पृ.१००-१०१ , न्यायमञ्जरी तृतीयखण्ड

५३.यज्ज्ञानमनुमितेः साक्षाज्जनकं तदेव प्रतिपादयितुमुचितम् । अन्यथा तज्जनकजनकपरम्परा-प्रतिपादनेऽनवस्था । व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञानं साक्षादनुमितिजनकमिति तावन्मात्रस्य प्रयोगो युज्यते । स च एतत्साध्यव्याप्यैतद्धर्मवानयमिति वा , एतद्वृत्तिरयं धर्मः साध्यव्याप्यः इति वा , एतद्वृत्त्यैतद्धर्मव्यापकं साध्यम् इति वा कर्तव्यः । पृ. १३६-१४२ , न्यायरत्न

५४. स्वार्थानुमानेऽपि यत्र व्याप्तिस्मरणमन्यथोत्पद्यते , ततो विशिष्टपरामर्शादनुमितिरुत्पद्यत एव । न त्वेतादृशक्रमोदाहरणम् । नापि पर्वतज्ञानान्तरमेव साध्यस्य तत्र प्रतीतिः । अत्र तु साध्यनिर्देशः क्रियते । पृ. १४२ , न्यायरत्न

५५.द्रष्टव्य-पृ.१४२-१४३ , न्यायरत्न

५६.तत्र , एतादृशि विप्रतिपत्तौ *गौतममतमाश्रित्य मया शब्दानित्यत्वमनुमापयितव्यम् तद्दूषणानि च निराकरणीयानि* इत्येकः । परोऽपि *जैमिनिमतमाश्रित्य मया तद्दूषणं वक्तव्यम् शब्दनित्यत्व-स्थापना च कर्तव्या* इत्यङ्गीकृतवान् । एतदनन्तरम् *अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्वाश्रयः शब्दः* इत्येतावन्मात्रेणाकाङ्क्षायाः पूर्णत्वादतिरिक्ताभिधानमनुपयुक्तमेव । अन्यथा दूषणाभावप्रतिज्ञामपि कुर्यात् । ननु नायमसिद्धो न विरुद्ध इत्यादिकण्टकोद्धरणव्याजेन दूषणाभावः प्रतिज्ञायत एव । मैवम् , एवं सत्यधिकावयवत्वप्रसङ्गः । न वा कण्टकोद्धारस्य सार्वत्रिकत्वम् ।

पृ. १४३, न्यायरत्न

५७.अपि च अन्यत्रास्तु यथा तथा निगमनस्य पुनः कुत्रोपयोगः ? यदि तावत्कारणीभूत-विज्ञानविषयाभिधाने , तदावयवयचतुष्टयमेवास्तु । अयोगान्ययोगव्यवच्छेदाभ्यामबाधिता-सत्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयप्रतिपादनपरतयास्त्येव निगमनस्योपयोगः इति चेत् , न पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्व-विपक्षाद्व्यावृत्त्याद्यभिधानमपितर्हिकर्तव्यम्। इतरावयवैस्तत्कृतमिति चेत् , न विपक्षव्यावृत्तेर-नभिधानात् । कयाचिद्भङ्ग्या तत्र तात्पर्येऽपि केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोः पञ्चावयवा-नभिधानप्रसङ्गात् रूपचतुष्टयस्यैव तयोः सद्भावात् । पृ. १४३-१४४, न्यायरत्न

५८.एवं द्व्यवयववादिमतेऽपि दूषणमूह्यम् । पृ. १४४ , न्यायरत्न

५९.ननु प्रतिज्ञा न साधनाङ्गं विप्रतिपत्तेः पक्षपरिग्रहे तत्र प्रमाणाकाङ्क्षायां हेत्वभिधानस्य प्राथम्यादिति चेन्न , विप्रतिपत्त्यग्रे समयबन्धानन्तरं शब्दानित्यत्वं साधयेति मध्यस्थस्य वादिनो वाकाङ्क्षायां शब्दानित्यत्वं साध्यम् । न च साध्यनिर्देशं विना हेतुवाक्यं निष्प्रतियोगिकमन्वयं बोधयितुमीष्टे । न च वादिवाक्येऽनुपस्थितमपि योग्यतया अन्वेति , अतिप्रसङ्गात् । न च विप्रतिपत्तितः साध्योपस्थितिः , तस्याः प्रतिवादिविप्रतिपत्त्या प्रमाणादिव्यवस्थया चान्तरितत्वात् परप्रतिपत्तिं समयबन्धञ्च विना स्थापनाया अभावात् , विप्रतिपत्तिवाक्यस्य पक्षग्रहेण पर्यवसिततया

निराकाङ्क्षत्वाच्च । आवृत्तौ तु सैव प्रतिज्ञा । ...तस्मात् प्रतीत्यनुपपत्त्या प्रतीतानुपपत्त्या वा नेहाक्षेपः । पृ.१५२९-१५३० , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

६०.साध्यनिर्देशानन्तरं कुत इताकाङ्क्षायां साधनताव्यञ्जकविभक्तिमल्लिङ्गप्रतिपादक-वचनमेवोचितम् , अन्यथाऽऽनाकाङ्क्षाभिधाने निग्रहापत्तेः , लोके तथैवाकाङ्क्षानिवृत्तिरिति व्युत्पत्तेरिति प्रतिज्ञानन्तरं हेतूपन्यासः । पृ.१५३५ , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

६१.हेतावुक्ते कथमस्य गमकत्वमित्याकाङ्क्षायां व्याप्तिपक्षधर्मतयोः प्रदर्शनप्राप्तौ व्याप्तेः प्राथम्यात् तत्प्रदर्शनायोदाहरणम् । पृ.१५७१ , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

६२.उदाहरणानन्तरं भवतु व्याप्तिस्तथापि व्याप्तं किं पक्षे वर्तते न वेत्याकाङ्क्षायां व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वप्रदर्शनायोपनयः । पृ.१५७२ , त.चि. (अनुमितिगादाधरी)

६३.उदाहरणान्त एव प्रयोग इति न वाच्यम् । तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य व्याप्तिपक्षधर्मतावगाहिनो-ऽवयवान्तरादलाभात् , तदनभ्युपगमेऽपि पक्षधर्मताया अलाभात् । पृ. १५७२-१५७३, तत्रैव

६४.न च हेतुवचनादेवतदवगमः , तस्य को हेतुरित्याकाङ्क्षायां प्रवृत्तत्वेन हेतुस्वरूपो-पस्थापकस्यातत्परत्वात् । पृ. १५७३, तत्रैव

६५.अबाधितासत्प्रतिपक्षितत्वयोरलाभे चतुर्णामप्यपर्यवसानात् । तत्रैव

६६.अथाभिधानाभिधेययोर्व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गप्रतिपादनादेव पर्यवसानेनावयवान्तराणां निराकाङ्क्षत्वं विपरीतशङ्कानिवृत्तेरपि तत एव लाभात् ,अन्यथा निगमनेनापि तदवारणात् न हि विशेषदर्शनमनादृत्यैव तन्निवर्तकम् । सिद्धनिर्देशतया वारयतीति चेत् ,न स्वरूपमात्रा-भिधानात् । साध्यत्वानुपस्थितौ तस्मादिति हेतुविभक्त्यनन्वयप्रसङ्गाच्चेति । तत्रैव

६७.व्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानेपि बाधसत्प्रतिपक्षबुद्धेः साध्यज्ञानानुत्पत्तिदर्शनात् तदभावाबोधने समीहितानिर्वाहात् । तत्रैव

६८.अथ बाधादिविरहस्य प्रयोजकत्वं न तु तद्बोधस्य मानाभावादसिद्धेश्च इति किमर्थं बाधादिविरहो बोधनीयः इति चेत् , न यदवगमे सति यन्न भवति तत्तदभावज्ञानसाध्यमिति व्याप्तेः । पृ. १५७४ , तत्रैव

६९.कण्टकोद्धारस्य च न सार्वत्रिकत्वम् समयविशेषोपयोगित्वादिति । तत्रैव

***

अनुमानाभास

अनुमानाभास नाम से न्यायपरम्परा में कोई चीज कही नहीं गयी है । हेत्वाभास पद का ही प्रयोग सामान्यतया किया गया है । परन्तु मैंने जानबूझकर यहाँ पर अनुमानाभासपद का प्रयोग किया है क्योंकि मैं यहाँ पर हेत्वाभासों से अलग भी अनेक आभासों को विवेचित करना चाहता हूँ । यद्यपि एक नैयायिक के लिए हेत्वाभास शब्द और अनुमानाभास शब्द पर्याय से दिखायी पड़ सकते हैं । परन्तु मैं यहाँ पर इन दोनों को अलग-अलग अर्थो में प्रयुक्त करना चाह रहा हूँ । मेरा अनुमानाभास शब्द का प्रयोग अनुमान के हर एक अङ्ग के जो भी आभास हो सकते हैं उन समस्त को अन्तर्भूत करते हुए अनुमान के दोषों के विषय में है । **न्यायसूत्रों** में केवल हेत्वाभासों की ही चर्चा उपलब्ध होती है । जब हम **न्यायभाष्य** तक अपना सफ़र पहुँचाते हैं तो हमको वहाँ पर हेत्वाभास से अतिरिक्त एक और आभास मिलता है न्यायाभास । **भाष्य**कार वात्स्यायन प्रथमसूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "*यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः*" (पृ.७, न्यायभाष्य) जो अनुमान प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध है उस अनुमान को हम न्यायाभास कहेंगे । परन्तु अगर हम ध्यान से विचार करें तो हम पायेंगे कि वात्स्यायन न्यायाभास पद का प्रयोग करते हुए किसी नवीन अर्थ को नहीं कह रहे हैं । अपितु वे न्यायाभास पद के द्वारा हेत्वाभास ही बता रहे हैं । इस तरह के अनुमान को परवर्ती नैयायिकों ने बाधित हेत्वाभास में अन्तर्भूत किया है । साधारण तौर पर हम नव्यन्याय के ग्रन्थों में हेत्वाभास पद का प्रयोग ही पाते हैं । सामान्यतया हमें न्यायपरम्परा के प्रकरणग्रन्थों में केवल हेत्वाभासों का विवेचन ही मिला करता है । तो सवाल यह भी है कि क्या यह न्यायपरम्परा, जो कि अनुमान पर सबसे ज़्यादा ध्यान देती है, की यह न्यूनता है? क्योंकि दर्शन के अन्य सम्प्रदायों में हेत्वाभास से अतिरिक्त अन्य आभासों की भी चर्चा मिलती है जैसे कि पक्षाभास , दृष्टान्ताभास आदि । इस प्रश्न पर भी विचार करना अनिवार्य दिखायी देता है । इस अध्याय में हम इन समस्त चर्चाओं पर गौर फरमायेंगे तथा यह विशेष रूप से प्रदर्शित करेंगे कि न्यायवैशेषिकपरम्परा में भी हेत्वाभासों से भिन्न आभासों का पर्याप्त विवेचन किया गया है । परन्तु सबसे पहले विशेष रूप से समादर को प्राप्त हेत्वाभास का विवेचन देखते हैं ।

हेत्वाभास और हेत्वाभासता के आधार

हेत्वाभास शब्द के न्यायवैशेषिकपरम्परा में दो अर्थ स्वीकृत और प्रचलित हैं । एक अर्थ है कि जो हेतु की तरह दिखलायी दे उसको हेत्वाभास कहते हैं । "*हेतुवदाभासन्ते इति हेत्वाभासाः*" । अब हेतु भी तो हेतु की तरह दिखलायी देता ही है तो क्या हेतु को भी हेत्वाभास कहेंगे ? इस पर उत्तर यह है कि हेतु के लिए हेतु की तरह दिखायी दे रहा है ऐसा प्रयोग होता ही नहीं है । उदाहरण के रूप में गाय के लिए को ऐसा प्रयोग नहीं करता है कि यह गाय की तरह दिखायी दे रही है । परन्तु गोभिन्न गोसदृश गवय के लिए हम ऐसा प्रयोग करते हैं कि यह गाय की तरह दिखायी दे रहा है । इसका तात्पर्य यह है कि इस तरह का प्रयोग भेद रहते हुए जब सादृश्य दिखायी दे रहा हो तभी होता है । तो यहाँ पर भी हेतु और हेत्वाभास में भेद है और इन दोनों में सादृश्य भी है । भेद क्या है? इनमें भेद यही है कि हेत्वाभास में हेतु का लक्षण नहीं रहता है । हेतुलक्षण न होने के कारण ये हेतु नहीं हैं और हेतु का सामान्य होने के कारण ये हेतुवत् आभासमान हैं जैसा कि **न्यायभाष्य**कार वात्स्यायन ने कहा है कि "*हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद् हेतुवदाभासमानाः*"(पृ.८१ , न्यायभाष्य) परन्तु यह तो हेतु से इनका भेद हुआ हेतु से इनका सामान्य क्या है ? हेतु से इनका सादृश्य क्या है ? तो हेतु से इनका सामान्य या सादृश्य यही है कि जिस तरह से प्रतिज्ञा के उपरान्त हेतु का प्रयोग किया जाता है उसी तरह से प्रतिज्ञा के उपरान्त ही हेत्वाभास का प्रयोग भी किया जाता है [१]। तो यह सुस्पष्ट हुआ कि हेतुलक्षण न रहने के कारण इनको हेत्वाभास कहा जाता है । ऐसी स्थिति में अगर हमें हेत्वाभास का लक्षण करना हो तो हेतुलक्षणाभाव ही हेत्वाभास का लक्षण हो सकता है । हेत्वाभास का लक्षण हेतुलक्षणाभाव के आधार पर करने की एक लम्बी परम्परा न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय में रही है । तो हेतु के लक्षण क्या हैं पक्षसत्त्व , सपक्षसत्त्व , विपक्षासत्त्व , अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व ये पाँच रूप ही हेतु के लक्षण हैं , तो इसका मतलब यह हुआ कि इन पाँच रूपों में से किसी का अभाव अगर रहेगा तो हम उसको हेतु न कह कर हेत्वाभास कहेंगे क्योंकि अगर कोई इन पाँचों ही रूपों से युक्त है तो वह साधक होता है और अगर इनमें से किसी भी रूप से हीन हुआ तो असाधक होता है । साधकत्व हेतु का धर्म है और असाधकत्व हेत्वाभास का धर्म है[२]। प्राचीन नैयायिकों में से अनेक ने पाँच हेत्वाभासों का सम्बन्ध हेतु के पाँच रूपों के साथ जोड़ने की कोशिश की है । जयन्त भट्ट ने कहा है कि व्याप्ति पञ्चलक्षणक होती है व्याप्ति के पाँच लक्षण होते हैं । उपर्युक्त पाँच रूप ही व्याप्ति के पाँच लक्षण हैं । अगर

ये पाँचों रूप हेतु में हैं तो हेतु साधक होगा । और इनमें से एक-एक लक्षण का अभाव होने पर उसको हम तत्तत् हेत्वाभास कहेंगे । पाँच रूपों में से एक-एक रूप के अभाव के आधार पर पाँच हेत्वाभास हुआ करते हैं [३]।

परन्तु अगर एक-एक रूप के अभाव के आधार पर पाँच हेत्वाभास हुआ करते हैं तो अगर किसीमें दो रूपों का अभाव है तो उसको हम क्या कहेंगे ? उसको तो कोई और हेत्वाभास मानना चाहिए । उदाहरण के रूप में हम देखें कि विरुद्ध हेतु में सपक्षसत्त्व भी नहीं रहता है और विपक्षासत्त्व भी नहीं रहता है । इसके तो दो रूप नहीं हैं तो इसको तो कोई और हेत्वाभास मानना चाहिए क्योंकि आप तो एक रूप का अभाव होने के कारण उसको हेत्वाभास मान रहे हैं । यहाँ पर तो दो रूप नहीं हैं । जिस तरह हत्या की सज़ा कुछ और होती है और चोरी की कुछ और उसी तरह से यहाँ पर भी एक रूप का अभाव होने पर और दो रूपों का अभाव होने पर कुछ अन्तर तो होना ही चाहिए। एक दूसरी भी समस्या है कि एक हेत्वाभास ऐसा भी होता है जिसमें कि इनमें से किसी भी रूप का अभाव रहता नहीं है । उसमें ये पाँचों ही रूप रहा करते हैं । उसको प्राचीन नैयायिक अन्यथासिद्ध[४] कहते हैं और नवीन नैयायिक व्याप्यत्वासिद्ध । उदाहरण के रूप में "*मनःपरमाणवः अनित्याः मूर्तत्वात्*" *घटवत्* मन के परमाणु अनित्य हैं क्योंकि वे मूर्त हैं जैसे कि घट मूर्त है और अनित्य है । यहाँ पर मूर्तत्व में पाँचों ही रूप विद्यमान हैं क्योंकि मूर्तत्व पक्ष मनःपरमाणुओं में भी रहता है , सपक्ष घटपटादि में भी रहता है , विपक्ष आकाशादि में नहीं रहता है , चूंकि प्रत्यक्ष या आगम से मनःपरमाणुओं का नित्यत्व भी सिद्ध नहीं है । अतः यह बाधित भी नहीं है । चूँकि नित्यत्व को सिद्ध करनेवाला कोई विपक्षी अनुमान भी उपस्थापित नहीं किया गया है । अतः यह सत्प्रतिपक्षित भी नहीं है । इस कारण इस मनःपरमाणु के अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए उपस्थापित हेतु मूर्तत्व को हेत्वाभास किस तरह से माना जा सकता है ? ये तो बहुत ही अजीब बात है कि इसमें हेतु के समस्त लक्षण या रूप विद्यमान हैं परन्तु आप इसको हेतु नहीं कह रहे हैं हेत्वाभास कह रहे हैं [५]।

इसमें प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि यह ठीक है कि किसी स्थल में विरुद्ध आदि में एक से ज्यादा रूपों की हानि होती है , परन्तु सपक्ष में वृत्ति का विच्छेद विपर्ययसिद्धि में प्रयोजक होता है । इसलिए विपक्ष में इसकी वृतिता होने पर भी सपक्षवृत्तिताव्यवच्छेद के आधार पर (किसी भी सपक्ष में न रहने के आधार पर) ही इसको विरुद्ध कहा जाता है [६]। विपक्ष से अप्रच्युत होने पर यह अपने साध्य को ही नहीं सिद्ध कर सकेगा । सपक्ष

में न रहने पर तो यह अपने से विपरीत को ही सिद्ध कर देता है क्योंकि किसी भी सपक्ष में न रहने का तात्पर्य यह हुआ कि उसमें साध्याभाव की व्यतिरेकव्याप्ति विद्यमान है। आख़िर स्वाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व ही तो व्यतिरेकव्याप्ति है। अगर साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व किसी में विद्यमान है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें साध्याभाव की व्याप्ति है । साध्याभाव की व्यतिरेकव्याप्ति विद्यमान रहने के कारण साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु साध्याभाव को ही सिद्ध कर देता है । आशय यह है कि यद्यपि विरुद्ध हेतु में सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व दोनों ही नहीं रहते हैं तथापि उसको विरुद्ध सिर्फ सपक्ष में न रहने के कारण कहा जाता है , क्योंकि किसी भी सपक्ष में न रहने के कारण वह साध्याभाव का साधक हो जाता है । दूसरी आशङ्का का समाधान वे यह देते हैं कि यद्यपि व्याप्यत्वासिद्ध में पाँचों ही रूप विद्यमान हैं तथापि इसको अन्यथासिद्ध कहा जाता है क्योंकि अगर साध्य और साधन में प्रयोज्यप्रयोजकभाव होता है तभी उनके प्रतिबन्ध का यानी व्याप्ति का निर्धारण होता है। परन्तु जो व्याप्यत्वासिद्ध है, उदाहरण के तौर पर मनःपरमाणु के अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु मूर्तत्व को लें , तो इसमें अनित्यत्व और मूर्तत्व में प्रयोज्यप्रयोजकभाव होता नहीं है। चूँकि इनमें प्रयोज्यप्रयोजकभाव नहीं है, अतः मूर्तत्व को हेतु बनाकर आप अनित्यत्व का अनुमान नहीं कर सकते हैं। "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*"इत्यादि स्थलों में साध्य वह्नि और साधन धूम में प्रयोज्यप्रयोजकभावरूप सम्बन्ध विद्यमान है । धूम वह्नि से प्रयोज्य होता है और वह्नि धूम का प्रयोजक। इस कारण धूम के द्वारा आप वह्नि का अनुमान कर पाने में ख़ुद को सक्षम पाते हैं। परन्तु अनित्यत्वसाधनार्थ प्रस्तुत मूर्तत्व हेतु के साथ साध्य का इस तरह का कोई सम्बन्ध है ही नहीं । इस कारण मूर्तत्व को हेतु बनाकर आप अनित्यत्व का अनुमान नहीं कर सकते हैं[7] ।

परन्तु अगर हम इन उत्तरों पर निष्पक्षता से विचार करें तो हम इनको किसी भी तरह से सन्तोषजनक नहीं मान सकते हैं। प्रथम प्रश्न के उत्तर पर यह सवाल फिर से उठ खड़ा होता है कि जहाँ पर एक ही अनुमान प्रयोग समस्तरूपों से रहित हो उस स्थल में आप कौन सा हेत्वाभास मानना पसन्द करेंगे? जैसे "*वायुः रूपवान् ज्ञानात्*" अगर इस तरह से कोई अनुमान का प्रयोग करे तो इस अनुमानप्रयोग में समस्त रूपों का अभाव विद्यमान है। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व , विपक्षासत्त्व और अबाधितत्व का अभाव तो इसमें है ही। साथ ही अगर किसी ने इस स्थल में "*वायुः रूपाभाववान् वायुत्वात्*" ऐसा विपरीत अनुमान उपस्थापित कर दिया तो यह हेतु सत्प्रतिपक्षित भी हो जायेगा। इसमें

असत्प्रतिपक्षितत्व का अभाव भी रहेगा । तो इस तरह से इस हेतु में पाँचों ही रूपों का अभाव है तो इसको कौन सा हेत्वाभास माना जायेगा ? विरुद्ध स्थल की तरह इस सवाल का उत्तर देना आसान नहीं होगा ।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर भी सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि व्याप्यत्वासिद्ध में किसी भी रूप का अभाव किसी भी तरह से व्यवस्थापित नहीं किया जा सका है । तो यह मानना लाज़िमी हो जाता है कि पाँचों रूपों में से किसी के अभाव के आधार पर हम हेत्वाभासता को निर्भर न करें । इसके अतिरिक्त केवलान्वयी में नियम से विपक्षासत्त्व सम्भव न होने के कारण पञ्चरूपोपपन्नता का अभाव रहता है । इसी तरह से केवलव्यतिरेकी में नियम से सपक्षसत्त्व सम्भव न होने के कारण पञ्चरूपोपपन्नता का अभाव रहता है । तो ऐसी स्थिति में केवलान्वयी के और केवलव्यतिरेकी के भी हेत्वाभास होने की पारी आ जाती है ।

प्रारम्भिक वैशेषिक दर्शन में भी हेतुरूपों के अभाव के आधार पर ही हेत्वाभासता स्वीकारे जाने के सङ्केत मिलते हैं । **प्रशस्तपादभाष्य** में हेतु के त्रैरूप्य को अनुमापकता के लिए आवश्यक माना गया है । यदि उनमें से कोई रूप नहीं है तो विरुद्ध , असिद्ध और सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होते हैं [८]। उसमें भी ऊपर प्रदर्शित आपत्तियों का निवारण सम्भव नहीं हो पाता है ।

व्याप्ति और पक्षधर्मता के रहने पर ही हेतु साध्य का साधक होता है । अतः व्याप्ति और पक्षधर्मता के अभाव के आधार पर भी कुछ नैयायिकों ने हेत्वाभासों का विभाग करने की कोशिश की है । इसमें प्रमुख हैं **न्यायरत्न** के प्रणेता मणिकण्ठ मिश्र इनका कहना है कि अनुमिति के प्रति कारण होनेवाले तृतीयलिङ्गपरामर्श के प्रमात्व के निरूपक होनेवाले व्याप्ति और पक्षधर्मता के वैशिष्ट्य का व्यतिरेक जिसमें हो उसको ही हेत्वाभास कहा जाता है । अगर हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता का वैशिष्ट्य रहेगा तो तृतीयलिङ्गपरामर्श प्रमात्मक होगा और अगर हेतु में व्याप्ति और पक्षधर्मता का वैशिष्ट्य नहीं रहेगा तो तृतीयलिङ्गपरामर्श अप्रमात्मक होगा । इस कारण तृतीयलिङ्गपरामर्श के प्रमात्व का निरूपक होता है व्याप्ति और पक्षधर्मता का वैशिष्ट्य और इस व्याप्ति और पक्षधर्मता के वैशिष्ट्य का अभाव होने पर हेत्वाभासत्व सम्पन्न होता है [९]।

नव्यन्याय की धारा में शायद गङ्गेशोपाध्याय ही हेत्वाभास शब्द के द्वितीय अर्थ की ओर सङ्केत करते हैं । इनके अनुसार हेत्वाभास शब्द का अर्थ है *"हेतोराभासाः हेत्वाभासाः"* अर्थात् हेतु के आभास या दोष ही हेत्वाभास पद से कहे जाते हैं । इस तरह

हेत्वाभास पद का अर्थ हेतुदोष होता है । यद्यपि गङ्गेश इसको शब्दशः नहीं कहते हैं और प्रथम अर्थ का निषेध भी नहीं करते हैं । तथापि उन्होंने पहले हेतुदोषों का लक्षण किया है और बाद में उन्होंने हेत्वाभासों का (असद्धेतुओं का) विभाग किया है । इस रीति से निर्वचन करने के कारण गङ्गेश उपर्युक्त समस्याओं से अपने आपको बचा ले जाते हैं । एक ही स्थल में अनेक हेत्वाभासों के सम्भावित होने पर क्या होगा ? जैसे "*वायुः रूपवान् ज्ञानात्*" इस तरह के अनुमानप्रयोग में क्या होगा ? इस सवाल का जवाब देते हुए गङ्गेश कहते हैं कि उपधेय का साङ्कर्य होने पर भी उपाधि का साङ्कर्य नहीं होता है , दुष्ट का साङ्कर्य होने पर भी दोषों का साङ्कर्य नहीं होता है। दुष्ट के एक होने पर भी दोषों का ऐक्य नहीं होता है [१०]। गङ्गेश के उत्तर का आशय यह है कि विरुद्ध में सपक्षसत्त्व नहीं है और विपक्षासत्त्व भी नहीं है । तो उसको हम सव्यभिचार भी कह सकते हैं क्योंकि वह विपक्ष में रहता है । उसको हम विरुद्ध भी कह सकते हैं क्योकि वह सपक्ष में नहीं रहता है । तो सपक्षसत्त्व न रहने के कारण हम उसको विरुद्ध कहें तो यह भी उचित है और अगर हम विपक्षासत्त्व न रहने के कारण हम उसको सव्यभिचार कहें तो यह भी अनुचित नहीं है । "*वायुः रूपवान् ज्ञानात्*" इस तरह के अनुमानप्रयोग में इसी रीति से हम चाहें तो हेतु को सव्यभिचार कहें , चाहें तो विरुद्ध कहें , चाहें तो असिद्ध कहें , चाहें तो बाधित कहें या चाहें तो सत्प्रतिपक्षित कहें। इनमें से हम जो भी कहेंगे वह सही होगा । दुष्टव्यवहारनियामक उपाधियाँ पाँच हैं इस कारण हेत्वाभासों का पाँच विभाग किया गया है । इसी कारण विभाग का व्याघात नहीं होता है । दूसरा जो सवाल था कि व्याप्यत्वासिद्ध किस तरह से दुष्ट कहा जायेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि दुष्टता का व्यवहार हेतुरूपाभाव पर आश्रित नहीं है इस कारण व्याप्यत्वासिद्ध के दुष्टत्व में कोई भी असुविधा नहीं है । इसी कारण केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी के हेत्वाभासता की आपत्ति भी नहीं आती है । तो गङ्गेश के मत में हेत्वाभासता का प्रयोजक हेतुरूपों का अभाव नहीं है , तो किस आधार पर हेत्वाभासता होती है । इस विषय पर यही कहा जा सकता है कि अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वेन हेत्वाभासता का व्यवहार होता है ।

हेत्वाभासलक्षण

न्यायपरम्परा में हेत्वाभासों के अनेक लक्षण प्रसिद्ध रहे हैं । परन्तु मैं यहाँ पर विस्तार से बचने के लिए गङ्गेशोपाध्याय द्वारा प्रस्तुत लक्षण ही प्रस्तुत कर रहा हूँ । गङ्गेश ने हेत्वाभासों के तीन लक्षण प्रस्तुत किये हैं [११]। इन तीनों ही लक्षणों में

अनुमितिपद से अनुमिति और अनुमितिकारणीभूत परामर्श दोनों को ही लेना है । उनमें प्रथम लक्षण है –“*अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानविषयत्वम्*” अनुमिति के प्रति कारण होनेवाला जो अभाव उस अभाव का प्रतियोगी जो यथार्थज्ञान उसका विषय होना ही हेतुदोष है । इस लक्षण के समन्वय को इस तरह से समझा जा सकता है कि न्यायमत में प्रतिबन्धक का अभाव भी कारण होता है । हेतुदोषों का ज्ञान रहने पर अनुमिति की उत्पत्ति नहीं होती है । हेतुदोषों का ज्ञान या तो अनुमिति के प्रति प्रतिबन्धक होता है अथवा अनुमिति के प्रति कारण होनेवाले परामर्श के प्रति प्रतिबन्धक होता है । दोनों ही स्थितियों में अनुमिति की उत्पत्ति हेतुदोषों का ज्ञान रहने पर नहीं हो सकती है । इस कारण समस्त हेतुदोषों में अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानविषयत्व आ जाता है। अतः लक्षण का समन्वय होता है। यथार्थ पद न देने पर भी इन स्थलों पर लक्षण का समन्वय होने में कोई असुविधा नहीं है। परन्तु सद्धेतु में भी लक्षण का समन्वय सम्भव होने के कारण अतिव्याप्ति अवश्य होती। जैसे “*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*” इस स्थल में अगर किसी को यह भ्रमात्मक ज्ञान हो कि “*पर्वतो वह्न्यभाववान्*” तो ऐसी स्थिति में “*पर्वतो वह्निमान्*” इस तरह की अनुमिति नहीं उत्पन्न हो सकती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि “*पर्वतो वह्निमान्*” इस तरह की अनुमिति के प्रति “*पर्वतो वह्न्यभाववान्*” ऐसा ज्ञान प्रतिबन्धक होता है । इससे कोई भी अन्तर नहीं पड़ता है कि “*पर्वतो वह्न्यभाववान्*” यह ज्ञान भ्रमात्मक है या प्रमात्मक । दोनों ही स्थितियों में इस ज्ञान से अनुमिति का प्रतिबन्ध होता ही है । तो इस कारण अगर आप लक्षण में यथार्थ पद न दें तो निश्चय ही सद्धेतु में भी भ्रमात्मक ज्ञान के आधार पर लक्षण का समन्वय करना सम्भव होने के कारण अतिव्याप्ति होगी । इसी लिए लक्षण में यथार्थ पद का उपादान किया गया है ।

दूसरा लक्षण है कि “*यद्विषयकत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं तत्त्वम्*” जिसको विषय करने के कारण लिङ्गज्ञान अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है। उसको हेतुदोष कहते हैं। इस लक्षण में लिङ्गपद अविवक्षित है [१२]। हेतुदोषों को विषय करने के कारण ज्ञान या तो अनुमिति का या तो अनुमिति कारणीभूत परामर्श का प्रतिबन्ध करता ही है। अतः हेत्वाभासों में लक्षणसमन्वय होने में कोई आपत्ति नहीं रहती है ।

तीसरा लक्षण है “*ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यत् तत्त्वम्*” जो ज्ञायमान होने से अनुमिति का प्रतिबन्धक हो उसको हेतुदोष कहेंगे । यह तीसरा लक्षण पूर्व के दो लक्षणों से इस विषय में विलक्षण है कि इसमें ज्ञान की प्रतिबन्धकता न स्वीकार कर ज्ञायमान

विषय की प्रतिबन्धकता स्वीकार करते हुए यह लक्षण किया गया है । अगर ज्ञान का प्रतिबन्धकत्व स्वीकारा जाये तो इस लक्षम का समन्वय सम्भव नहीं होता है । परन्तु अगर हम ज्ञायमान दोष की प्रतिबन्धकता स्वीकार कर लें तो इस मत में भी कोई असुविधा नहीं रह जाती है । इस रीति से दोषों का लक्षण कर लेने पर दोषवत्त्व ही दुष्ट हेतु का लक्षण है इस तरह से दुष्टहेतुओं का लक्षण कर लेना भी सम्भव होता है[१३] ।

इन लक्षणों पर रघुनाथ शिरोमणि , जगदीश तर्कालङ्कार , गदाधर भट्टाचार्य, और मथुरानाथ ने जिस तरह से सूक्ष्म परिष्कार आदि किये हैं , वे विद्वानों को अविदित नहीं हैं । वे आज श्रेष्ठ विद्वानों के लिए भी कसौटी बने हुए हैं । इन सबको दे पाना यहाँ पर सम्भव नहीं है ।

हेत्वाभास के भेद

न्यायसूत्रों में हेत्वाभास के पाँच भेद बताये गये हैं सव्यभिचार , विरुद्ध , प्रकरणसम , साध्यसम और कालातीत [१४]। प्रशस्तपाद ने हेत्वाभासों का चातुर्विध्य स्वीकार किया है –असिद्ध , विरुद्ध , सन्दिग्ध और अनध्यवसित । **न्यायसूत्र**कार और **न्यायभाष्य**कार जहाँ हेत्वाभासों के प्रभेदों का विवेचन नहीं करते हैं , वहीं प्रशस्तपाद हेत्वाभासों के प्रभेदों का विवेचन भी करते हैं । प्रशस्तपाद ने असिद्ध के चार भेद उभयासिद्ध , अन्यतरासिद्ध , तद्भावासिद्ध और अनुमेयासिद्ध के रूप में वतलाये हैं [१५]। परन्तु अन्य प्रभेदों की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है ।

परवर्ती न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में हेत्वाभासों के पाँच भेद ही प्रमुख रूप से स्वीकार किये गये हैं । परन्तु अगर हम **न्यायवार्तिक** से लेकर **तात्पर्यटीका** और **तात्पर्यपरिशुद्धि** पर विचार करें , तो पाते हैं कि इन नैयायिकों ने हेतु और हेत्वाभास के विभागों पर अनेक मौलिक विचार किये हैं । हेत्वाभासों के अनेक विभागों की चर्चा इन नैयायिकों ने की है , जो कि शायद अन्यत्र दुर्लभ है । उद्योतकर का कथन है कि काल, वस्तु और पुरुष के भेद से हेतु और हेत्वाभासों के भेद अपरिसङ्ख्येय हैं । सामान्यतः साध्यवस्तूपग्रह करते हुए हेतु और हेत्वाभासों का प्रपञ्च करें तो उनके एक सौ छिहत्तर भेद होते हैं [१६]। उनका भी केवल वस्तूपग्रह से भेद करें तो उद्योतकर के अनुसार हेतु और हेत्वाभास के दो हजार बत्तीस भेद हो जाते हैं [१७]। वाचस्पति मिश्र ने **तात्पर्यटीका** में और उदयनाचार्य ने **तात्पर्यपरिशुद्धि** में इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है । इस समग्र प्रकरण की व्याख्या करने के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा होगी । इस कारण मैं इस स्थल में इस विषय का परित्याग कर दे रहा हूँ ।

सव्यभिचार

सव्यभिचार का तात्पर्य है कि जो व्यभिचार से सहित हो । इसके अनेक लक्षणों को दूषित करते हुए गङ्गेशोपाध्याय ने इसका सिद्धान्तलक्षण किया है कि "*उभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्व ही सव्यभिचार का लक्षण है*"। साध्यसन्देह को उत्पन्न करनेवाली उभयकोटि अर्थात् साध्यकोटि और साध्याभावकोटि की उपस्थिति करानेवाला जो रूप, तद्रूपवत्त्व ही सव्यभिचार का लक्षण है[८]। "*पर्वतो धूमवान् वह्नेः*" पर्वत धूमवाला है क्योंकि वह वह्निमान् है। अगर ऐसा अनुमान करें तो इस अनुमान में धूमसाधक वह्निहेतु सव्यभिचार का उदाहरण बनता है । वह्नि में साध्यधूमकोटि का उपस्थापक रूप भी है और साध्याभाव धूमाभावकोटि का उपस्थापक रूप भी है। साध्यधूमकोटि का उपस्थापक रूप है "*धूमसहचरितत्व*" और साध्याभाव धूमाभावकोटि का उपस्थापक रूप है "*धूमाभावसहचरितत्व*"। इस तरह वह्नि में "*धूमधूमाभावसहचरितत्व*" दोनों ही विद्यमान हैं इस कारण उभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदक-रूपवत्त्व वह्नि में विद्यमान है । धूमसहचरितत्व के द्वारा धूमकोटि का उपस्थापन किया जाता है और धूमाभावसहचरितत्व के द्वारा धूमाभावकोटि का उपस्थापन किया जाता है। इस कारण सन्देह होता है कि पर्वत धूमवान् है या नहीं। इस कारण साधारण सव्यभिचार में लक्षणसमन्वय हो जाता है। असाधारण सव्यभिचार "*शब्दो नित्यः शब्दत्वात्*" में "*नित्यानित्यव्यावृत्तशब्दत्ववान् शब्दः*" शब्द नित्य और अनित्य दोनों से ही व्यावृत्त है। शब्दत्व न तो नित्य में रहता है और न ही अनित्य में रहता है। ऐसा ज्ञान होने की स्थिति में नित्यत्व की भी उपस्थिति होती है और अनित्यत्व की भी उपस्थिति होती है। तो इस स्थल में उभयकोटि का उपस्थापक रूप होता है नित्यानित्यव्यावृत्तत्व। चूँकि शब्दत्व न तो नित्य में रहता है और न ही अनित्य में रहता है । इस कारण यह असाधारणधर्म बन जाता है और इसी कारण सन्देह को उत्पन्न करता है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य है। यहाँ पर उभयकोटि का उपस्थापक रूप बनता है नित्यानित्यव्यावृत्तत्व । शब्दत्व में नित्यानित्यव्यावृत्तत्व विद्यमान है इस कारण यह शब्दत्व हेतु असाधारण सव्यभिचार में अन्तर्भूत होता है। इस तरह इसमें भी लक्षणसमन्वय होने में कोई असुविधा नहीं है। अगर हम समस्त पदार्थों को पक्ष बनाते हुए अनुमान करें कि "*सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्*" सब कुछ अनित्य है प्रमेय होने के कारण। तो यह अनुमान अनुपसंहारी होता है । इसमें भी लक्षणसमन्वय होने में कोई असुविधा नहीं है क्योंकि इस अनुपसंहारी सव्यभिचार में पक्षान्तर्गत घट आदि को लेकर हेतु में अनित्यत्वसहचरितत्व भी है और पक्षान्तर्गत गगन

आदि को लेकर हेतु में नित्यत्वसहचरितत्व भी है । इस तरह से यहाँ पर भी हेतु प्रमेयत्व में नित्यत्वानित्यत्वसहचरितत्व विद्यमान है । यही नित्यत्वानित्यत्वसहचरितत्व ही उभयकोटि का उपस्थापक रूप होता है । यह रूप हेतुभूत प्रमेयत्व में है इस कारण प्रमेयत्व को सव्यभिचार कहा जाता है ।

सव्यभिचार के भेद और उनके लक्षण

सव्यभिचार के तीन भेद न्याय परम्परा में स्वीकृत हैं । साधारण , असाधारण और अनुपसंहारी [१९]।

साधारण सव्यभिचार का लक्षण है–विपक्षवृत्तित्व अर्थात् साध्याभाववद्वृत्तित्व[२०] । अर्थात् जिस हेतु में विपक्षवृत्तित्व रहता है उस हेतु को साधारण सव्यभिचार कहते हैं । उदाहरण के रूप में हम देखें–"*पर्वतो धूमवान् वह्नेः*" इस तरह से वह्नि को हेतु बनाकर धूम का अनुमान अगर हम करते हैं तो वह्नि हेतु नहीं होता है अपितु साधारणसव्यभिचार हेत्वाभास होता है । इसका कारण यह है कि वह्नि में साध्याभाववद्वृत्तित्व विद्यमान है वह्नि धूमाभाव के अधिकरण में रहता है । हम देखते हैं कि धूम अयोगोलक में नहीं रहता है परन्तु वह्नि अयोगोलक में रहता है । इसको ही प्रशस्तपाद ने सन्दिग्ध हेत्वाभास के नाम से उपस्थापित किया है ।

असाधारण सव्यभिचार का लक्षण है–सर्वसपक्षव्यावृत्तत्व[२१] । अर्थात् जो हेतु किसी भी सपक्ष में न रहता हो उसको असाधारण सव्यभिचार कहा जाता है । यद्यपि **तर्कसङ्ग्रह** इत्यादि ग्रन्थों में असाधारण सव्यभिचार का लक्षण सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वमात्र नहीं बताया गया है । अपितु "*सपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः*" (तर्कसङ्ग्रह, अनुमितिप्रकरण) इस तरह से असाधारण सव्यभिचार का लक्षण बताया गया है । परन्तु हम इस लक्षण को गङ्गेशोपाध्याय द्वारा दूषित पाते हैं । यह ध्येय है कि **तर्कसङग्रह** के प्रणेता अन्नम्भट्ट गङ्गेश के परवर्ती है और उन्होंने **तत्त्वचिन्तामणि** पर एक व्याख्या भी लिखी है । परन्तु उन्होंने गङ्गेश से विपरीत बात कही है । मैं समझता हूँ कि शायद ऐसा इस कारण हुआ होगा क्योंकि अन्नम्भट्ट विद्यार्थियों के लिए ग्रन्थ में प्रवेशार्थ प्रारम्भिक ग्रन्थ लिख रहे थे । इसलिए समझाने के लिए सरलता जिससे हो ऐसा लक्षण बता दिया होगा । असाधारण सव्यभिचार को ही प्रशस्तपाद अपने ग्रन्थ में अनध्यवसित नाम से कहते हैं [२२]।

अनुपसंहारी का लक्षण है–"*व्याप्तिग्रहानुकूलैकधर्म्युपसंहाराभावो यत्र स हेतुत्वेनाभिमतः अनुपसंहारी*" [२३]। अर्थात् जिस स्थल में व्याप्तिग्रह के अनुकूल एक धर्मी का उपसंहार न

हो, वही अगर हेतु बना लिया गया हो तो उस स्थल में उक्त हेतु अनुपसंहारी होता है अथवा केवलान्वयी धर्म से अवच्छिन्न पक्ष हो जिस हेतु का उस हेतु को अनुपसंहारी हेत्वाभास कहा जाता है [२४]। व्याप्तिग्रह के लिए कम से कम एक धर्मी में साध्य और साधन का सहचार होना चाहिए या कम से कम एक धर्मी में साध्याभाव और साधनाभाव का सहचार होना चाहिए। अगर कहीं पर भी साध्य और साधन का सहचार नहीं गृहीत हुआ है और न ही किसी भी स्थल में साध्याभाव और साधनाभाव का सहचार गृहीत हुआ है तो व्याप्तिनिश्चय के अभाव में हेतु किस तरह से साध्यसाधन में सक्षम होगा । अनुपसंहारी स्थल की समस्या यही है कि यहाँ पर समस्त पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है तो दृष्टान्त नहीं रहने से व्याप्ति का निश्चय ही सम्भव न होगा । इसी कारण यहाँ पर केवल साध्यकोटि और साध्याभावकोटि की उपस्थिति ही होती है । अनुमिति नहीं होती है। तो सर्वपक्षक अनित्यत्वसाधक प्रमेयत्व हेतु नहीं होता है अपितु अनुपसंहारी हेत्वाभास होता है । यहाँ पर एक प्रश्न अवश्य उठ खड़ा होता है कि नैयायिक उपर्युक्त रीति से ही प्रस्तुत किये जानेवाले "*सर्वं प्रमेयं ज्ञेयत्वात्*" इस तरह के अनुमान को हेत्वाभास नहीं मानते हैं। यह अनुमान भी तो "*सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्*" का समानयोगक्षेम है। तो इसको अनुपसंहारी न मानने का क्या कारण है? इस सवाल के उत्तर में नैयायिकों का यह कहना है कि चूँकि सर्वत्व निश्चितसाध्यवत् प्रमेयघटपटादि में भी विद्यमान है। इस कारण पक्षतावच्छेदक केवलान्वयी नहीं है । अगर समस्त पदार्थों में साध्य का सन्देह होता तो सर्वत्व के पक्षतावच्छेदक होने पर केवलान्वयी धर्म पक्षतावच्छेदक होता । इसी कारण अगर विप्रतिपत्ति से किसी में भी साध्य का निश्चय न हुआ हो तो "*सर्वं प्रमेयं ज्ञेयत्वात्*" ऐसा अनुमान भी अनुपसंहारी ही होगा[२५] । ध्येय है कि बौद्ध समस्त पदार्थों को अनित्य मानते हैं । परन्तु वे जैसा अनित्य पदार्थों को मानते हैं क्षणिक । वैसा नैयायिकों के मत में कोई भी नहीं है । अतः बौद्ध द्वारा "*सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्*" ऐसा अनुमानप्रयोग होने पर प्रमेयत्व हेतु अनुपसंहारी ही होगा क्योंकि किसी भी धर्मी में बौद्धाभिमत साध्य का निश्चय नहीं हुआ है ।

नैयायिकों में कुछेक नैयायिक अनुपसंहारी को सव्यभिचार में अन्तर्भूत नहीं करते हैं । उनमें प्रमुख हैं मणिकण्ठ मिश्र । मणिकण्ठ मिश्र के मत में सव्यभिचार के दो ही भेद हैं –साधारण और असाधारण । अनुपसंहारी का अन्तर्भाव ये व्याप्यत्वासिद्ध में करते हैं । इसमें इनकी युक्ति है कि अनुपसंहारी साक्षात् दूषण नहीं होता है । इस कारण इसको सव्यभिचार का भेद मानना अनुचित है [२६]।

विरुद्ध

विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण है "*साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व*" [२७]जो साध्य के व्यापक होनेवाले अभाव का प्रतियोगी हो रहा हो उसको विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। उदाहरणस्वरूप "*ह्रदो वह्निमान् जलात्*" ह्रद वह्निमान् है क्योंकि वह जलवान् है । अगर हम ऐसा अनुमान करना चाहें तो इस अनुमान में विरुद्ध हेत्वाभास होगा । इसका कारण यह है कि यहाँ पर वह्नि का व्यापक होता है जल का अभाव । तो वह्निव्यापकीभूतजलाभाव का प्रतियोगित्व जल में विद्यमान है । अतः वह्निसाधनार्थ प्रस्तुत जल हेतु विरुद्ध हेतु कहा जायेगा ।

यहाँ पर यह सवाल अवश्य उठ खड़ा होता है कि ऐसे स्थल में साध्य और हेतु में विरोध रहता है । अतः अगर पक्ष में साध्यसिद्धि है तो हेतु पक्ष में नहीं रहेगा । अतः स्वरूपासिद्धि होगी । अगर हेतु की सिद्धि है , तो पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि होने के कारण बाध होगा । तो इन दोषों के रहने से ही अनुमिति का प्रतिबन्ध हो सकता है । अनुमिति के अनुत्पत्ति की व्याख्या की जा सकती है । फिर विरुद्ध को अलग से दोष मानने की क्या ज़रूरत है [२८] ? इस प्रश्न का उत्तर गङ्गेश यह देते हैं कि हेतु के द्वारा पक्ष में साध्याभाव का उपस्थापन करने पर ही बाध हो सकता है । इसका मतलब यह हुआ कि बाध का उपजीव्य हो रहा है विरोध । इस कारण विरोध ही प्रथमतया उपस्थित होने के कारण और बाध का उपजीव्य होने के कारण दोष होता है [२९]।

प्रकरणसम

अर्वाचीन न्यायवैशेषिकसाहित्य में इसको सत्प्रतिपक्ष नाम से जाना जाता है । इसका लक्षण है-"*साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थसमानबलोपस्थित्या प्रतिरुद्धकार्यकलिङ्गत्वम्*" अर्थात् साध्य के विरोधी के उपस्थापन में समर्थ समानबलवाली उपस्थिति के द्वारा जिस हेतु का कार्य प्रतिरुद्ध हो गया हो , उस हेतु को सत्प्रतिपक्ष कहते हैं [३०]। उदाहरण के तौर पर "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*" ऐसा परामर्श हुआ और "*पर्वतो वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्*" ऐसा परामर्श भी हुआ। इनमें से प्रथम परामर्श वह्नि के उपस्थापन में समर्थ है और द्वितीय परामर्श वह्न्यभाव के उपस्थापन में समर्थ है। दोनों ही परामर्शों में समानबल की उपस्थिति भी है क्योंकि दोनों ही परामर्शों में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों की उपस्थिति है। यह अवश्य है कि एक में व्याप्ति और पक्षधर्मता की उपस्थिति अयथार्थ है और दूसरे में यथार्थ। परन्तु इससे हमें तब तक कोई अन्तर नहीं पड़ता है , जब तक कि हमें यह

ज्ञात न हो कि कौन सी उपस्थिति यथार्थ है और कौन सी उपस्थिति अयथार्थ तो जब तक इन दोनों में से किसी के अयथार्थत्व का ज्ञान नहीं है । तब तक दोनों ही परामर्शों का समानबलत्व ही है । तो ऐसी स्थिति में न तो वह्नि की अनुमिति सम्भव होती है और न हो वह्नि के अभाव की अनुमिति ही सम्भव होती है । इसका कारण यह है कि तद्वत्ताबुद्धि के प्रति तदभाववत्ताबुद्धि प्रतिबन्धक होती है । तो वह्निमत्तानिश्चय रूप वह्नि की अनुमिति के प्रति "*पर्वतो वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्*" ऐसा परामर्श प्रतिबन्धक हो जायेगा और वह्न्यभाववत्तानिश्चयरूप वह्न्यभावानुमिति के प्रति "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*" ऐसा परामर्श प्रतिबन्धक हो जायेगा । यहाँ का प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव का नियम कुछ इस तरह का है-"*लौकिकसन्निकर्ष से न उत्पन्न होनेवाली और दोषविशेष से न उत्पन्न होनेवाली तद्वत्ताबुद्धि के प्रति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तदभाववत्तानिश्चय प्रतिबन्धक होता है और अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तदभावव्याप्यवत्तानिश्चय प्रतिबन्धक होता है*"[३४] । इसका निहितार्थ यह है कि अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तदभाववत्तानिश्चय रहने पर अथवा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तदभावव्याप्यवत्तानिश्चय रहने पर भी लौकिक सन्निकर्ष से या दोषविशेष से तद्वत्तानिश्चय हो सकता है । जैसे-यहाँ पर घट नहीं है ऐसा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित निश्चय रहने पर भी अगर चक्षु का घट के साथ संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष हो रहा हो तो यहाँ पर घट है , ऐसा चाक्षुषनिश्चय उत्पन्न होता ही है । इसी तरह से अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित तदभावव्याप्यवत्तानिश्चय रहने पर भी उपर्युक्त परिस्थिति में यहाँ पर घट है , ऐसा चाक्षुषनिश्चय उत्पन्न होता ही है । इसी तरह से शङ्ख पीला नहीं है ऐसा अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित निश्चय रहने पर भी अगर किसी को पीलिया रोग हुआ है तो उसको शङ्ख पीला है ऐसा चाक्षुषनिश्चय उत्पन्न होता ही है । यह निश्चय दोषविशेष से जन्य है । इन दोनों परिस्थितियों के अतिरिक्त इन नियमों का कोई अपवाद नहीं है । इस कारण उपर्युक्त विपरीत परामर्शों के काल में न तो वह्नि की अनुमिति सम्भव होती है और न ही वह्नि के अभाव की अनुमिति ही सम्भव हो पाती है क्योंकि अनुमिति न तो लौकिकसन्निकर्ष से जन्य होती है और न ही दोषविशेष से जन्य होती है । इस कारण दोनों ही हेतुओं में साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थपरस्परविरुद्ध समानबलोपस्थिति से प्रतिरुद्धकार्यकलिङ्गत्व आता है । इस तरह से लक्षण का समन्वय सम्भव होता है ।

क्या सत्प्रतिपक्षस्थल में संशयात्मिका अनुमिति होती है ?

सत्प्रतिपक्षस्थल में नवीन नैयायिक अनुमिति का स्वीकार तब तक नहीं करते हैं

जब तक कि सत्प्रतिपक्ष का निवारण न हो चुका हो । एक परामर्श में जब अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है तो वह अप्रामाण्यज्ञानास्कन्दित हो जाने के कारण न्यूनबल हो जाता है । इस कारण उसके द्वारा द्वितीय अनुमिति का प्रतिबन्ध सम्भव न होने के कारण द्वितीय अनुमिति हो जाती है । परन्तु **रत्नकोष**कार तरणि मिश्र का कथन इस विषय में कुछ नवीनता लिए हुए है । यद्यपि तरणि मिश्र का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। **रत्नकोष** के विषय में भी हम केवल गङ्गेश आदि के ग्रन्थों में ही पढ़ा करते हैं । परन्तु इनका मत इतना महत्त्वपूर्ण है कि मणिकण्ठ मिश्र , गङ्गेशोपाध्याय जैसे विद्वानों ने भी इनके मत को उद्धृत करते हुए खण्डित किया है । ये इस विषय में अपना मौलिक मत रखते हैं तथा कहते हैं कि सत्प्रतिपक्षस्थल में दोनों हेतुओं से अपने-अपने साध्य की संशयात्मिका अनुमिति हुआ करती है क्योंकि विरुद्धोभयसामग्री संशय को उत्पन्न करती है । सत्प्रतिपक्षस्थल में साध्य को सिद्ध करनेवाली सामग्री भी है और साध्याभाव को सिद्ध करनेवाली सामग्री भी है । इस तरह से विरुद्धोभयसामग्री होने के कारण न तो साध्य की निश्चयरूपा अनुमिति उत्पन्न हो सकती है और न ही साध्याभाव की निश्चयरूपा अनुमिति उत्पन्न हो सकती है । इस कारण साध्य और साध्याभावविषयिणी संशयात्मिका अनुमिति सत्प्रतिपक्षस्थल में उत्पन्न होती है । चूँकि संशयात्मिका अनुमिति सत्प्रतिपक्षस्थल में उत्पन्न होती है , अतः संशयजनक होने के कारण ही सत्प्रतिपक्ष दूषण होता है[३२] । अगर सत्प्रतिपक्षस्थल में अनुमिति हो सकती है , तो बाधस्थल में अनुमिति क्यों नहीं हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बाध अधिकबल होने के कारण अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है । इसलिए बाधस्थल में अनुमिति नहीं हो सकती है । परन्तु सत्प्रतिपक्ष तो समबल होता है । दोनों ही अनुमितियों की सामग्री विद्यमान है , तो किसके द्वारा किस अनुमिति का प्रतिबन्ध होगा । यहाँ पर अनुमिति का प्रतिबन्ध इस कारण करना सम्भव नहीं है । उदाहरण के रूप में साध्याभाव का ज्ञान साध्यानुमिति का प्रतिबन्धक होता है , परन्तु साध्याभावज्ञान के कारणीभूत नेत्रादि तो साध्याभावज्ञान के प्रतिबन्धक नहीं होते हैं । तो इसी रीति से साध्याभावज्ञान के प्रति कारणीभूत साध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्श भी साध्यानुमिति का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है । इस कारण बाध तो अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है । परन्तु सत्प्रतिपक्ष अनुमिति का प्रतिबन्धक नहीं होता है । इसी कारण बाध और परामर्श का अधिकबलत्व और न्यूनबलत्व हुआ करता है [३३]।

यहाँ पर यह सवाल उठ सकता है कि साध्यव्याप्यवत्तापरामर्श और साध्याभावव्याप्य-

वत्तापरामर्श दोनों ही तो निर्णायकत्वेन अवधारित हैं , तो इनके द्वारा संशय किस तरह से सम्भव होगा ? तो इसका उत्तर तरणि मिश्र यह देते हैं कि दोनों ही परामर्शों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अर्थात् संशयरूप होता है । प्रत्येक परामर्श संशय का जनक नहीं होता है । इस कारण परामर्शों का निर्णायकत्व भी प्रभावित नहीं होता है [३४]। अब यहाँ पर हमारी मजबूरी यह है कि हम तरणि मिश्र के मत को समझने के लिए उनके आलोचकों के ऊपर निर्भर हैं । परन्तु जैसा गङ्गेशोपाध्याय का स्वभाव है कि वे विरोधी के मत को नवीन उद्भावनाओं के साथ उपस्थापित करते हैं , उससे तो यही प्रतीत होता है कि गङ्गेश ने तरणि मिश्र के मत को प्रामाणिकता के साथ उठाया होगा ।

तरणि मिश्र के इस मत का गङ्गेशोपाध्याय खण्डन करते हैं कि साध्य और साध्याभाव में विरोध होने के कारण जैसे साध्यवत्ताज्ञान साध्याभाववत्ताज्ञान का प्रतिबन्धक हुआ करता है तथा साध्याभाववत्ताज्ञान साध्यवत्ताज्ञान का प्रतिबन्धक हुआ करता है । ठीक उसी तरह से साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञान भी साध्यवत्ताज्ञान का प्रतिबन्धक होता है तथा साध्यव्याप्यवत्ताज्ञान साध्याभाववत्ताज्ञान का प्रतिबन्धक होता है। इसको स्वीकार करना अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि विरोधी का ज्ञान होना ही प्रतिबन्धकता के मूल में है। तो जिस तरह से साध्य और साध्याभाव का विरोध है वैसे ही साध्य के साथ साध्याभावव्याप्य का विरोध भी है तथा साध्याभाव का साध्यव्याप्य के साथ भी विरोध होता है। इसलिए संशयात्मक अनुमिति का स्वीकार नहीं किया जा सकता है [३५]। बाद में रघुनाथ शिरोमणि , जगदीश व गदाधर भट्टाचार्य आदि ने रत्नकोषकार के समर्थन में और खण्डन में अनेक युक्तियों का आविष्कार किया है । उनमें ज़्यादातर लाघव और गौरव पर आधारित हैं [३६]। यहाँ पर यह अवश्य विचारणीय है कि सत्प्रतिपक्षस्थल में संशय का होना तो निश्चित ही है । यह अनुभव में आता है । अगर संशयात्मिका अनुमिति नहीं होती है तो संशय किस तरह से हो सकता है ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञान होने पर दोनों ही परामर्शों में अर्थात् दोनों ही व्याप्यवत्ताज्ञानों में जब तक अप्रामाण्य का संशय नहीं होता है । तब तक साध्यसंशय भी नहीं होता है । जब दोनों ही परामर्शों में अप्रामाण्य का संशय होता है तभी साध्यसंशय भी उत्पन्न होता है । इसका कारण यह है कि जब अप्रामाण्य का संशय होता है तो अप्रामाण्यज्ञान से अनास्कन्दित ज्ञान ही किसी का प्रतिबन्धक या कारण हो पाने से अनुमिति तो होनी सम्भव नहीं रह जाती है । परन्तु उभय कोटि की उपस्थिति होने के कारण मानस संशय सम्भव होता है । इस तरह से सत्प्रतिपक्ष के स्थल में अनुमिति का स्वीकार करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है ।

साध्यसम और उसके भेद

साध्य असिद्ध ही होता है । अगर वह सिद्ध है तो उसको हम साध्य नहीं कह सकते हैं । इसी कारण प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में असिद्ध को साध्यसम के नाम से जाना जाता रहा है । अर्वाचीन न्याय के ग्रन्थों में इसको असिद्ध नाम से जाना जाता है । असिद्ध होतु या असिद्धि दोष का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता है । यद्यपि उदयनाचार्य ने असिद्धि का एक लक्षण प्रस्तुत किया है– "*व्याप्तस्य हि पक्षधर्मताप्रतीतिः सिद्धिः तदभावोऽसिद्धिः*" (पृ.३९०,न्यायकुसुमाञ्जलि)अर्थात् व्याप्त के पक्षधर्मत्व की प्रतीति ही सिद्धि है और उसका अभाव ही है असिद्धि । परन्तु यह असिद्धि का लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि यह लक्षण तो सव्यभिचार में और विरोध में अतिव्याप्तिदोष से ग्रस्त है । इसी तरह से अन्य लक्षण भी अनेक नैयायिकों ने किये हैं वे भी खण्डित हो जाते हैं । इस असिद्धि के तीन भेद हैं आश्रयासिद्धि , स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि तथा इन तीनों के ही अलग-अलग लक्षण हैं । ये तीनों ही अलग-अलग दोष हैं और इन तीनों में से प्रत्येक के ज्ञान से अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है[३७] । इस तरह से इन तीनों को अलग-अलग दोष मानने पर सबसे बड़ी समस्या यह है कि ऐसा स्वीकार करने पर तो हेत्वाभासों का पञ्चविधत्व नहीं हो सकेगा , हेत्वाभासों के सात भेद हो जायेंगे । आख़िर आप खुद ही यह कह रहे हैं कि आश्रयासिद्धि , स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि तीनों ही अलग-अलग दोष हैं और इन तीनों में से प्रत्येक के ज्ञान से अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है । असिद्धि कोई एक दोष तो है नहीं जिससे कि शेष चार में असिद्धि को मिलाकर पाँच हेत्वाभास हो सकें । इस समस्या का समाधान गङ्गेशोपाध्याय यह देते हैं कि महर्षि गोतम ने परामर्शविषयाभावत्वेन तीनों ही असिद्धियों का अनुगम करते हुए तीनों का असिद्धत्वेन सङ्ग्रह किया है । इस कारण विभाग का व्याघात भी नहीं होता है और हेत्वाभासों का आधिक्य भी नहीं होता है [३८]। परन्तु इस रीति से समाधान देने पर यह प्रश्न फिर से उठाया जा सकता है कि इस तरह से तो हेत्वाभासों का द्वैविध्य ही हो सकता है परामर्शविरोधित्वेन एक विभाग कर दिया जाये और अनुमितिविरोधित्वेन एक विभाग कर दिया जाये। अनुमिति के विरोधी बाध और सत्प्रतिपक्ष होंगे तथा परामर्श के विरोधी शेष तीनों ही होंगे । तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि महर्षि तो स्वतन्त्रेच्छ हैं उनको न तो आप कहीं पर नियोजित कर सकते हैं कि इस तरह से करिए और न ही आप उनका निषेध ही कर सकते हैं कि इस तरह से मत करिए [३९]। आशय यह है कि अगर हेत्वाभासों का इस रीति से विभाग किया जाता कि हेत्वाभास दो तरह के होते हैं परामर्शविरोधी और

अनुमितिविरोधी, तो यह भी ठीक था । अगर इन तीन असिद्धियों का अलग परिगणन करते हुए विभाग किया जाता तो यह भी ठीक ही होता क्योंकि यह विभाग विभाग करनेवाले की इच्छा पर निर्भर है । इस कारण महर्षि ने जो विभाग किया है उस पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है ।

आश्रयासिद्धि

पक्ष में पक्षतावच्छेदक अगर न रहे तो इसको आश्रयासिद्धि नाम से जाना जाता है। तत्स्थलीय हेतु को आश्रयासिद्ध कहते हैं । उदाहरण के रूप में अगर अनुमान का प्रयोग किया जाये कि "*काञ्चनमयपर्वतो वह्निमान् धूमात्*" काञ्चनमयपर्वत वह्निमान है धूम के कारण । तो इस अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष आता है क्योंकि पक्ष पर्वत में काञ्चनमयपर्वतत्व नहीं है । पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव है [४०]।

स्वरूपासिद्धि और भागासिद्धि

पक्ष में अगर हेतु न रहे तो इसको स्वरूपासिद्धि कहा जाता है । ऐसा हेतु स्वरूपासिद्ध नाम से जाना जाता है । उदाहरण के रूप में "*ह्रदो द्रव्यं धूमात्*" ह्रद द्रव्य है क्योंकि वहाँ पर धूम है । इस तरह का अनुमान प्रयोग किया जाये तो पक्षीभूत ह्रद में धूम के न रहने के कारण यहाँ पर स्वरूपासिद्धि दोष आता है । अगर हेतु पक्ष के एकदेश में न रहे तो भागासिद्धि दोष होता है और हेतु को भागासिद्ध कहा जाता है । उदाहरण के रूप में "*सर्वे घटाः रूपवन्तः पृथिवीत्वात्*" समस्त घट रूपवान हैं क्योंकि वे पृथिवी हैं । यह अनुमान भागासिद्ध है क्योंकि इस अनुमान में हेतु पृथिवीत्व समस्त पक्षों में नहीं रहता है अपितु केवल पार्थिव घटों में ही रहता है । अपार्थिव सुवर्णादिनिर्मित घटों में पृथिवीत्व नहीं रहता है । इस रीति से भागासिद्धि को स्वरूपासिद्धिविशेष ही समझना चाहिए [४१]।

व्याप्यत्वासिद्धि

व्याप्यत्व का अर्थ है व्याप्ति । इसका तात्पर्य यह हुआ कि अगर कहीं पर व्याप्ति की सिद्धि न हो तो उसको हम कहते हैं व्याप्यत्वासिद्धि । असिद्धि दो तरह की हो सकती है एक तो अभावरूपा असिद्धि और दूसरी अज्ञानरूपा असिद्धि[४२] । इसका तात्पर्य यह है कि अगर कहीं पर व्याप्ति नहीं है तो भी व्याप्यत्वासिद्धिनामक दोष आयेगा और अगर कहीं पर व्याप्ति है कि नहीं अलग बात , परन्तु उस व्याप्ति का निश्चय नहीं हो पा रहा है तो इसको भी हम व्याप्यत्वासिद्धि ही कहेंगे । इस व्याप्यत्वासिद्ध के अनेक भेद हो सकते हैं । अगर किसी स्थल पर साध्य की , हेतु की या व्याप्ति की प्रसिद्धि नहीं है तो

भी व्याप्यत्वासिद्धि दोष आता है । क्योंकि इन समस्त परिस्थितियों में व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो पाती है । व्यर्थविशेषण भी इसी में अन्तर्भूत होता है क्योंकि व्यर्थविशेषण में भी उस विशेषण से विशिष्ट में व्याप्ति का ग्रहण सम्भव नहीं होता है[४३] । सोपाधिक हेतु को भी व्याप्यत्वासिद्ध हो माना जाता है क्योंकि इसमें व्याप्ति ही नहीं रहती है ।

बाध

पक्ष में साध्य का अभाव ही बाध है[४४]। पक्ष में अगर साध्याभाव का निश्चय हो तो अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है । जैसे "*ह्रदो वह्निमान् द्रव्यत्वात्*" हम इस तरह से अनुमान का प्रयोग करें तो यहाँ पर "*ह्रदो वह्न्यभाववान्*" यह बाध है । इस स्थल पर "*ह्रदो वह्न्यभाववान्*" ऐसा निश्चय रहने के कारण "*ह्रदो वह्निमान्*" इस अनुमिति का प्रतिबन्ध हो जाता है ।

यहाँ पर सवाल यह है कि बाधस्थल में अगर पक्ष में हेतु है तो निश्चय ही व्यभिचारदोष आयेगा और अगर पक्ष में हेतु नहीं है तो निश्चय ही स्वरूपासिद्धिदोष आयेगा । ऐसी स्थिति में स्वीकृत उक्त दोषों के आधार पर ही अनुमिति की अनुत्पत्ति की व्याख्या आप कर सकते हैं । अलग से बाध को दोष मानने की क्या आवश्यकता है ? इस पर गङ्गेशोपाध्याय कहते हैं कि प्रथमतः तो बाध का ज्ञान व्यभिचारज्ञान से भिन्न होता है । द्वितीयतः यदि परामर्श की उत्पत्ति के बाद बाध का ज्ञान उत्पन्न हो तो वहाँ पर व्यभिचार का ज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता है क्योंकि व्यभिचारनिश्चय तो अनुमिति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है क्योंकि अनुमिति के साथ तो इसका कोई विरोधिविषयत्व ही नहीं है , ज्ञान तो विरोधिविषयक होने से ही प्रतिबन्धक हो सकता है । व्यभिचारज्ञान से परामर्श का प्रतिबन्ध सम्भव था , परामर्श तो उत्पन्न हो चुका । तो हम अनुमिति का निवारण किस तरह से कर सकते हैं । इस कारण वहाँ पर बाध के द्वारा ही अनुमिति का प्रतिबन्ध स्वीकार करना पड़ेगा । तीसरी बात यह है कि अगर "*उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्*" उत्पत्तिकालावच्छिन्न घट गन्धवान् है क्योंकि वह पृथिवी है। अगर हम इस तरह से अनुमान करना चाहें और "*उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धव्याप्य पृथिवीत्ववान्*" ऐसा परामर्श उत्पन्न हो गया तो इस स्थल में अनुमिति का निवारण सिर्फ़ बाध के कारण हो सकता है । यहाँ पर बाध के अलावा कोई दूसरा दोष नहीं है । यहाँ पर न तो व्यभिचार है क्योंकि पृथिवीत्व में गन्ध की व्याप्ति भी है और न ही स्वरूपासिद्धि ही है क्योंकि पृथिवी में पृथिवीत्व रहता भी है । इस कारण यहाँ पर बाध के द्वारा ही अनुमिति का प्रतिबन्ध स्वीकार किया जा सकता है[४५] । यहाँ पर बाध इस कारण सम्भव

है क्योंकि उत्पत्तिक्षण में द्रव्य क्षणभर निर्गुण और निष्क्रिय रहता है ऐसा न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय का सिद्धान्त है । इसलिए "*उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धाभाववान्*" ऐसा बाध तो सम्भव ही है और उसके द्वारा अनुमिति का प्रतिबन्ध भी सम्भव है[४६]।

अप्रयोजक हेतु या सोपाधिक हेतु

शास्त्रों में बार-बार अप्रयोजक हेतु की चर्चा मिलती है । अप्रयोजकत्व का अर्थ है अनुकूलतर्क का अभाव[४७]। जिस स्थल में व्याप्ति को सिद्ध करनेवाला अनुकूलतर्क न रहे उस हेतु को अप्रयोजक कहा जाता है । उदाहरण के रूप में अगर हम अनुमान करें कि "*अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः*" अयोगोलक धूमवान है क्योंकि वह वह्निमान है। तो इस अनुमान में व्यभिचारदोष नहीं दिखलाया जा सकता है क्योंकि जहाँ पर अयोगोलक में व्यभिचार दिखाया जा सकता था उसी को पक्ष बना लिया गया है । तो यहाँ पर या तो सोपाधिकत्व का उद्भावन किया जा सकता है या तो व्यभिचारशङ्का की जा सकती है। सोपाधिकत्व दो तरह का हो सकता है निश्चितोपाधि और शङ्कितोपाधि । तो व्यभिचारशङ्का या सोपाधिकत्वशङ्का का निवारण करनेवाला कोई अनुकूलतर्क होना चाहिए। वह्निसाध्यकधूमहेतुकस्थल में "*धूमो वह्निव्यभिचारी न वा*" इस तरह की व्यभिचारशङ्का हो सकती है । इस व्यभिचारशङ्का का निवारक तर्क होता है "*यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्*" अगर धूम वह्नि का व्यभिचारी होता तो निश्चय ही वह वह्नि से जन्य नहीं होता । इस तर्क के रहने के कारण धूमहेतुक वह्नि का अनुमान निरापद हो जाता है । परन्तु वह्निहेतुकधूमसाध्यकस्थल में अगर "*वह्निर्धूमव्यभिचारी न वा*" इस तरह की व्यभिचारशङ्का हो जाये तो इस व्यभिचारशङ्का का निवारक कोई तर्क विद्यमान है नहीं । इस कारण व्यभिचार का निश्चय न होने की दशा में भी अनुकूल तर्क न रहने के कारण अनुमान सम्भव नहीं हो पाता है ।

उपाधि का आशय है साध्यव्यापक साधनाव्यापक धर्म से । अगर साध्यव्यापक साधनाव्यापक कोई धर्म मिल रहा हो तो उपाधिदोष होता है । ऐसा धर्म ही उपाधि कहा जाता है[४८]। वह्निहेतुकधूमसाध्यकस्थल में साध्य धूम का व्यापक और साधन वह्नि का अव्यापक धर्म होता है आर्द्रेन्धनसंयोग । वही आर्द्रेन्धनसंयोग ही उपाधि है । परन्तु कुछेक उपाधियाँ ऐसी भी होती हैं जो कि साध्यव्यापक और साधनाव्यापक नहीं होती हैं। उदाहरण के रूप में अगर हम अनुमान करें कि "*स श्यामः मित्रातनयत्वात्*" चूँकि वह मित्रा का लड़का है इस कारण श्याम होगा । तो इस तरह का अनुमान सोपाधिक अनुमान है । मित्रा का तनय होने के कारण श्याम होने का नियम नहीं हो सकता है । सन्तान के

रूपरङ्ग का निर्धारण होता है गर्भावस्था में लिये गये भोजन के आधार पर। अगर गर्भावस्था में शाक आदि का सेवन किया गया हो तो होने वाली सन्तान श्यामवर्ण की होती है । अगर गर्भावस्था में दुग्ध आदि का सेवन किया गया हो तो होने वाली सन्तान गौरवर्ण की होती है । तो मित्रा का तनय इस कारण से श्याम नहीं हो सकता है कि वह मित्रा का तनय है । मित्रातनय के श्यामत्व का प्रयोजक होता है शाकपाकजन्यत्व। अगर शाकपाकजन्यत्व है तो मित्रातनय श्याम हो सकता है , परन्तु अगर शाकपाकजन्यत्व नहीं है तो मित्रातनय श्याम नहीं हो सकता है । यहाँ पर शाकपाकजन्यत्व को उपाधि माना जाता है । मित्रा के अनेक पुत्र हैं वे समस्त पुत्र श्याम हैं । परन्तु मित्रा का भावी पुत्र भी श्याम ही होगा अगर कोई यह अनुमिति करना चाहता है तो यह उचित नहीं है। पहले के पुत्रों के समय में मित्रा ने गर्भकाल में शाक का सेवन किया था । इस कारण वे समस्त पुत्र श्याम थे । इस बच्चे के गर्भकाल में मित्रा ने शाक का सेवन नहीं किया है । इस कारण बच्चे के उत्पन्न होने के बाद व्यभिचार भी देखा जा सकता है । परन्तु जब तक बच्चे की उत्पत्ति नहीं हुई है तब तक तो व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता है । अन्य कोई दोष तो इस अनुमान में है नहीं । ऐसी स्थिति में यहाँ पर सिर्फ़ उपाधि दोष ही स्वीकारा जा सकता है । शाकपाकजन्यत्व ही यहाँ पर उपाधि है । परन्तु यहाँ पर इसको उपाधि किस तरह से माना जाये क्योंकि उपाधि का लक्षण आपने किया है साध्यव्यापक होते हुए साधनाव्यापक होना । साध्य है श्यामत्व उसका व्यापकत्व शाकपाकजन्यत्व में नहीं है । श्यामत्व तो घटादि में भी है , परन्तु घटादि में शाकपाकजन्यत्व नहीं है । इस कारण हम पाते हैं कि शाकपाकजन्यत्व में साध्यव्यापकत्व ही नहीं है । अगर साध्यव्यापकत्व ही नहीं है तो साधनव्यापकत्व न होने से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है । जो साध्य का व्यापक नहीं है वह अगर साधन का भी व्यापक नहीं है तो इससे कोई फ़र्क पड़ेगा नहीं । इस कारण साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व न तो उपाधि का लक्षण हो सकता है और नही उपाधि का स्वरूप ही हो सकता है । तो उपाधि का स्वरूप क्या है? और उपाधि का लक्षण क्या है ?

उपाधि का स्वरूप बताते हुए गङ्गेशोपाध्याय मानते हैं कि "*यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं भवति तत्त्वमुपाधेर्लक्षणम्*" जिसका व्यभिचारी होने के कारण साधन साध्य का व्यभिचारी होता है , उसका धर्म ही है उपाधि का स्वरूप इसी को रघुनाथ शिरोमणि लक्ष्यतावच्छेदक धर्म मानते हैं[४९]। उदाहरण के तौर पर देखें तो वह्नि आर्द्रेन्धनसंयोग का व्यभिचारी होता है , आर्द्रेन्धनसंयोग के न रहने पर भी वह्नि रहा

करता है इस कारण वह्नि आर्द्रेन्धनसंयोग का व्यभिचारी होता है । धूम आर्द्रेन्धनसंयोग के रहने पर ही हो सकता है । अतः वह्नि आर्द्रेन्धनसंयोग का व्यभिचारी होने के कारण धूम का भी व्यभिचारी होता है । फलतः धूमसाध्यक वह्निहेतुक स्थल में आर्द्रेन्धनसंयोग ही उपाधि होता है । इसी तरह मित्रातनयत्व शाकपाकजन्यत्व का व्यभिचारी होने के कारण श्यामत्व का व्यभिचारी होता है । आगामी मित्रातनय में शाकपाकजन्यत्व नहीं है परन्तु मित्रातनयत्व है । इस तरह से मित्रातनयत्व शाकपाकजन्यत्व का व्यभिचारी होता है । मित्रातनयत्व शाकपाकजन्यत्व का व्यभिचारी होता है । इसीलिए मित्रातनयत्व श्यामत्व का भी व्यभिचारी होता है । इसीकारण शाकपाकजन्यत्व उपाधि होता है ।

उपाधि का लक्षण है *"पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्व"* , पर्यवसितसाध्य का व्यापक होते हुए साधनाव्यापक होना। यहाँ पर पर्यवसित शब्द का क्या अर्थ है यह बताते हुए गङ्गेश कहते हैं कि यद्धर्मावच्छेदेन साध्य प्रसिद्ध है तदवच्छिन्न साध्य को ही पर्यवसित साध्य कहा जाता है[५०]। *"स श्यामः मित्रातनयत्वात्"* इस स्थल में श्यामत्व मित्रातनय में अर्थात् मित्रातनयत्वावच्छेदेन प्रसिद्ध है । इसकारण उपाधि में अर्थात् शाकपाकजन्यत्व में मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्व का व्यापकत्व लेना है । शाकपाकजन्यत्व में मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्व का व्यापकत्व तो है ही क्योंकि मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्व तो पहले उत्पन्न श्याम तनयों में ही है । उन सबमें ही शाकपाकजन्यत्व विद्यमान है। इस कारण शाकपाकजन्यत्व में पर्यवसितसाध्य का व्यापकत्व विद्यमान है । परन्तु शाकपाकजन्यत्व में साधन मित्रातनयत्व का व्यापकत्व नहीं है । मित्रातनयत्व तो आगामी पुत्र में भी है परन्तु उसमें शाकपाकजन्यत्व नहीं है । अतः साधनाव्यापकत्व भी होने के कारण यह उपाधि होता है । साध्य जिस धर्मावच्छेदेन प्रसिद्ध होता है ऐसा धर्म कहीं पर साधन ही होता है और किसी स्थल में महानसत्वादि होते हैं कहीं पर द्रव्यत्वादि हो जाते हैं[५१]। उदाहरण के रूप में अगर हमने अनुमान का प्रयोग किया कि *"वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शवत्त्वात्"* वायु प्रत्यक्ष है क्योंकि उसका प्रत्यक्षस्पर्श होता है । तो इस अनुमान में उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि होता है क्योंकि द्रव्यत्व से अवच्छिन्न बाह्यप्रत्यक्षत्व रूपी साध्य का व्यापक उद्भूतरूपवत्त्व होता है । इस तरह से उद्भूतरूपवत्त्व में पर्यवसितसाध्य का व्यापकत्व विद्यमान है । परन्तु प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्व हेतु का व्यापकत्व नहीं है । अतः पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वविशिष्टसाधनाव्यापकत्व उद्भूतरूपवत्त्व में है । अतः यह उपाधि होता है ।

उपर्युक्त रीति से इस उपाधि के तीन भेद होते हैं –केवलसाध्यव्यापक , पक्षधर्मावच्छिन्न-

साध्यव्यापक और साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक[५२]। धूमसाध्यकवह्निहेतुकस्थल में केवलसाध्यव्यापकत्व आर्द्रेन्धनसंयोग में आता है । *"वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शवत्त्वात्"* वायु प्रत्यक्ष है क्योंकि उसका प्रत्यक्षस्पर्श होता है । इस अनुमान में उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि में पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्व है । *"स श्यामः मित्रातनयत्वात्"* इस स्थल में साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्व उपाधि में आता है ।

उपाधि का दूषणत्व

उपाधि को किस तरह से दूषण माना जाये इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक दिखता है । तो उपाधि को साक्षात् दूषण मानना सम्भव नहीं है क्योंकि उपाधि न तो साक्षात् अनुमिति की ही प्रतिबन्धक होती है और न ही यह परामर्श को ही प्रतिबन्धक होती है । इन दोनों में से जो किसी का प्रतिबन्धक होता है उसको ही दूषण माना जा सकता है । परन्तु जो किसी हेत्वाभास का उपजीव्य होता है उसको भी हेत्वाभास मानने की परम्परा है । उदाहरण के रूप में सत्प्रतिपक्ष को व्यभिचार का उपजीव्य होने के कारण दोष माना जाता है । परन्तु सत्प्रतिपक्ष तो साक्षात् भी अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है । उपाधि तो अनुमिति का साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं है परन्तु व्यभिचार की उपजीव्य अवश्य है । तो उपाधि को किस तरह से दूषण माना जाये ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उपाधि का दूषणत्व दो तरह से हो सकता है या तो उपाधि व्यभिचार की उन्नायक होने के कारण दूषण बनती है । अथवा यह सत्प्रतिपक्ष का उन्नायक होने के कारण दूषण बनती है[५३]। वस्तुतः तो उपाधि को व्यभिचार का उन्नायक होने के कारण ही दोष मानना उचित है । स्वयं गङ्गेश ने **उपाधिप्रकरण** में इसी में अपनी सम्मति दी है । उपाधि सत्प्रतिपक्षोद्भावक होने के कारण दूषण नहीं हो सकती है इसमें गङ्गेश युक्ति देते हैं कि जिस तरह से सत्प्रतिपक्ष में दूसरे सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन नहीं किया जाता है उसी तरह से उपाधि अगर सत्प्रतिपक्षोत्थापक होने के कारण दूषण होती तो सत्प्रतिपक्षस्थल में इसका उद्भावन सम्भव नहीं होता । परन्तु सत्प्रतिपक्षस्थल में भी उपाधि का उद्भावन किया जाता है । अतः उपाधि का दूषकत्व सत्प्रतिपक्षोत्थापकतया नहीं हो सकता है[५४]। तो सिद्धान्ततः उपाधि का दूषणत्व व्यभि-चारोन्नायकतया ही स्वीकार्य है ।

सिद्धसाधन

जिस तरह से बाध अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है उसी तरह से सिद्धि भी अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है । तो जिस तरह से अनुमिति का प्रतिबन्धक होने के कारण बाध को दोष माना जाता है उसी तरह से सिद्धसाधन को भी दोष क्यों नहीं माना

जाता है ? इसको भी दोष समानयुक्ति से मानना चाहिए । तो इसका उत्तर यह है कि सिद्धि न तो ज्ञान में प्रतिबन्धक होती है क्योंकि धारावाहिक ज्ञान भी देखा जाता है और न ही अनुमिति के प्रति ही सिद्धि प्रतिबन्धक होती है क्योंकि सिद्धि के रहने पर भी सिसाधयिषा रहने पर अनुमिति की उत्पत्ति होती है । यह अनुभवसिद्ध है । अतः सिद्धसाधन दोष नहीं है[५५] ।

पक्षाभास और दृष्टान्ताभास

नैयायिकों पर अन्य दार्शनिक प्रश्न उठाते हैं कि आप बाध को हेत्वाभास माना है परन्तु यह कहिए कि इसको हेत्वाभास आप किस आधार पर मानते हैं । इसको तो पक्षाभास मानना ज़्यादा समुचित होता । इसी तरह दृष्टान्त का साधनरहित होना दृष्टान्त का दोष होता है । इन सबका निरूपण अलग से किया जाना चाहिए था । परन्तु आपने इनका निरूपण नहीं किया है । इसका जयन्त भट्ट ने बहुत समुचित समाधान दिया है कि अगर आप ध्यान से विचार करें तो ये पक्षाभास और दृष्टान्ताभास हेतु के ही दोष होते हैं । इसी कारण तत्त्वदर्शी मुनि ने इनका अलग से निर्वचन नहीं किया है [५६]।

स्वयं जयन्त भट्ट ने पक्षाभासों का विवेचन करते हुए कहा है कि पक्षाभास के अनेक भेद हो सकते हैं , जैसे प्रत्यक्षविरुद्ध पक्ष , अनुमानविरुद्ध पक्ष , शब्दविरुद्ध पक्ष, उपमानविरुद्ध , अप्रसिद्धविशेषण , अप्रसिद्धविशेष्य , अप्रसिद्धोभय आदि । प्रत्यक्षविरुद्ध पक्ष होता है "*अग्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्*" यहाँ पर प्रत्यक्ष से ही यह सिद्ध है कि अग्नि उष्ण होता है । "*चक्षुर्न रूपग्राहि द्रव्यत्वात्*" इस तरह का अनुमान अनुमानविरुद्ध पक्ष का उदाहरण है । यहाँ पर अनुमान से ही यह सिद्ध होता है कि चक्षु रूप का ग्राहक होता है। शब्दविरुद्ध के तो अनेक भेद हैं जैसे आगमविरुद्ध , स्ववचनविरुद्ध , लोकप्रसिद्धिविरुद्ध इत्यादि । "*सुरा ब्राह्मणेन पेया पेयत्वात्*" यह आगमविरुद्ध का उदाहरण है । "*माता मे वन्ध्या स्त्रीत्वात्*" इत्यादि स्ववचनविरुद्ध के उदाहरण हैं । "*चन्द्रो न शशी चन्द्रत्वात्*" यह लोकप्रसिद्धि विरुद्ध का उदाहरण है । "*गवयशब्दवाच्योऽयं न गोसदृशः गोसदृशत्वात्*" यह उपमान-विरुद्ध का उदाहरण है । "*चैत्रः नभःकुसुमकृतावतंसः चैत्रत्वात्*" इत्यादि अप्रसिद्धविशेषण के उदाहरण हैं । "*गगनकमलं सुगन्धि कमलत्वात्*" यह अप्रसिद्धविशेष्य का उदाहरण है । "*वन्ध्यासुतः खपुष्पकृतशेखरः मनुष्यत्वात्*" यह उभयविरुद्ध का उदाहरण है [५७]।

दृष्टान्ताभासों का भी जयन्त भट्ट ने विस्तार से विवेचन **न्यायमञ्जरी** में किया है। प्रथमतः जयन्त भट्ट साधर्म्य दृष्टान्ताभास का विवेचन भेद सहित करते हैं । बाद में

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास का विवेचन करते हैं । साधर्म्य दृष्टान्ताभास के पाँच भेद जयन्त भट्ट ने स्वीकार किये हैं । इन पाँच में से साध्यविकल , साधनविकल और साध्यसाधनोभय-विकल ये तीन तरह के वस्तुदोषकृत साधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं । अनन्वय और विपरीतान्वय ये दो वचनदोषकृत साधर्म्य दृष्टान्ताभास हैं । "*शब्दो नित्यः अमूर्तत्वात् बुद्धिवत्*" शब्द नित्य है अमूर्त होने के कारण बुद्धि की तरह इस अनुमान में दृष्टान्त बुद्धि में साध्य नित्यत्व नहीं है । इस कारण यह साध्यविकल दृष्टान्त होता है । इसी में अगर हमने बुद्धि की जगह पर परमाणु का दृष्टान्त दे दिया तो यह साधनविकल दृष्टान्त का उदाहरण हो जायेगा क्योंकि परमाणु में साधन अमूर्तत्व नहीं है । परमाणु तो मूर्त होता है । अगर इसी स्थल में हमने घट का दृष्टान्त दे दिया तो यह साध्यसाधनोभयविकल दृष्टान्ताभास होगा । अगर "*गगनं मूर्तं नित्यत्वात्*" इस तरह अनुमान करते हुए अगर यह कहा जाये कि गगन के नित्य होने के कारण उसमें मूर्तत्व है तो इस स्थल में अनन्वय दृष्टान्ताभास होगा । अगर यहीं पर जो अनित्य है वह मूर्त है ऐसा कहा जाये तो विपरीतान्वय होगा । इस रीति से साधर्म्यदृष्टान्ताभास के पाँच भेद हो जाते हैं । वैधर्म्य दृष्टान्ताभास भी पाँच ही हैं साध्याव्यावृत्त ,साधनाव्यावृत्त और साध्यसाधनोभयाव्यावृत्त ये तीन वस्तुदोष हैं । अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये दो वचनदोष हैं । जैसे उपर्युक्त स्थल में ही "*शब्दो नित्यः अमूर्तत्वात् यत्र नित्यत्वं नास्ति तत्र मूर्तत्वमपि नास्ति यथा परमाणुषु*" शब्द नित्य है अमूर्त होने के कारण जहाँ नित्यत्व नहीं है वहाँ मूर्तत्व भी नहीं है जैसे परमाणुओं में । इस तरह से वैधर्म्यदृष्टान्त का प्रयोग करते हुए अनुमान करने पर परमाणुओं में साध्याव्यावृत्त होता है । आप कह रहे हैं कि परमाणुओं में साध्य नहीं है परन्तु परमाणुओं में तो साध्य है । अगर ऐसी स्थिति में बुद्धि का उदाहरण दे दिया जाये तो यह साधनाव्यावृत्त होगा । अगर आकाश का उदाहरण दिया गया तो साध्यसाधनो-भयाव्यावृत्त होगा । अगर हम कहते हैं कि नित्यत्व और अमूर्तत्व घट में नहीं हैं तो यहाँ पर अव्यतिरेक हो जायेगा । वहाँ पर कहना था कि जहाँ पर नित्यत्व भी नहीं है वहाँ पर अमूर्तत्व भी नहीं है । ऐसी स्थिति में अगर हमने कहा कि जहाँ पर अमूर्तत्व नहीं है वहाँ पर नित्यत्व भी नहीं है तो विपरीतव्यतिरेक होगा [५८]।

मणिकण्ठ मिश्र ने "*हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः*" (न्यायसूत्र ५-२-२४) **च** शब्द को अनुक्तसमुच्चयार्थक मानकर उससे दृष्टान्ताभास आदि(दृष्टान्ताभास , तर्काभास और उक्त्याभास) का उपसङ्ग्रह करनेवाले **परिशिष्ट**कार का ज़िक्र किया है । उनका आशय है कि साधनप्रयोग का दुष्टत्व चार प्रकार से सम्भव है—हेतु से जैसे अनैकान्तिकत्व

आदि से , दृष्टान्त से जैसे साधनविकलत्वादि से , तर्क से जैसे आत्माश्रयत्वादि से और उक्ति से जैसे अन्वयित्व उपदर्शित न हो या अन्वयित्व विपरीत रीति से उपदर्शित हो । हेत्वाभास जब कह दिये गये हैं तो जो तीन प्रकार नहीं कहे गये हैं उनको भी चकार से चपद से समझ लेना चाहिए [५९]। परन्तु इस मत का मणिकण्ठ मिश्र ने खण्डन कर दिया है तथा इसी खण्डन से जयन्त भट्ट का मत भी खण्डित हो जाता है । वे कहते हैं कि इनका अन्तर्भाव हेत्वाभासों में नहीं किया जा सकता है क्योंकि दृष्टान्त के साधनविकल होने के कारण हेतु असाधारणसव्यभिचार में नहीं होता है अपितु समस्त सपक्षों से व्यावृत्त होने पर ही असाधारण होता है । अन्यथा अगर कोई "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" इस तरह से अनुमान का प्रयोग करते हुए जो जो धूमवान होता है वह वह्निमान होता है जैसे अयोगोलक , इस तरह से उदाहरण का प्रयोग कर दे तो क्या इससे धूम हेतु असाधारण हो जायेगा ? इस तरह से उदाहरण का प्रयोग करने से हेतु असाधारण नहीं होता है । परन्तु यहाँ पर साधनविकलतारूप दृष्टान्ताभास तो है ही । इसको आप किस हेत्वाभास में अन्तर्भूत करेंगे ? वह्निसाधनार्थ धूम हेतु का प्रयोग करने की स्थिति में कोई भी धूम को हेत्वाभास नहीं मानता है । अन्ततः मणिकण्ठ मिश्र चकार को प्रमाणान्तराभासानुकर्षणार्थ मानते हैं[६०]।

तर्काभास

तर्काभासों का विस्तृत विवेचन **न्यायरत्न** में उपलब्ध होता है । गङ्गेशोपाध्याय ने यद्यपि **तत्त्वचिन्तामणि** में तर्काभासों का विवेचन नहीं किया है परन्तु **तर्कप्रकरण** में एक स्थल में गङ्गेशोपाध्याय तर्काभास की चर्चा करते हैं । वहाँ पर वे कहते हैं कि "*सत्तर्काद् व्याप्तिप्रमा तदाभासात्तदप्रमा विशेषदर्शनसत्यत्वासत्यत्वाभ्यां पुरुषज्ञानमिव*" (पृ.७२४, त. चि. अनुमितिगादाधरी) अर्थात् विशेषदर्शन के सत्य होने की स्थिति में पुरुष का ज्ञान प्रमा होता है और विशेषदर्शन के असत्य होने की स्थिति में पुरुष का ज्ञान अप्रमा होता है उसी तरह से सत्तर्क से प्रमात्मक व्याप्तिज्ञान होता है और असत्तर्क से अप्रमात्मक व्याप्तिज्ञान होता है । तो तर्काभास गङ्गेश को भी स्वीकार्य हैं । परन्तु उन्होंने तर्काभासों का कोई निरूपण नहीं किया है । मणिकण्ठ मिश्र ने तर्काभासों का विवेचन तर्कों के भेदों के आधार पर किया है । आत्माश्रय आदि तर्क जिस तरह से प्रदर्शित किये गये हैं । उनहीं में प्रकार के भेद से तर्काभास हो जाता है । जैसे अभिधेयत्व में भी अभिधेयत्व है । इस कारण आत्माश्रयत्व आ जायेगा । अगर हम ऐसा कहें तो यहाँ पर आत्माश्रयतर्क नहीं होगा अपितु आत्माश्रयतर्काभास होगा । अन्योन्याश्रय दोष

तब आता है जबकि परस्पर एक दूसरे पर दोनों आश्रित हों । अगर व्यक्तिभेद होने पर अन्योन्याश्रय दोष दिखलाया जाये तो अन्योन्याश्रयतर्काभास होता है। जैसे संयोग से घट की उत्पत्ति हो रही है और घट से पुनः संयोग की उत्पत्ति होती है । परन्तु इस कारण यहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं दिखाया जा सकता है क्योंकि घट का उत्पादक संयोग अन्य है और घट का उत्पाद्य संयोग अन्य । दोनों संयोग व्यक्तियों के एक होने पर ही अन्योन्याश्रय दोष होता । इसी तरह से चक्रक में भी व्यक्तिभेद होने पर भी जब दोष प्रदर्शित किया जाये तो चक्रक तर्काभास होता है । अनवस्था वहाँ पर तर्काभास बनती है जहाँ पर कि अनादि हो । जैसे बीज और अङ्कुर की परम्परा अनादि है । इसमें अगर आप अनवस्था दिखायें तो यह तर्काभास का रूप ले लेता है । मणिकण्ठ के अनुसार तर्क के षष्ठ भेद तदितर प्रकार के भी पाँच तरह से आभासत्व हो सकते हैं-प्रशिथिलमूल, विपर्ययापर्यवसित, इष्टापादन, अनुगुण और मिथोविरोध । प्रशिथिलमूल वह तर्काभास होता है जिसमें व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव हो । जैसे "*यदि शब्दोऽनित्यः स्यात् तदा गुणो न स्यात्*" इस तर्क में गुण में नित्यत्व की व्याप्ति नहीं है। यदि साङ्ख्य के प्रति तर्क दिया जाये कि "*यदि घटो नित्यः स्यात् तदा सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषो न स्यात्*" अगर घट नित्य होता तो सामान्यवान होते हुए चाक्षुष नहीं होता । इसमें घट का जैसा अनित्यत्व सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है वैसा अनित्यत्व साङ्ख्यमत में अप्रसिद्ध है । अप्रसिद्धविपर्यय का साधन ही इष्टापादन है जैसे "इदं *तेजःसंयोगि जलं यदि शीतस्पर्शाधिकरणं स्यात् निर्गन्धं स्यात्*" यदि यह जल शीतस्पर्श का अधिकरण होता तो निर्गन्ध होता । इसमें विपर्यय में शीतस्पर्शाधिकरण न होने पर गन्धवाला होना अप्रसिद्ध है । जो सिद्धविपर्यय है उसको अनुगुण तर्काभास कहा जाता है यथा "*हिमं यदि स्नेहानधिकरणं स्यात् शीतस्पर्शानधिकरणं स्यात्*" यहाँ पर विपर्यय में जो साध्य है स्नेहाधिकरणत्व वह वैशेषिक के लिए सिद्ध ही है । इस कारण अगर कोई इस तरह से आपत्ति उठाता है तो यह अनुगुण नामक तर्काभास होता है । जिसका व्यतिरेक प्रतिरुद्ध हो उस तर्क को मिथोविरोध तर्काभास कहा जाता है । जैसे तर्क उपस्थापित किया जाये कि "*यदि शब्दोऽनित्यः स्यात् आकाशैकगुणो न स्यात् यदि शब्दो नित्यः स्यात् सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणग्राह्यो न स्यात्*" अगर शब्द अनित्य होता तो केवल आकाश का गुण नहीं हो सकता है और अगर शब्द नित्य होता तो सामान्यवान् होते हुए बाह्यकरण से ग्राह्य नहीं होता । यहाँ पर दोनों ही निष्कर्षों में विरोध है । इस कारण यह मिथोविरोध तर्काभास होता है । ये समस्त तर्काभास मतानुज्ञा के भेद होते हैं [६१]। यद्यपि मणिकण्ठ

मिश्र द्वारा प्रदर्शित तर्काभास के भेद बहुत विश्वसनीय नहीं हैं क्योंकि इनके द्वारा प्रदर्शित तर्कभेद भी दोषमुक्त नहीं हैं । ऐसा हम कह आये हैं । तथापि तर्काभासों का जैसा वर्गीकरण करने का प्रयास मणिकण्ठ ने किया है , वह न्यायग्रन्थों में अन्यत्र शायद बहुत कम चर्चित है ।

उपाध्याभास

उपाध्याभासों पर **न्यायरत्न** में भी विस्तार से विवेचन किया गया है और **तत्त्वचिन्तामणि** में भी इस पर विस्तार से विचार किया गया है [६२]। उपाध्याभास के मणिकण्ठ मिश्र ने असाधारणविपर्यय, अप्रसिद्धसाध्यविपर्यय, बाधितसाध्यविपर्यय, पक्षाव्यापकविपर्यय, पूर्वसाधनव्यतिरेक, पूर्वसाधनव्याप्यव्यतिरेक, पक्षविपक्षान्यतरान्य, पक्षेतरसाध्याधार और तत्तुल्यजात्यादि इस तरह से नौ भेद किये हैं । गङ्गेशोपाध्याय मणिकण्ठ मिश्र का अनुसरण करते हुए इन्हीं आभासों को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। गङ्गेश के मत में भी ये नौ ही उपाध्याभास होते हैं ।

असाधारण विपर्यय उपाध्याभास उसको कहते हैं जहाँ पर साध्य अन्वयव्यतिरेकी हो और बाध से अनुन्नीतपक्षेतरत्व को उपाधि के रूप में प्रस्तुत किया गया हो । यह उपाध्याभास इस कारण होता है क्योंकि उपाधि का अभाव के समस्तसपक्ष और समस्तविपक्ष से व्यावृत्त होने के कारण उपाधि का अभाव असाधारण हो जाता है । चूँकि पक्ष में रहते हुए भी यह उपाधि साध्याभाव की साधिका नहीं होती है । इस कारण यह उपाधि न होकर उपाध्याभास है । धूम को अयोगोलक में सिद्ध करने के लिए जब हम वह्नि को हेतु बनाते हैं , तो उपाधिभूत आर्द्रेन्धनसंयोग के अयोगोलक में न रहने के कारण आर्द्रेन्धनसंयोग के अभाव के द्वारा धूमाभाव की सिद्धि हम अयोगोलक में कर लेते हैं । परन्तु अगर पक्षेतरत्व को आप उपाधि बनाते हैं तो पक्षेतरत्व का अभाव तो कहीं पर भी पक्ष को छोड़कर है नहीं । इस कारण साध्याभावसाधनार्थ प्रस्तुत पक्षेतरत्वाभाव तो ख़ुद ही असाधारणसव्यभिचार हो जाता है । तो वह किस तरह से साध्याभाव का साधन करेगा? इसी कारण बाधानुन्नीतपक्षेतरत्व को उपाधि नहीं माना जाता है अपितु उपाध्याभास माना जाता है ।

अप्रसिद्धसाध्यविपर्यय उपाध्याभास वहाँ पर होता है जबकि साध्य के केवलान्वयी होने पर आप पक्षेतरत्व को उपाधि बनाना चाह रहे हों । तो यहाँ पर उपाधि के अभाव के द्वारा साध्य का अभाव सिद्ध करना होगा । परन्तु साध्य के केवलान्वयी होने के कारण

साध्य का अभाव ही अप्रसिद्ध होगा । सो आप किस तरह से अप्रसिद्धसाध्यक अनुमिति कर पायेंगे । इसी कारण यह उपाध्याभास कहा जाता है ।

बाधितसाध्यविपर्यय उपाध्याभास वहाँ पर होता है जबकि साध्य का विपर्यय यानी साध्य का अभाव बाधित हो । जैसे "*वह्निरुष्णस्तैजसत्वात्*" इस तरह से अनुमान का प्रयोग करने पर कृतकत्व उपाध्याभास होता है क्योंकि यहाँ पर साध्य का व्यतिरेक होता है अनुष्णत्व, वह तो वह्नि में बाधित है ।

पक्षाव्यापकविपर्यय उपाध्याभास तब होता है अगर उपाधि के रूप में प्रदर्शित का अभाव पक्ष का व्यापक न हो । जैसे "*क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्*" इस तरह का अनुमानप्रयोग करने पर अणुव्यतिरिक्तत्व उपाध्याभास होता है । यहाँ पर व्यतिरेक क्षित्यादि के एकदेश में ही रहता है , आख़िर अणुव्यतिरिक्तत्व अणु में तो नहीं ही रह सकता है । इस कारण यह पक्षाव्यापकविपर्यय उपाध्याभास होता है ।

पूर्वसाधनव्यतिरेक उपाध्याभास तब होता है अगर एक अनुमान का द्वितीय अनुमान से सत्प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया गया हो , और ऐसी स्थिति में सत्प्रतिपक्षानुमान में प्रथमहेतु का व्यतिरेक ही उपाधि के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया हो । जैसे "*क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्*" इस तरह का अनुमानप्रयोग करने पर "*क्षित्यादिकं अकर्तृकं अशरीरिकर्तृकत्वात्*" इस तरह से किसी ने सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग किया । उसमें उपाधि प्रदर्शित की गयी अकार्यत्वात् । तो यहाँ पर पूर्वसाधनकार्यत्व का व्यतिरेक ही उपाधि के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

पूर्वसाधनव्याप्यव्यतिरेक उपाध्याभास तब होता है अगर एक अनुमान का द्वितीय अनुमान से सत्प्रतिपक्ष प्रस्तुत किया गया हो , और ऐसी स्थिति में सत्प्रतिपक्षानुमान में प्रथमहेतुव्याप्य के व्यतिरेक को ही उपाधि के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया हो । जैसे उपर्युक्त स्थल में ही अशरीरिकर्तृकत्व को हेतु बनाकर सत्प्रतिपक्षानुमान प्रस्तुत करने पर नित्यत्वादि को उपाधि के रूप में अगर प्रस्तुत करें तो यह पूर्वसाधनव्याप्यव्यतिरेक उपाध्याभास होता है ।

पक्षविपक्षान्यतरान्य उपाध्याभास कब होता है यह उसके नाम से ही सुस्पष्ट है। जैसे "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर पर्वतह्रदान्यतरत्व को उपाधि बनायें तो यह उपाध्याभास होगा ।

पक्षेतरसाध्याधार उपाध्याभास कब होता है ,यह भी इसके नाम से ही सुस्पष्ट है । जैसे "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर पर्वतेतराग्निमत्त्व को उपाधि बनायें तो यह उपाध्याभास होगा ।

तत्तुल्यजातीय का आशय पक्षेतरसाध्याधार के तुल्य से है । जैसे "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" यहाँ पर पर्वतेतरेन्धनवत्त्व को उपाधि बनायें तो यह उपाध्याभास होगा । यह पक्षेतरसाध्याधार तो नहीं है परन्तु तत्तुल्यजातीय तो है ही । यह उपाध्याभासों का सङ्क्षिप्त निरूपण किया गया है । विशेषतः तो **न्यायरत्न** और **तत्त्वचिन्तामणि** में देखना चाहिए ।

न्यायाभास

न्यायाभास नाम का प्रयोग तो **न्यायभाष्य** में किया गया है । परन्तु उसका तात्पर्य सम्भवतः हेत्वाभास से ही है ऐसा हम कह आये हैं । परन्तु एक अन्य अर्थ में भी न्यायाभास पद का प्रयोग हो सकता है । परार्थानुमान को न्यायप्रयोज्य अनुमान कहा जाता है । इस कारण न्यायप्रयोगों में जो दोष हों उन दोषों को न्यायों का दोष मानते हुए उनको न्यायाभास माना जा सकता है । ऐसी हमारी धारणा है । ऐसी स्थिति में अवयव प्रयोग के जो अनेक दोष प्रतिज्ञाहानि , प्रतिज्ञासंन्यास आदि कहे गये हैं । वे सभी न्यायाभास में अन्तर्भूत हो जायेंगे । मैं यहाँ पर ग्रन्थ के कलेवर के अत्यन्त विस्तृत होने के भय से इस विषय को दिशामात्र देकर छोड़ दे रहा हूँ ।

दूषणाभास

दूषणाभासों का भी कोई जिक्र न्यायवैशेषिक परम्परा में उपलब्ध नहीं होता है । परन्तु हम निग्रहस्थानों में एक निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रहस्थान की चर्चा अवश्य देखते हैं । दोष न रहने पर दोष का उद्भावन ही निरनुयोज्यानुयोग है [६३]। इस कारण इसको दूषणाभास भी कहा जा सकता है ।

नित्यदोष और अनित्यदोष

अनुमान के ये जो भी दोष दिखाये गये हैं । उनमें से कुछेक को नित्यदोष माना जाता है और कुछेक को अनित्यदोष माना जाता है । प्राचीन नैयायिक हेत्वाभासों में असाधारण और सत्प्रतिपक्ष को अनित्यदोष मानते हैं क्योंकि सद्धेतु में भी असाधारण्य और सत्प्रतिपक्षत्व हो सकता है । जैसे "*शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्*" शब्द अनित्य है शब्द होने के कारण यहाँ पर अनुमान के समय शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि न रहने के कारण "*नित्यानित्यव्यावृत्तशब्दत्ववान् शब्दः*" शब्द नित्य और अनित्य से व्यावृत्तशब्दत्ववाला है ऐसा ज्ञान सम्भव है । तो हम पाते हैं कि शब्दत्व में नित्यानित्यव्यावृत्तत्व विद्यमान है। यही उसका असाधारण्य है । बाद में शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो जाने पर

असाधारण्य नहीं रहता है । इसी प्रकार "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*" और "*पर्वतो वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान्*" इस तरह से विरुद्ध परामर्शों के रहने पर न तो वह्नि की और न ही वह्नि के अभाव की अनुमिति होती है । परन्तु इन विरुद्ध परामर्शों में एक की निवृत्ति हो जाने पर दूसरे की अनुमिति हो जाती है । जब यह ज्ञान हो जाता है कि पाषाणमयत्व में वह्न्यभाव की व्याप्ति नहीं है तो "*पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्*" इस परामर्श के द्वारा वह्नि की अनुमिति उत्पन्न होने में कोई भी असुविधा नहीं होती है । तो इस तरह से हम पाते हैं कि असाधारण और सत्प्रतिपक्ष को द्वारा कुछ समय के लिए ही अनुमिति का प्रतिबन्ध होता है। अतः प्राचीननैयायिकों का पक्ष है कि असाधारण्य और सत्प्रतिपक्षत्व को अनित्य दोष मानते हुए उनसे कुछ समय के लिए अनुमिति का प्रतिबन्ध माना जाये ।

गङ्गेशोपाध्याय आदि नव्यनैयायिक इससे सहमत नहीं हैं । वे कहते हैं कि दशाविशेष में हेतुओं में भी असाधारण्य और सत्प्रतिपक्षितत्व का भ्रम होने से केवल अनुमिति का प्रतिबन्ध ही होता है[६४] । इससे हेतु दुष्ट नहीं हो जाता है । जो सद्धेतु है वह कभी भी असद्धेतु नहीं हो सकता है । आशय यह है कि अगर अनित्यत्व की सिद्धि के लिए शब्दत्व को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है तो वह तो सद्धेतु ही है । अगर नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए शब्दत्व को हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है तो वह असद्धेतु होगा । वह असाधारण हेत्वाभास होगा । इसका कारण यह है कि अगर नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए शब्दत्व को हेतु बनाया गया है तो शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो जाने के उपरान्त शब्दत्व साधारणसव्यभिचार में बदल जाता है । इसी कारण नित्यत्वसाधन के लिए प्रस्तुत शब्दत्व हेत्वाभास है । परन्तु अनित्यत्वसाधन के लिए प्रस्तुत शब्दत्व हेत्वाभास नहीं है क्योंकि शब्द में अनित्यत्व का निश्चय हो जाने पर शब्दत्व के सद्धेतुत्व का निर्धारण हो जाता है । इसीलिए नित्यत्वसाधन के लिए प्रस्तुत शब्दत्व दशाविशेष में असाधारण सव्यभिचार रहता है और बाद में साधारण सव्यभिचार में बदल जाता है । यही कारण है जिससे हम असाधारणसव्यभिचार को अनित्यदोष मानते हैं । इसी प्रकार ऊपर प्रदर्शित सत्प्रतिपक्षस्थल में वह्निसाध्यक धूमहेतु सत्प्रतिपक्षित नहीं माना जाता है , वह्न्यभावसाध्यक पाषाणमयत्वहेतु ही सत्प्रतिपक्षित माना जाता है । एक के सद्धेतुत्व का निर्धारण हो जाने पर दूसरा भी सत्प्रतिपक्षित नहीं रह जाता है अपितु बाधित , स्वरूपासिद्ध या व्याप्यत्वासिद्ध में बदल जाता है । इसी कारण सत्प्रतिपक्ष को और असाधारण को अनित्यदोष कहा गया है । अगर प्राचीन नैयायिकों की रीति से

नित्यदोष और अनित्यदोष का विभाग किया जाये तो सद्धेतु में भी भ्रमात्मक बाधज्ञान होने पर उसको भी कोई दोष मानना आवश्यक हो जायेगा । आख़िर जब आप भ्रमात्मक सत्प्रतिपक्ष के कारण सद्धेतु को दूषित मानते हैं तो भ्रमात्मक बाधज्ञान ने क्या अपराध किया है जो आप उसके आधार पर दुष्टत्वव्यवहार नहीं करते हैं? तुल्ययुक्ति से भ्रमात्मक बाधज्ञान से भी सद्धेतु को दुष्ट मानना पड़ेगा । ऐसी परिस्थिति में हेत्वाभासों के आधिक्य की आपत्ति आने लगेगी[५५]।

सन्दर्भसूची

१.किं पुनर्हेतुभिः अहेतूनां सामान्यम् ,येन हेतुवदाभासन्त इति ? प्रतिज्ञानन्तरं प्रयोगः सामान्यम् यथैव हेतवः प्रतिज्ञानन्तरं प्रयुज्यन्ते एवं हेत्वाभासा अपीत्येतत् सामान्यम् ।

पृ.६३१ , न्यायवार्तिक

२.साधकासाधकत्वं तु विशेषः । हेतोः साधकत्वं धर्मः , असाधकत्वं हेत्वाभासस्य । किं पुनस्तत् ? समस्तलक्षणोपपत्तिः , समस्तलक्षणोपपत्तिश्च । तत्रैव

३.प्रतिबन्धश्च पञ्चलक्षणक इत्येकैकलक्षणाभावकृतहेत्वाभासपञ्चकनिर्देशादेव सूचितवानाचार्यः । पृ.६० , न्यायमञ्जरी

४.यस्य तु हेतोर्धर्मिणि वृत्तिर्भवन्त्यपि साध्यधर्मप्रयुक्ता न भवति सोऽन्यथासिद्धो यथा अनित्याः मनःपरमाणवो मूर्तत्वात् घटवदिति । पृ.१३८ ,न्यायमञ्जरी

५.ननु पञ्चानां प्रतिबन्धलक्षणानां कतमदस्य श्लथीभूतम् ? नान्यतमस्यापि शैथिल्यं ब्रूमः । तत्किं पञ्चस्वपि लक्षणेषु प्रतिबन्धः समाप्यते ? तानि चासां सन्त्येव न चैष प्रतिबन्ध इति कैतवम् । पृ.१३८,न्यायमञ्जरी

६.सपक्षे वृत्तिविच्छेदस्तु विपर्ययसिद्धौ प्रयोजक इति सत्यामपि विपक्षवृत्तौ सपक्षवृत्तिविच्छेदनिबन्धनमेवास्य विरुद्धत्वमुच्यते । विपक्षादप्रच्युतः स्वसाध्यमेव न साधयेत् सपक्षे त्ववर्तमानोऽसौ विपरीतमपि साधयतीति तल्लक्षणापायकृतमेवास्य विरुद्धत्वमाचक्षते ।

पृ.१२८ ,न्यायमञ्जरी

७.उच्यते प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनधर्मयोर्धूमाग्निवत् प्रतिबन्धोऽवधार्यते । स चात्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो नास्तीत्यत एवायमन्यथासिद्धोऽप्रयोजक इति कथ्यते ।

पृ.१३८ ,न्यायमञ्जरी

८.विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ।। पृ.४८० , प्रशस्तपादभाष्य

९.तत्तदनुमितिकारणीभूततृतीयलिङ्गपरामर्शप्रमात्वनिरूपकव्याप्तिपक्षधर्मतावैशिष्ट्यव्यतिरेक

एव हेत्वाभासत्वम् । पृ.१६१ ,न्यायरत्न

१०.उपधेयसङ्करेऽप्युपाधेरसङ्करात् । पृ.१८५२ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

११.तत्रानुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानविषयत्वं यद्विषयकत्वेन लिङ्गज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं ज्ञायमानं सदनुमितिप्रतिबन्धकं यत् तत्त्वं वा हेत्वाभासत्वम् ।

पृ.१५८० , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

१२.लिङ्गमविवक्षितम् । पृ.१५९० , त. चि. दीधिति(अनुमितिगादाधरी)

१३.यथाश्रुतमिदं हेतुदोषाणां लक्षणम् , तद्वत्त्वञ्च दुष्टहेतूनाम् । पृ.१५८० , तत्रैव

१४.सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः । न्यायसूत्र १.२.४

१५.एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामपदेशत्वमुक्तं भवति । तत्रासिद्धश्चतुर्विधः उभयासिद्धः , अन्यतरासिद्धः , तद्भावासिद्धः , अनुमेयासिद्धश्चेति ।

पृ.५७६–५७७, प्रशस्तपादभाष्य

१६.कियता पुनर्भेदेनायं हेतुहेत्वाभासः प्रसृत इति ? कालपुरुषवस्तुभेदानुविधानेन अपरिसङ्ख्येयः । सामान्यतः साध्यवस्तूपग्रहेण हेतुहेत्वाभासभेदः प्रपञ्च्यमानः षट्सप्ततिशतम् ।

पृ.६३१ , न्यायवार्तिक

१७. त एते हेतवो हेत्वाभासाश्चासङ्कीर्णविशेषणविशेष्यभेदेन द्वे शते द्वात्रिंशके ।

पृ.६३६ , तत्रैव

१८.उभयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं तत्त्वम्। पृ.१६८५ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

१९.सव्यभिचारोऽपि त्रिविधः–साधारणासाधारणानुसंहारिभेदात् ।

पृ.१६३७ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२०.उच्यते विपक्षवृत्तित्वं साधारणत्वम् । पृ.१७०५ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२१.लक्षणन्तु सर्वसपक्षव्यावृत्तत्वम् । पृ.१७२८ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२२.यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरासिद्धोऽनध्यवसायहेतुत्वादनध्यवसितः । पृ. ५९३ , प्रशस्तपादभाष्य

२३.व्याप्तिग्रहानुकूलैकधर्म्युपसंहाराभावो यत्र स हेत्वभिमतोऽनुपसंहारी ।

पृ.१७४७ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२४.केवलान्वयिधर्मावच्छिन्नपक्षको वा । पृ.१७४८ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२५.सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादिति सद्धेतौ न केवलान्वयी पक्षतावच्छेदकः निश्चितसाध्यवद्वृत्तित्वात् । विप्रतिपत्त्या साध्यानिश्चयदशायां पक्षत्वे तदनुपसंहार्येव ।

पृ.१७४८ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२६.अनुपसंहारी तु व्याप्यत्वासिद्ध एवान्तर्भवति साक्षाद्दूषणत्वाभावात् । पृ. १६५ , न्यायरत्न

२७.साध्यव्यापकाभावप्रतियोगित्वं विरुद्धत्वम् । पृ.१७७६ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२८.अथ साध्यहेत्वोर्विरोधे पक्षे साध्यसत्त्वे हेत्वसिद्धिः , हेतुसत्त्वे साध्याभावसिद्धौ बाधः ।
पृ.१७७३ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

२९. हेतोः पक्षे साध्याभावबाधानुपस्थापनेऽपि प्रथमोपस्थितविरोधस्यैवोपजीव्यत्वेन दोषत्वात्
पृ.१७७३ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

३०.साध्यविरोध्युपस्थापनसमर्थसमानबलोपस्थित्या प्रतिरुद्धकार्यलिङ्गत्वं तत्त्वम् ।
पृ.१७८७ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

३१.तद्धर्मिकबाधनिश्चयो लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधी ।
पृ.३३८ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिबन्धकत्वं लाघवात् ..। पृ.३३३–३३४ ,तत्रैव

३२.रत्नकोषकारस्तु –सत्प्रतिपक्षाभ्यां प्रत्येकं स्वसाध्यानुमितिः संशयरूपा जन्यते , विरुद्धोभयसामग्र्याः संशयजनकत्वात् , संशयद्वाराऽस्य दूषकत्वम् ।
पृ.१८०४ , त. चि. (अनुमितिगादाधरी)

३३.अधिकबलतया बाधेन प्रतिबन्धात् तुल्यबलादनुमितिः स्यादेव, सामग्रीसत्त्वात् । साध्याभावबोधस्य च प्रतिबन्धकत्वं न तु तद्बोधकस्य नयनादेः । तत्रैव

३४.प्रत्येकं निर्णायकत्वेनावधारितात् कथं संशय इति चेन्न, प्रत्येकाद्धि ज्ञानमुत्पद्यमानमर्थात् संशयो न तु प्रत्येकं संशयजनकत्वमिति । तत्रैव

३५.साध्यतदभावयोर्विरोधेन यथैकज्ञानस्यापरधीप्रतिबन्धकत्वं तथा साध्याभावव्याप्यवत्त्वस्यापि साध्यविरोधित्वात् तद्बुद्धेरपि साध्यधीप्रतिबन्धकत्वात् , विरोधिज्ञानत्वस्य प्रतिबन्धकत्वे तन्त्रत्वात् । तत्रैव

३६.द्रष्टव्य–सत्प्रतिपक्षप्रकरण (जागदीशी और गादाधरी)

३७.आश्रयासिद्धिः स्वरूपासिद्धिः व्याप्यत्वासिद्धिश्च प्रत्येकमेव दोषः–प्रत्येकस्य ज्ञानादनुमितिप्रतिबन्धात् । पृ. १८५२ , तत्रैव

३८.परामर्शविषयाभावत्वेनानुगतेन त्रयाणामसिद्धत्वेन सङ्ग्रहो महर्षिणा कृत इति न विभागविरोधो हेत्वाभासाधिक्यं वा । तत्रैव

३९.न चैवं साक्षात्प्रतिबन्धकत्वेन बाधप्रतिरोधयोर्व्याप्तिविरहलिङ्गत्वेन सव्यभिचारविरुद्धयोरपि सङ्ग्रहे विभागव्याघातः , स्वतन्त्राभिप्रायस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् । तत्रैव

४०.आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः । पृ. ३३४ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
४१.स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः । तत्रैव
४२.पृ. १८०-१८२ , न्यायरत्न
४३.साध्याप्रसिद्ध्यादयस्तु व्याप्यत्वासिद्धिमध्येऽन्तर्भूताः । पृ.३३५, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
४४.बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः । पृ.३३६, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
४५.न च बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचारः पक्षे हेत्वभावे स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यम् , बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात् । किञ्च यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्करत्वात् बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ,एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छेदेन घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम् ।
पृ.३४४, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
४६.उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति ।
४७.यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोऽप्रयोजकः । स च द्विविधः , शङ्कितोपाधिर्निश्चितोपाधिश्च
पृ.३८९ , न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
४८.साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा ।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ।। कारिकावली का.१३८
४९.अत्रोच्यते यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं स उपाधिः ।
पृ.९५२, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
लक्ष्यतावच्छेदकमाह-*यद्व्यभिचारित्वेनेति* । पृ.९५२, त.चि.दीधिति(अनुमितिगादाधरी)
५०.लक्षणन्तु पर्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् । यद्धर्मावच्छेदेन साध्यं प्रसिद्धं तदवच्छिन्नं पर्यवसितं साध्यम् । पृ.९७१, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
५१.स च धर्मः क्वचित् साधनमेव क्वचित् द्रव्यत्वादि ,क्वचित् महानसत्वादि ।
पृ.९८९, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
५२.सोऽयमुपाधिस्त्रिविधः केवलसाध्यव्यापकः पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति । पृ.८१, तर्कसङ्ग्रह पदकृत्य
५३.न हि साध्यव्यापकाव्याप्यत्वमुपाधित्वमनुमितिविरोधि, किन्तु व्यभिचारोन्नयनेन स्वव्यतिरेकेण सत्प्रतिपक्षतया वा । पृ.१९६७, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
५४.नाप्यस्य व्यतिरेकद्वारा सत्प्रतिपक्षत्वेन दूषकत्वम् , तदा हि सत्प्रतिपक्षे सत्प्रतिपक्षान्तरवदुपाधेरुद्भावनं न स्यात् । पृ.१०५९, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)
५५.न हि साध्यज्ञानं तद्बुद्धिविरोधि धारावाहिकज्ञानोदयात् । नाप्यनुमितिविरोधि अनुमित्सया

प्रत्यक्षसिद्धेऽप्यनुमानदर्शनात् ।　　　　　पृ.१११६, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

५६.ये चैते प्रत्यक्षविरुद्धत्वादयः पक्षदोषाः , ये च वक्ष्यमाणाः साधनविकलत्वादयो दृष्टान्तदोषास्ते वस्तुस्थित्या सर्वे हेतुदोषा एव , प्रपञ्चमात्रं तु पक्षदृष्टान्तदोषवर्णनम् ।...

अत एव च शास्त्रेऽस्मिन् मुनिना तत्त्वदर्शिना ।

पक्षाभासादयो नोक्ता हेत्वाभासास्तु दर्शिताः ।। पृ.८८, न्यायमञ्जरी

५७.पृ. ८८-८९, न्यायमञ्जरी

५८.पृ. ९८-९९, न्यायमञ्जरी

५९.अत्र परिशिष्टम्-*हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः* इति सूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । विरोधादिनिग्रहस्थानोत्तीर्णस्य हि साधनप्रयोगस्य चतुर्धा दुष्टत्वं भवति । हेतुतो यथा-अनैकान्तिकत्वादि । दृष्टान्ततो यथा-साधनविकलत्वादि । तर्कतो यथा-आत्माश्रयत्वादि । उक्तितो यथा-अनुपदर्शितान्वयित्वं विपरीतोपदर्शितान्वयित्वं वा । तत्र प्रथमदशायामुपात्ताया-मनुक्तत्रयमपि निग्रहस्थानत्वेन व्यवहर्तव्यमिति त्रयमपि चकारार्थः । पृ.२४४-२४५, न्यायरत्न

६०.न हि साधनविकलतामात्रेण हेतुरसाधारणो भवति , किन्तु सकलसपक्षव्यावृत्त्या । अन्यथा धूमादेरपि तथात्वप्रसङ्गः । तत्रापि यदा दृष्टान्तत्वेनायोगोलकोऽभ्युपगम्यते तदा भवत्येव साधनविकलता , न त्वसाधारण्यम् । तस्मात् प्रमाणान्तराभासानुकर्षणार्थश्चकार इत्यवगन्तव्यम्　　　　　पृ. २४५ , न्यायरत्न

६१.द्रष्टव्य-पृ.३९-४१ , न्यायरत्न

६२.द्रष्टव्य-पृ.१०५-१०८ , न्यायरत्न और पृ.१०७२-१०७३ , त.चि. (अनुमितगादाधरी)

६३.अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः । न्यायसूत्र ५.२.२२

६४.दशाविशेषे हेत्वोरेवासाधारणसत्प्रतिपक्षयोराभासत्वम् तद्बुद्धेरप्याभासत्वात् ।

पृ. १६२४, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

६५.अत एवासाधारणप्रकरणसमयोरनित्यदोषत्वमन्यथा सद्धेतौ बाधादिज्ञाने हेत्वाभासत्वापत्तिः

पृ. १६६१, त.चि.(अनुमितिगादाधरी)

***

सन्दर्भग्रन्थसूची

१.कारिकावली (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) विश्वनाथभट्टाचार्य,(महादेवकृत दिनकरी और रामरुद्र भट्टाचार्यकृत रामरुद्रीसहित) चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९८२

२.केवलान्वयिप्रकरण, गङ्गेशोपाध्याय, रघुनाथशिरोमणिकृत दीधिति, जगदीशभट्टाचार्य कृत जागदीशी, केशवद्विवेदीकृत नारायणी,शक्तिटीकासहित सम्पादक-केशवद्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास,वाराणसी संवत्–२०१२

३.गादाधरी (अनुमितिगादाधरी)[१] तत्त्वचिन्तामणि,दीधितिगर्भिता, सम्पादक-विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी व वामाचरण भट्टाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९१८

४.जागदीशी,जगदीश तर्कालङ्कार , सम्पादक सोमनाथ भट्टाचार्य,चौ.सं.सी.आ.१९०८

५.तत्त्वचिन्तामणि,गङ्गेशोपाध्याय,(अनुमानखण्ड-१)रुचिदत्तमिश्रकृत प्रकाश व धर्मराजाध्वरि कृत तर्कचूडामणिसहित, सम्पादक-एन.एस.आर.ताताचार्य, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ,तिरुपति १९८२

६.तत्त्वचिन्तामणि,गङ्गेशोपाध्याय,मथुरानाथकृत रहस्यसहित,(६खण्ड)सम्पादक-कामाख्यानाथ तर्कवागीश कलकत्ता

७.तत्त्वचिन्तामणिप्रभा , (अनुमानखण्ड) यज्ञपत्युपाध्याय , सम्पादक-गोपिकामोहन भट्टाचार्य वियना, १९८४

८.तर्कभाषा , केशवमिश्र ,चिदानन्दीसहित , सम्पादक-सुरेन्द्रनाथ शास्त्री , भारतीयविद्याप्रकाशन , वाराणसी १९९७

९.तर्कसङ्ग्रह , अन्नम्भट्ट , गोवर्धनकृतन्यायबोधिनी ,चन्द्रजसिंहकृतपदकृत्य , गुरुप्रसादशास्त्रीकृत बालमनोरमा व परीक्षासहित , सम्पादक-गुरुप्रसादशास्त्री , भार्गवपुस्तकालय , वाराणसी १९५०

१०.न्यायकुसुमाञ्जलि , उदयनाचार्य ,शङ्करमिश्रकृत आमोद ,गुणानन्दविद्यावागीशकृत विवेक ,वरदराज कृत बोधिनी ,हरिहरकृपालुकृत परिमल ,सम्पादक महाप्रभुलालगोस्वामी ,मिथिलाविद्यापीठ,दरभङ्गा , १९७२

११.न्यायचतुर्ग्रन्थिकायुतन्यायदर्शन , गोतमकृत न्यायसूत्र ,वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य , उद्योतकरकृत न्यायवार्तिक , वाचस्पतिमिश्रकृत तात्पर्यटीका ,उदयनाचार्यकृत तात्पर्यपरिशुद्धि , सम्पादक-अनन्त लाल ठाकुर , मिथिला विद्यापीठ ,१९६७

१२.न्यायतत्त्वालोक , वाचस्पतिमिश्रद्वितीय ,सम्पादक-किशोरनाथ झा , गङ्गानाथझा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ , इलाहाबाद , १९९२

१३.न्यायदर्शन , गोतम ,वात्स्यायनकृत न्यायभाष्य , सच्चिदानन्दमिश्रकृत सुनन्दाहिन्दीव्याख्यासहित , भारतीयविद्याप्रकाशन , वाराणसी १९९९

१४.न्यायमञ्जरी , जयन्तभट्ट ,चक्रधरकृतग्रन्थिभङ्गसहित , (तीन खण्डों में)सम्पादक–गौरीनाथ शास्त्री , सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय ,वाराणसी , १९८२

१५.न्यायलीलावती ,वल्लभाचार्य ,शङ्करमिश्रकृत कण्ठाभरण ,वर्धमानोपाध्यायकृत प्रकाश ,भगीरथ

ठक्कुर कृत विवृति ,सम्पादक-दुण्ढिराजशास्त्री ,चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९३४

१६.न्यायसिद्धान्तदीप ; शशधर ,गुणरत्नकृत टिप्पणसहित , सम्पादक-बिमलकृष्ण मतिलाल ,एल, डी. इन्स्टीट्यूट , अहमदाबाद,१९७६

१७.न्यायसिद्धान्तमञ्जरी , जानकीनाथ

१८.पाणिनीय अष्टाध्यायी , पाणिनि

१९.प्रमाणवार्तिक,धर्मकीर्ति ,मनोरथनन्दिकृतवृत्तिसहित ,सम्पादक-द्वारिकादास शास्त्री ,बौद्धभारती ,वाराणसी १९९४

२०.प्रशस्तपादभाष्य , प्रशस्तपाद ,श्रीधरकृत न्यायकन्दली ,दुर्गाधर झा कृत हिन्दीव्याख्यासहित , सम्पादक-दुर्गाधर झा , सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय ,वाराणसी , १९७७

२१.व्युत्पत्तिवाद , गदाधरभट्टाचार्य ,डॉ.सच्चिदानन्द मिश्रकृत सुनन्दाहिन्दीव्याख्या सहित ,सम्पादक -डॉ.सच्चिदानन्द मिश्र ,भारतीयविद्याप्रकाशन , वाराणसी २००१

२२.शब्दशक्तिप्रकाशिका , जगदीशतर्कालङ्कार ,कृष्णकान्तविद्यावागीशकृत कृष्णकान्ती , रामभद्र सार्वभौमकृत सुबोधिनी (रामभद्री)सहिता ,सम्पादक-दुण्ढिराजशास्त्री ,चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९७३

२३.सर्वदर्शनसङ्ग्रह,माधवाचार्य ,उमाशङ्कर शर्मा ऋषिकृत हिन्दी व्याख्यासहित ,चौखम्भा विद्या भवन ,वाराणसी १९९७

२४.History of Navyanyaya in Mithila, D.C. Bhattacharya,Mithila Research Institute.Darbhanga,1987

१.इस पुस्तक में सामान्यतया त.चि. व त.चि.दीधिति के समस्त उद्धरण इसी ग्रन्थ से लिए गये हैं ।
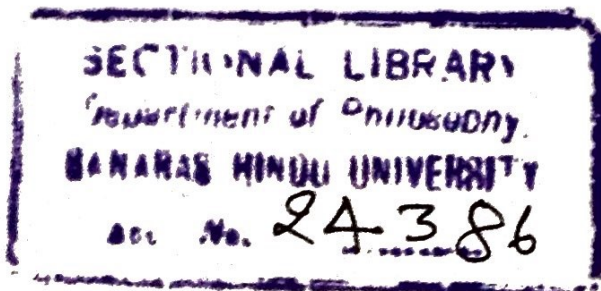
पुस्तकपरिचय

दर्शनसम्प्रदाय में अनुमान का महत्त्व सर्वविदित है । भारतीय दर्शनों में चार्वाक को छोड़कर कोई भी दर्शन अनुमान के प्रामाण्य का निराकरण करने में अपने को सक्षम नहीं पाता है । चार्वाक भी कुछ अंशों में अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार ही करते हैं । भारतीय दर्शनों में अनुमान का महत्त्व प्रश्नों से परे है । परन्तु न्यायवैशेषिकसम्प्रदाय ने अनुमान को जो स्थान दिया है , कोई और दर्शन अनुमान को वह स्थान नहीं दे पाया है। व्यवहार में हम कहते हैं कि *प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्* प्रत्यक्ष में किस प्रमाण की आवश्यकता है ? परन्तु नैयायिक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी अनुमान पर निर्भर मानता है। परन्तु अनुमान का प्रामाण्य उस तरह से प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं है । अनुमान की इसी प्रधानता के कारण ही इस अनुमानप्रधान न्यायदर्शन को अन्वीक्षा नाम से जाना जाता है ।

अनुमानप्रधान न्यायदर्शनाभिमत अनुमान का समुचित और प्रामाणिक विवेचन करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है । यद्यपि न्यायवैशेषिक परम्परा के प्रारम्भिक ग्रन्थों में भी अनुमान का विवेचन किया गया है और उस विवेचन से अध्यंता लाभान्वित भी होते हैं । परन्तु **तर्कसङ्ग्रह** आदि प्रारम्भिक ग्रन्थों में अनुमान का विवेचन अत्यन्त सङ्क्षिप्त है और **जागदीशी , गादाधरी** आदि ग्रन्थों में अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है । इतिहास गवाह है कि नव्यन्याय का इतिहास ही वैचारिक विकास का इतिहास रहा है । उदयन के बाद से नव्यन्याय के विकास की जो धारा प्रारम्भ हुई , उसमें पुराने और अपरिष्कृत निष्कर्षों के लिए कोई स्थान नहीं था । अनेक सिद्धान्त इस कारण परिष्कृत हो चुके हैं। हालाँकि अनुमानसम्बन्धी सारे ही सिद्धान्तों को सुपरिष्कृत तरीके से सामने ला पाने के लिए यह पुस्तक बहुत छोटी है । परन्तु लेखक ने अनुमानसम्बन्धी सारे ही सिद्धान्तों को सुपरिष्कृत तरीके से सामने लाने की कोशिश अवश्य की है । इससे नवीन दृष्टि से सोचने की प्रेरणा अनेक विषयों पर प्राप्त होगी।

भारतीय विद्या प्रकाशन

प्रकाशक एवं वितरक

1–यू.बी., जवाहर नगर, बंग्लो रोड़,

दिल्ली–110007

फोन : 011–23851570

ISBN 81-217-0192-

9788121701921

मूल्य : 350/–